श्रीमद्भगवद्गीता ।

स्वामी सत्यदेव सरस्वती रचित पद्य गद्यात्मक भाषानुवाद सहित

श्री कृष्ण उपदेशोद्यान

जिसको

माथुर कायस्थ वंशीय जयपुर राजकीय डाकखानोके खजानची

अनन्य श्री गोविन्द प्रेमानुरागी लाला वृद्धिचन्द्र ने

लोकोपकारार्थ निज व्यय से मुद्रित कराके

प्रकाशित किया ।

बालचन्द्र यन्त्रालय, जयपुर

प्रति १००० } चैत्र वि० सं० १९८८ { इस पुस्तक की मुख्य न्यौछावर श्री कृष्णचन्द्र चरणकमलानुरागही समझें

॥ ॐ ॥

भूमिका ।

श्रीमद्भगवद्गीता को वेद, स्मृति, पुराणादि सब शास्त्रों का सार समझना चाहिये क्योंकि परम दयालु भगवान श्री कृष्णचन्द्रने मनुष्य मात्र के कल्याण होने के उद्देश्य से ही भारतयुद्ध के समय मोह वश स्वधर्म से विचलित अर्जुन को उपदेश करके उसके अज्ञान को नष्ट किया। इस से कभी कोई ऐसा न समझे कि भगवान ने केवल निज भक्त अर्जुन के लिये ही गीतोपदेश किया किन्तु भगवान जगन्नियन्ता होने के कारण संसार भर पर समानुरूप से दया दृष्टि रखता हुआ सर्वत्र साक्षी रूप से विद्यमान है बस समझना चाहिये कि अर्जुन तो केवल निमित्त मात्र था वास्तव में गीतोपदेश मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ ही भगवान ने किया अतएव मनुष्य मात्र गीता के अधिकारी अवश्य हैं परन्तु गीतोपदेश से लाभ यथाधिकार ही होता है अर्थात कर्म, योग, ज्ञान और उपासना इन सब का गीता में स्वरूप वर्णन किया गया है जिज्ञासु श्रद्धा पूर्वक जिस मार्ग का अनुसरण करेगा अवश्य सफलता प्राप्त होगी। जिसने गीता को आश्रय बनाया वह अवश्य संसार से पार हुआ। उस को अन्य शास्त्रोपदेश की आवश्यकता नहीं होती। अतः व्यास भगवान ने स्पष्ट कहदिया।

श्लोक—गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुख पद्माद्विनिः सृताः ॥

श्री गीतोपदेश भगवान श्री कृष्णचन्द्र के मुखारविन्द द्वारा प्रकट होने से संसार भर में गीता शास्त्र ही सर्वश्रेष्ठ सर्व मान्य सर्व शास्त्रोपक्षया शिरोधार्य है। गीता को तत्ववेत्ता प्राणाधिक मानते हैं। गीता का आशय अति गम्भीर होने से साधारण जनों के समझ में नहीं आ सकता। जिज्ञासु गीतोपदेश के तत्वको समझने के लिये लालायित रहते हैं परन्तु संस्कृतज्ञ न होने के कारण पाठ मात्र से सन्तुष्ट न होते हुए गीता का

तत्व जानने की हार्दिक इच्छा उनकी बनी रहती है। इस हेतु भगवान अन्तरयामी ने उनकी इच्छा पूर्ण करने के लिये ही स्वामी सत्यदेव सरस्वती पूर्व नाम मौजीराम शर्म्मा अध्यापक खंडेलवाल स्कूल आगरा के हृदय में गीता के भाषानुवाद करने की प्रेरणा की बस भगवत् आज्ञा से प्रेरित होकर स्वामीजी अहर्निश गीता की सेवा में समय बिताने लगे। गीता के अनेक प्राचीन टीकाओं को उत्तम प्रकार से विचार कर प्रत्येक श्लोक के अर्थ प्रथम तो पद्य में फिर सारांश भाषा में लिखा, इसी प्रकार से गीता १८ अध्याय के सारांश का लेख ५ वर्ष में समाप्त हुआ संस्कृत न जानने परभी नागरी पढने वाले भी गीतोपदेश को हृदय में रख कर कल्याण का मार्ग जान सकते हैं। इसी उद्देश्य से स्वामीजी ने असाधारण परिश्रम किया। ये सब स्यामसुन्दर की कृपा का ही कारण है अनुवाद करना तो दूर है भगवत् कृपा विना गीता का मुख से नाम भी नहीं निकल सकता। इसके अनन्तर स्वामीजी के चित्त में संकल्प हुआ कि पुस्तक छपकर प्रचार न हुआ तो हमारा परिश्रम व्यर्थ होगा परन्तु हम धन हीन दीन साधु भिक्षुक होने परभी निश्चय रखते हैं। कि जिस भक्त वत्सल व्रज विहारी की प्रेरणा ने मुझ तुच्छ बुद्धि द्वारा अथाह गीता शास्त्र का अनुवाद कराया उसी पर मुद्रण व प्रचार का भार समझ कर सानुवाद गीता भगवद् अर्पण करके निश्चिन्त हुआ। थोडे समय वाद सनातनधर्मी महाराजाओं की मुख्य राजधानी जयपुर में आना हुआ। कुछ दिन वाद ही श्री नन्दलाल के अनन्य प्रेमानुरागी ब्राह्मण-साधु सेवी माथुर कायस्थ वंशीय राजकीय डाकखाने के खजानची लाला वृद्धिचन्द्रजी से भेट हुई। लालाजी ने सादर नित्य भिक्ष्या के लिये आग्रह किया जबतक ठहरना हो। लालाजी के धार्मिक विचार व उदारता से सन्तुष्ट होकर स्वामीजी ने प्रतिदिन भिक्षा करना स्वीकार किया—इस प्रकार लाला जी से परिचय व सद्भाव होने के कारण श्री गीताजी के मुद्रण की आवश्यकता लालाजी के हृदय में अङ्कित होकर लालाजी ने सहर्ष निज व्यय से एक हजार पुस्तक छपवाना स्वीकार करके वी. सी. प्रेस को आर्डर दे दिया और छपाई के लिये कागजों का खुद ने प्रबन्ध करदिया। विचार

किया जावे तो लालाजी के द्वारा गीतोपदेश का मुद्रण केवल भगवत् प्रेरणा से ही हुआ है। इसके सिवाय लालाजी येभी समझते हैं कि "कीर्ति रत्तर सम्बद्धा स्थिरा भवति भूतले" जबतक संसार में यह पुस्तक रहेगी—लाला जी की धर्मिष्ठता व उदारता का यश प्रकाशित रहेगा।

लेखक—

खेतड़ी व उनियारा के राजगुरु

पण्डित बालचन्द्र शास्त्री, जयपुर

धन्यवाद !

इस पुस्तक के छपवाने तथा छापने का जो परिश्रम सनातनधर्म के स्तम्भ, पंण्डित बालचन्द्रजी शास्त्री ने किया जिन्हों ने स्वनाम धन्य लाला बृद्धिचन्द्रजी जयपुर राजकीय डाकखाने के खजानची से पुस्तक छपवाने के लिये रुपया दिलाकर मुझे अनुगृहीत किया है. तदर्थ उन्हें सहर्ष कोटिशः धन्यवाद है।

लेखक—

सत्यदेव सरस्वती

श्री भगवद्गीता-ध्यान ।

गीते ! तुम्हारे ज्ञानकी अव्यक्त महिमा को अहा !
रणक्षेत्र में श्रीकृष्ण ने स्वयमेव अर्जुन से कहा ।
जिन साधनों की सिद्धि से था पार्थ को सत्पथ दिखा,
भगवान वेदव्यास ने उसपर महाभारत लिखा ॥१॥

अध्याय अष्टादश सुखद करते दुखों से मुक्त हैं,
अद्वैत-अमृत-वारिधर से वे सदा ही युक्त हैं ।
हो मातु सम हित पूर्ण कहते मोक्ष का कारण तुम्हें,
अतएव मैं निज शुद्ध मनसे कर रहा धारण तुम्हें ॥२॥

हे विज्ञ वेदव्यास ! तुम को बार बार प्रणाम है,
शुभ ज्ञान-दीपक को जलाकर श्रम किया निष्काम है ।
हे भक्त कल्पद्रुम ? तुम्हें भी है प्रणाम जगत्पते,
तुमने किया है व्यक्त गीतामृत महामायापते ॥३॥

सब उपनिषद हैं धेनु के ही तुल्य दोग्धा श्याम हैं,
पय-पान करते वत्स अर्जुन के सदृश सुखधाम हैं ।
हैं भक्त जो अन्तःकरण से नित्य धरते ध्यान हैं,
करते वही गीता-सुधा का प्रेम से नित पान हैं ॥४॥

वसुदेव-नन्दन ! आपकी करता प्रभो ! मैं वन्दना,
चाणूर-केसी-कंस आदिक दैत्य-गण तुमने हना ।
था देवकी को आपने आनन्द से गद गद किया,
हे जगद्-गुरु ! कल्याण का उपदेश तुमने था दिया॥५॥

दुर्जय धनुर्धर भीष्म द्रोणाचार्य जिसके कूल हैं,
जिसका जयद्रथ सलिल-शल्य-ग्राह अति दुखमूल हैं ।
कृप की कृपा से वेग जिसमें कर्ण-रूपी वेलि है,
अरु द्रोण-सुवन, विकर्ण आदिक मकर करते केलि हैं ।

बढ़ते सुयोधन से प्रबल हैं चक्र जिसमें रोष से,
कुरु-तनय सरसिज से जिसे करते कलंकित दोष से ।
उस समर-सरिता पारकर्त्ता-कृष्ण ही केवट बने,
सुख से तरे पाण्डव विजय पा शान्ति युत सुषमा सने ७

कलि-मल हरण भारत कमल मुनि व्यास-वाणी सर उगे,
बहु वार्ता-उपदेश अरु गीतार्थ-परिमल से पगे ।
बुध जन भ्रमर इव नित्य ही करते सुधारस पान हैं,
कितना किया उपकार देकर विश्व को सद्ज्ञान हैं ८

जिनकी कृपा से मूक भी बनते अहो वाचाल हैं,
अति सहज ही में पंगु होते पार गिरि सु विशाल हैं ।
करते सदा सम्भव असम्भव साध्य क्यों न असाध्य हो,
हे हे जनार्दन ! नौमि शत शत तुम जगत आराध्य हो ९

जिनकी सदाही वन्दना करते वरुण अनुरक्त हो,
धरते सदा सुर ध्यान विधि सनकादि ईश विरक्त हो ।
नित मरुत, रुद्र, सुरेन्द्र करते सुयश का शुभ ज्ञान हैं,
उनको प्रणाम अनेक जिनका सिद्ध धरते ध्यान हैं १०

श्री गुरु वन्दना ।

ज्ञानानन्द मयं देवं, निर्मल स्फटिकाकृतिं ।
आधारं सर्व विद्यानां हयग्रीव मुपास्महे ॥
गुरुवे सर्व लोकानां भिषजे भव रोगिणां ।
निधये सर्व विद्यानां दक्षिणा मूर्त्तये नमः ॥
वन्दे गुरुणां चरणारविन्दं संदर्शितस्वात्म सुखाम्बुधीनां ।
जनस्यय त्जांगलिकायमानं संसार हालाहल मोह शांत्यै ॥

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

आनन्दमानन्द करं प्रसन्नं ज्ञान स्वरूपं निजबोधयुक्तं ।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्य महं नमामि ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परंब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता मंगलाचरणम् ।

पार्थाय प्रति बोधितां भगवता नारायणे न स्वयं,
व्यासेनग्रथितां पुराण मुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणी भगवतीमष्टादशाध्यायिनी,
मम्बत्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।१।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः २

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञान मुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ३

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ४

वसुदेव सुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ५

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला,
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी,
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैरणनदी कैवर्त्तकः केशवः ६

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं,
नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा,
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ७

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ८

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्तिदिव्यैः स्तवै,
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ९

बर्हापीडाभिरामं मृगमदतिलकं कुण्डलाक्रान्तगण्डं ।
कञ्जाक्षंकम्बुकण्ठंविकसितवदनं सादरन्यस्तु वेणुं १०

श्यामं शान्तं त्रिभङ्गंसदरुणवदनं भूषितंवैजयन्त्या ।
वन्दे वृन्दावनस्थं युवतिशतवृतं ब्रह्मगोपालवेषं ; ११

वंशी विभूषित कराञ्चवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुण बिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दु सुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात्परं किमपि तत्व महं न जाने १२

॥ इति श्री मद्भगवद्गीता मंगल ध्यानादि ॥

लाला वृद्धिचन्द्र जी कोषाध्यक्ष
पत्रालय विभाग जैपुर स्टेट ।

स्वामी सत्यदेव सरस्वती
लेखक श्रीकृष्ण उपदेशोद्यान।

भारत गो हितैषी प्रेस पहाड़ी धीरज देहली ।

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

हिन्दीपद्यानुवादसहित

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच —

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

सञ्जय उवाच —

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुप संगम्य राजावचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

(धृ. उ.)
भाषा पद्य—युद्धेच्छु मम-सुत-पाण्डवों ने क्या किया, सञ्जय! कहो ।
कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र में सेना सहित एकत्र हो ॥ १ ॥

(सं. उ.)—राजन्! बनाकर व्यूह सेना पाण्डवों की थी खड़ी ।
आचार्य से जाकर सुयोधन ने कहा यों उस घड़ी ॥ २ ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोले कि हे सञ्जय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकठे हुए युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ॥ १ ॥ तब सञ्जय कहने लगा कि हे राजन् ! दुर्योधन पाण्डव-सेना की व्यूह रचना देखकर द्रोणाचार्य के पास गया और यह बोला ॥ २ ॥

भावार्थ—सञ्जय राजा धृतराष्ट्र का सारथी व व्यासजी का शिष्य था, राजा अन्धे होने के कारण युद्धक्षेत्र में नहीं गया, सञ्जय भी उन ही के साथ राजधानी में रहगया। राजा युद्ध का हाल जानना चाहते थे, इस लिये महर्षि व्यासजी ने अपने तपोबल से सञ्जय को ऐसी शक्ति दी, कि वह राजधानी में बैठा हुआ युद्ध का हाल प्रत्यक्ष देखता और सुनता था, और राजा को कहता रहता था।

उपरोक्त पद में राजा धृतराष्ट्र ने जान-पूछ कर (कि मेरे और पाण्डु के पुत्र युद्ध की इच्छा से युद्ध-क्षेत्र में गये हैं ऐसी हालत में उनका सञ्जय से यह पूछना कि उन्हों ने वहां 'क्या किया', ठीक नहीं जान पड़ता। उन्हें यह पूछना था कि उन्हों ने युद्ध में क्या किया था कैसे युद्ध का आरम्भ हुआ, इत्यादि ऐसे प्रश्न न करके उन्हों ने) एक उल्टी बात पूछी। इस से जान पड़ता है कि राजा के मस्तिष्क में राग द्वेष चक्कर मार रहे थे।

उन की यह इच्छा थी कि पाण्डव धर्मात्मा होने के कारण युद्ध की हानियाँ विचार कर न लड़े और राज्य मेरे पुत्रों के अधिकार में रहे। साथ ही उन्हें यह भी सन्देह था कि धर्मक्षेत्र के प्रभाव से मेरे पुत्रों का अन्तःकरण कहीं शुद्ध न होजाय और वे अपना कपट से कमाया हुआ राज्य पाण्डवों को वापिस न करदें। क्योंकि पाण्डवों का युद्ध से विरक्त होजाना उन्हें पसन्द था परन्तु अपने पुत्रों द्वारा राज्य का वापिस कर-देना पसन्द न था इसीसे उन्हों ने सञ्जय से ऐसा "ऊँट-पटांग" प्रश्न किया। सञ्जय बुद्धिमान था ? वह अन्धे राजा के मनकी बात ताड़ गया और उसने निष्पक्ष भाव से युद्ध का समाचार सुनाना आरम्भ किया।

राजन् ! जिस समय महाराज दुर्योधन पाण्डवों की सेना को युद्ध के नियमानुसार युद्ध-क्षेत्र में अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित देख कर मन में घबड़ा कर मन के भाव मन ही में छिपा कर गुरू के पास गया । इस लिये कि उस के मन में सन्देह था कि कहीं गुरु द्रोणाचार्य पाण्डवों के प्रेम के मारे उन में न जा मिलें । वह गुरू को अपने पक्ष में दृढ़ करने तथा पाण्डवों पर उन का क्रोध उत्पन्न कराने और बहकाने के लिये ही उन के पास गया । उस के दिल में गुरू द्रोण और पितामह भीष्म की ओर से शङ्का थी इसी लिये वह छल-कपट से युक्त राग द्वेष की बातें करने लगा ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुन समा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

(२)

भा. प०—आचार्य देखो ? पाण्डु पुत्रों की प्रबल सेना घनी ।
जिस की अलौकिक व्यूह रचना द्रुपद-सुत द्वारा बनी॥३॥
योधा अनेकों हैं धनुर्धर भीम अर्जुन सम यहां ।
सात्यकि विराट महारथी त्यों द्रुपद किस से कम कहां॥४॥

अर्थ—हे आचार्य ? आप के शिष्य बुद्धिमान द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डु-पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये ॥ ३ ॥ इस सेना में बड़े बड़े धनुष वाले युद्ध में भीम और अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं । जैसे सात्यकि तथा विराट और महारथी राजा द्रुपद ॥ ४ ॥

भावार्थ—दुर्योधन जोश दिलाने वाली बातें छल और कपट से भरी हुई गुरु द्रोणाचार्य से कहने लगा कि महाराज ज़रा आँख खोल कर देखिये तो सही, आप के बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्न ने इस व्यूह की रचना की है जो आप के वैरी द्रुपद का पुत्र है [किसी समय गुरु द्रोण और महाराज द्रुपद में बड़ी गाढ़ी मित्रता थी जब राजा द्रुपद राज्य-पद पर आसीन हुए तब एक समय गुरु द्रोणाचार्य राजा द्रुपद से मिलने आये। राजा ने राज-मद से अन्धे होकर इन का अपमान किया, गुरु द्रोण ने राजा को परास्त किया और उसी समय से इन में वैर होगया। राजा ने इन से बदला लेने के लिये बलवान पुत्र के हेतु तप किया। उसी के फल-स्वरूप द्रोणाचार्य के मारने वाला यह पुत्र मिला] इस बात को याद दिलाते हुए दुर्योधन कहने लगा कि महाराज खेद का विषय है कि आप ही का शिष्य आप को कुछ न समझ कर आप का सामना करने पर तत्पर हुआ है। आप ने वैरी के पुत्र को युद्ध विद्या सिखा कर अपना अपमान कराया, आप का इसे युद्ध-विद्या सिखाना सांप को दूध पिलाने के समान हुआ। अस्तु, अब आप अपना पुराना वैर याद करके ऐसी व्यूह रचना कीजिये कि पाण्डवों की व्यूह रचना आप की व्यूह-रचना के सामने कोई चीज़ न रहे। किन्तु इस से पहले एक बार आप अपने शत्रु के शूरवीरों को एक दृष्टि देख जाइये। क्योंकि इस शत्रु सेना में एक धृष्टद्युम्न ही चतुर चालाक योधा नहीं है तथा धृष्टद्युम्न के अतिरिक्त सात्यकि विराट द्रुपद आदि सन्नद्ध योधाओं में प्रत्येक महारथी भीम और अर्जुन के समान लड़ने वाले हैं। जैसे कि:—

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्य्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

(३)

भा. प.–बलवान काशीराज कुन्तीभोज हैं पुरजित तथा।
त्यों चेकितान प्रसिद्ध है भट शैब्य के बल की कथा ॥ ५ ॥

हैं उत्तमौजा ओजशाली विक्रमी युधमन्यु भी।
त्यों द्रौपदेय महारथी नरसिंह वह अभिमन्यु भी ॥ ६ ॥

(४)

देखो खड़े हैं द्रौपदी के पुत्र पांचों भी यहां।
जितने प्रसिद्ध महारथी हैं समरहित संस्थित यहां ॥ ६ ॥

द्विजश्रेष्ठ सुनिये ध्यान दे निज ओर जो बलधाम है।
उन मुख्य सेना नायकों के ये प्रसिद्ध सुनाम है ॥ ७ ॥

अर्थ—धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान काशिराज, पुरजित, कुन्तीभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य। ५। और पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्र यह सब ही महारथी हैं। ६। हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! हमारे पक्ष में भी जो प्रधान हैं उन को आप समझलीजिये। आप के जानने के लिये मेरी सेना के जो जो सेनापति हैं उन को कहता हूं। ७।

भावार्थ—महाराज इन योधाओं के अतिरिक्त घटोत्कच आदि और भी अनेक बलवान योधा उपस्थित हैं। पाण्डवों का नाम लेने की तो आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वह तो त्रैलोक प्रसिद्ध हैं। और ये तो मैंने ऐसे योधाओं के नाम गिनाये हैं जो प्रत्येक अकेला ही

दस दस हजार योधाओं से लड़सकता है। रथी और अर्धरथी की तो गिन्ती ही नहीं।

गुरुजी महाराज ? मेरे कहने की तो आवश्यकता नहीं थी किन्तु समय देख कर कहना पड़ता है। कि आप इन पराक्रमी शत्रुओं की उपेक्षा न कीजिये, इन को कम न समझिये। ये वडे प्रभावशाली शत्रु हैं। आप इन को पराजित करने के यत्नों में से कोई भी न राखिये। एक वात और भी है, कि कहीं आप ये न समझें कि मैं पाण्डवसेना को देख कर डर गया हूं। डरने की कोई वात नहीं है। अपनी सेना में भी बड़े बड़े बलवान योधा मौजूद हैं।

दुर्योधन के मन में कैसे कैसे विचार उठते हैं मन में सोचने लगा कि द्रोण और भीष्म पाण्डवों को बहुत चाहते हैं और अन्दर से पाण्डवों की जय के अभिलाषी हैं। किन्तु मेरा अन्न खाते हैं इस लिये मेरी ओर से लड़ने को तैयार हैं। इस लिये दुर्योधन को इन्हीं की ओर से खटका था। इस कारण गुरु के लिये "द्विजोत्तम" कुछ कर शब्द उच्चारण करते हुए वड़ी चतुराई से कहने लगा कि आप शत्रु-सेना के बलवान सेनापतियों के नाम सुन कर मन में कुछ और वात न समझिये। हमारी ओर के दो एक सेनापति पाण्डवों से प्रीति रखते हैं। अगर वे लोग पाण्डवों में जा भी मिलें तो मेरा कोई नुकसान नहीं है। मेरी सेना में भी अधिक बलवान युद्ध-विद्या-विशारद् अनुभवी सेनापति और असंख्य योधा हैं। मेरी सेना का कोई सेनापति और योधा आप से छिपा नहीं है। तथापि आप का ध्यान विशेष रूप से दिलाने को मैं अपने शूर सेनापतियों में से चन्द सर्व श्रेष्ठ प्रसिद्ध २ योधाओं के नाम आप को सुनाता हूं, सुनिये।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिस्तथैवच ॥ ८ ॥

अन्येच बहवः शूरा मदर्थे त्यक्त जीविताः ।
नाना शस्त्र प्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः ॥ ६ ॥

(५)

आ. प.–हैं आप, भीष्म विकर्ण कर्ण अजेय जितने शूर हैं ।
तवपुत्र अरु भूरिश्रवा जो शूर अति बलपूर हैं ॥ ८ ॥
ये सब तथा अन्यान्य जितने शूर हैं यह जानिये ।
प्रस्तुत सभी हैं युद्ध करने को कहा सच मानिये ॥

(६)

सब युद्ध-विद्या की कलाओं में कुशल ये वीर हैं ।
हैं निपुण शस्त्र प्रहार में विकराल इन के तीर हैं ॥
आचार्य्य ! ये सैनिक हमारे धीर अति गम्भीर हैं ।
हटते नहीं रण-क्षेत्र से सब वीर हैं रण-धीर हैं ॥ ९ ॥

अर्थ—मेरी सेना में आप हैं, भीष्म हैं, कर्ण हैं, संग्रामविजयी कृपाचार्य्य और वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण, और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा तथा और भी बहुत से शूरवीर अस्त्र शस्त्रों से युक्त मेरे लिये जीवन की आशा को त्यागने वाले सब के सब युद्ध में चतुर हैं ।

भावार्थ—दुर्योधन मतलब की खुशामद उपरोक्त श्लोक में किस चतुरता से दिखाता है । द्रोणाचार्य्य को प्रसन्न करने के लिये सब से पहले द्रोणाचार्य्य का नाम लेकर फिर अपने भाई विकर्ण से पहले उन के पुत्र अश्वत्थामा का नाम लिया क्या ही मतलब की खुशामद है ।

गुरुजी महाराज ? आप यह न समझिये कि मेरी ओर भीष्म कर्ण, कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा आदि योधा ही हैं। ये तो मैंने मुख्य २ योधाओं के नाम गिनाये हैं। इन के अतिरिक्त मेरी ओर और भी शल्य, भगदत्त आदि भयङ्कर कर्म करने वाले अनेक योधा हैं। इन सबने मेरी जय के लिये अपने जीवन की भी आशा छोड़ दी है, मेरे सैनिक और सेनापति पाण्डवों के सैनिक और सैनापतियों से किसी बात में कम नहीं है। बल्कि कितनी ही बातों में उन से अधिक हैं, सभी मेरे अनन्य भक्त और मेरे लिये जान देने के लिये तैयार हैं। इस के सिवा मेरी सेना ग्यारह अक्षौहिणी और शत्रु-सेना सात ही अक्षौहिणी है। परन्तु—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

(७)

भा. प.—यदि यूथ-पति हैं भीष्म सैना भी प्रबल मेरी महा।
फिर भी समर्थ न जान पड़ती शोक एवं है अहा ॥
वह पाण्डवों की क्षुद्र सैना दीखती पर्याप्त है।
यूथ-नायक भीम भी बल-युक्त रण में व्याप्त है ॥ १० ॥

अर्थ—तौ भी भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सैना समर्थ नहीं जान-पड़ती, और पाण्डव-सेना भीम द्वारा रक्षित होने से समर्थ जान पड़ती है। १०।

भावार्थ—महाराज गुरुजी ? हमारी सैना के रक्षक प्रधान सेनापति भीष्म-पितामह हैं। और पितामह वृद्ध, अनुभवी, और सु-चतुर हैं। इस से तो ज्ञात होता है कि हमारी सैना शत्रु-सेना

से बलवान है । क्योंकि भीमसेन यद्यपि जवान और बलवान है तथापि युद्ध विद्या में निरा गँवार है । फिर भी यदि मुझे कुछ कम-ज़ोरी जान पड़ती है, तो भीष्म की ओर से ही जान पड़ती है । क्योंकि वह बूढ़े हैं इस लिये अपनी दृष्टि सब ओर न रख सकेंगे । ऐसा न हो कि शत्रु उन्हें धरदबावें और अपना सब खेल चौपट होजाय । इस के सिवा भीष्म पाण्डवों से आन्तरिक स्नेह भी रखते हैं । इस से मुझे खटका है कि वह कहीं मेरी सेना को न कटवादें ।१०। इस लिये

अयनेषु च सर्वेषु यथा भागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥
तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखंदध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

(८)

भा.प.–मिल कर सभी चहुं ओर से तुम भीष्म का रक्षण करो।
हे सैनिको! कर्त्तव्य पर सर्वस्व अब अर्पण करो ॥ ११ ॥
तब वृद्ध कौरव भीष्मनें कर सिंह गर्जन शीघ्र हो ।
ऐसे बजाई दुन्दुभी कम्पित हुई सारी मही ॥ १२ ॥

अर्थ—इस लिये आप सभी सेनापति सेना के भिन्न २ विभागों में अपनी २ जगह यानी मोर्चों पर डटकर सब ओर से भीष्म की ही रक्षा करें ।११। दुर्योधन के प्रसन्न करने के लिये तब कुरुवंश के वृद्ध प्रतापी भीष्म पितामह नें सिंह के समान गरज कर अपना शंख बजा दिया ।१२।

भावार्थ—भीष्मपितामह दुर्योधन को द्रोणाचार्य से बातें करते

हुए देख कर उस के व्यंग वचनों को ताड़ गये, कि राजा के मन में हमारी ओर से खटका है। इस लिये उन्हों ने विचार लिया कि दुनियां चाहे बुरा कहे या भला, हमें दुर्योधन के लिये लड़ना है। और यह शरीर छोड़ना ही पड़ेगा, इस से अब विलम्ब करना व्यर्थ है। सिंह गर्जन कर अपना शंख बजा दिया। पुनः—

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

(६)

भा.प.—सुन शंख-रव गम्भीर दुर्योधन महा हर्षित हुआ ।
बजने लगे बाजे सभी का जोश था वर्धित हुआ ॥ १३ ॥
बैठे महारथ में तुरत थे श्वेत हय जिस में जुरे ।
श्रीकृष्ण पाण्डव शंख-रव करने लगे रण बांकुरे ॥ १४ ॥

अर्थ—तब शंख, भेरी, मृदङ्ग, नगाड़े, रणसिंहे आदि अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे, इन का भारी कोलाहलकारी शब्द हुआ। १३। इस के बाद सफ़ेद घोड़ों के रथ में बैठे हुए माधव और पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने भी अपने अपने अलौकिक शङ्ख बजाये। १४।

भावार्थ—सञ्जयनें धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन्! बूढे पितामह भीष्मनें अपनें पूर्व निश्चयानुसार, अनिच्छा होते हुये भी अपना शङ्ख ज़ोर शोर से बजा दिया। प्रधान-सेनापति का शङ्ख बजते ही

अन्यान्य सेनापतियों के शंख और सेना के भेरी, मृदङ्ग, नगाड़े आदि लड़ाई के बाजे बजने लगे । हे राजन् ! जब आप की सेनाके बाजे बज चुके, तब पाण्डव सैना की ओर से संसार के हर्ता, कर्ता, विधाता सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द व्रजचन्द नें भी अपना शङ्ख बजाया, और इस के बाद अर्जुन नें भी अपना अलौकिक शङ्ख बजाया ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

(१०)

भा.प.—श्री कृष्ण लेकर पाञ्चजन्य सुदेवदत्त को पार्थ ले ।
लेकर वृकोदर भीम भी निज पौंड्र फूंकत कर-मले ॥ १५ ॥
राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय लियाथा हाथ में ।
अरु घोष मणिपुष्पक नकुल सहदेव के थे साथ में ॥ १६ ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण महाराज नें पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया और अर्जुन नें देवदत्त नामक शंख और भयानक कर्म वाले भीमसेन नें पौंड्र नामक महा शंख बजाया । १५ । उसी समय कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठर नें अनन्तविजय नामक शङ्ख और नकुल तथा सहदेव नें सुघोष और मणिपुष्पक नाम वाले शङ्ख बजाये । १६ ।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के शङ्ख का नाम पाञ्चजन्य है । एक समय पाञ्चजन्य नामक दैत्य को समुद्र में मारा और पेट में यह शङ्ख निकला इस लिये इस का नाम पांचजन्य पड़ा ।

देवदत्त-यह अर्जुन के शङ्ख का नाम है क्योंकि यह शङ्ख देवताओं से अर्जुन को मिला था।

वृकोदर नाम भीमसेन का है। भीमसेन का यह नाम इस लिये पड़ा कि वह बैल की भांति बहुत खाता और पचा लेता था इसलिये बैल के से पेट वाला वृकोदर कहा जाता है।

सञ्जय बड़ा चतुर था धृतराष्ट्र को कैसी गूढ़ बातें कह कर युद्ध का समाचार समझा रहा है। जिस समय युद्ध होनेवाला था उस समय युधिष्ठर के हाथ में एक गांव अथवा बीघे भर जमीन भी नथी। परन्तु वे धर्मात्मा थे, राज्य के सच्चे मालिक थे, उन्हों ने सब देशों को जीत कर राजसूय यज्ञ किया था। इसी लिये सञ्जय नें उनके अर्थात् युधिष्ठर के लिये "राजा" शब्द का प्रयोग किया और अन्धे राजा को यह दिखाया कि वह धर्मराज के वरदान से पैदा हुए कुन्ती के प्रभावशाली पुत्र हैं, जय उन के साथ है राजा पद के सच्चे अधिकारी वही हैं और अन्त में उन्हीं की जीत होगी।

काश्यश्च परमेश्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

(११)

भा.प.-थे काशिराज महाधनुर्धर, थे शिखण्डी वीर भी।
थे धृष्टद्युम्न विराट सात्यकि, थे अजेय सुधीर भी ॥ १७ ॥
थे द्रुपद, सब सुत द्रौपदी के अरु सुभद्रा सुत सभी।
धृतराष्ट्र! निज निज शङ्ख फूंके साथ ही सब ने तभी ॥ १८ ॥

अर्थ—महा धनुर्धर काशी के राजा, महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न, किसी से हार न मानने वाला सात्यकि, राजा द्रुपद द्रौपदी के पांचों पुत्र तथा महाबाहु अभिमन्यु इन सबने हे पृथ्वीनाथ ! अपने अपने शङ्ख बजाये ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽव्यनुनादयन् ॥ १६ ॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

(१२)

भा.प.—सुनि तुमल ध्वनि आकाश पृथ्वी भी हुई कम्पित महा
सुनि कौरवों का भी कलेजा तुरत फट जाना चहा ॥ १६ ॥
यों युद्ध हित तैयार सारे कौरवों को देख कर ।
आता समय है निकट शस्त्र प्रहार का यह लेख कर ॥ २० ॥

अर्थ—बड़े बड़े शङ्खों की उस आवाज़ ने आकाश और पृथ्वी में गूंज कर धृतराष्ट्र के पुत्रों के कलेजे फार डाले । १६ । हे पृथ्वीनाथ जब अर्जुन ने देखा कि कौरव सब तरह से लड़ने को तैयार खड़े हैं और हथियार चलाना ही चाहते हैं । २० ।

भावार्थ—जब युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव आदि और भी महारथियों ने अपने अपने शङ्ख बजाये, उस समय आप की ओर के शङ्खों की आवाज़ सुन कर पाण्डव सेना जैसी की तैसी खड़ी रही । परन्तु पाण्डव सेनापतियों के शङ्खों की आवाज़ से आप के पुत्रों के हृदय फट गये । इस से हे राजन् ! आप की सेना की कमज़ोरी दीख पड़ती है ।

पुनः हे राजन् ! जिस पाण्डव-सेना में देश-विदेश को जीत कर धन लाने वाले, अपने युद्ध से महादेव को सन्तुष्ट करने वाले, अग्निदेव से मिले हुए सफेद घोड़ों के रथ में बैठने-वाले कृष्ण के मित्र अर्जुन हैं। जिस सेना में भयानक भयानक कर्म करने वाले बलवान भीमसेन हैं। जिस सेना में जय-रूप फल के भागी धर्मराज के वरदान से पैदा हुए कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर हैं। जिस सेना में दश दश हज़ार योधाओं के साथ लड़ने वाले शिखण्डी और सुचतुर धृष्टद्युम्न हैं। और जिस सेना में किसी से भी कभी न हारने वाले सात्यकि और कृष्ण के भाजे, सुभद्रा और अर्जुन के बेटे महाबाहु अभिमन्यु हैं। और सब से ऊपर जिस सेना के रक्षक स्वयं हृषीकेश भगवान श्रीकृष्ण हैं और उन्हों ने ही पहले शंख का श्रीगणेश किया है भला उस सेना से तुम्हारे पुत्रोंकी सेना हे राजन् ! कैसे विजय लाभ करेगी।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योधव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

(१३)

भा.प.—धृतराष्ट्र ! अर्जुन ने कहा श्रीकृष्ण से यों तड़फड़ा ।
अच्युत ! सुरथ मम उभय सेना बीच ला करदो खड़ा ॥२१॥
इस मध्य में मैं देखलूं रण की जिन्हें है कामना ।
करना विकट संग्राम में जिनसे मुझे है सामना ॥ २२ ॥

अर्थ—हे अच्युत ! दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा करो। मैं अच्छी तरह देखना चाहता हूं कि कौन कौन

मुझ से युद्ध करना चाहते हैं। और किन किन के साथ मुझे युद्ध करना उचित है। २१। २२।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

(१४)

भा.प.–कैसे सुयोधन के समर में आज बचते प्राण हैं।
खो सत्यपथ दुर्बुद्धि का जो चाहते कल्याण हैं ॥
उन को जरा मैं देखलू वे शूर हैं कैसे बली।
होगी मचानी बीच उन के खूब मुझको हलचली ॥ २३ ॥

अर्थ—मैं उन्हें अच्छी तरह देखना चाहता हूं जो धृतराष्ट्र के कुबुद्धि पुत्र दुर्योधन की भलाई की इच्छा से युद्ध करने के लिये इस समरक्षेत्र में आये हैं।

भावार्थ—हे धृतराष्ट्र ! अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि हे अविनाशी ! हे निर्विकार ! आप मेरे रथ को ऐसे स्थान पर दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये जहां से मैं अच्छी तरह देख सकूं कि कौन कौन लड़ने आये हैं और मुझे किन किन से लड़ना चाहिये यह सब देखा भाली करने की आवश्यकता इस लिये हुई कि यह लड़ाई सम्बन्धी-सम्बन्धियों की है। इस में कोई हमारा मामा है, कोई चाचा है, कोई गुरु है, कोई भाई है और कोई मित्र है, । अगर यह लड़ाई आपस वालों की न होती, तो मैं आप से ऐसा नहीं कहता। और मुझे वहां चलकर देखना ही क्या था ? मुझे शत्रु से लड़ना ही था; किन्तु यहां तो बात और ही है। मुझे आशा नहीं कि जिन्हों ने दुर्बुद्धि दुर्योधन का साथ दिया है, जो दुर्योधन को जिताने की इच्छा से लड़ने को आये हैं और इसी में दुर्योधन की

भलाई समझते हैं, आपस में मेल करादेंगे । मैं तो केवल लड़ने वालों को एक दृष्टि देखना चाहता हूं । रही यह बात, कि वह स्थान निस्सन्देह एक दुर्घटना-स्थल है; परन्तु आप के लिये कहीं जोखिम नहीं है, आप को कहीं भय नहीं है, क्यों कि आप अविनाशी हैं इस भूमण्डल ही में क्या त्रिलोकी में भी आप का कोई सामना करने वाला नहीं है । हां एक बात और है, कि मैंने दास हो कर जो स्वामी की भांति आप को आज्ञासी दी है उस के लिये आप मुझे क्षमा करेंगे । मैं जानता हूं कि आप अच्युत-निर्विकार हैं क्रोध आदि विकार आप से कोसों दूर भागते हैं ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

(१५)

भा.प.-धृतराष्ट्र ! सञ्जय ने कहा जब पार्थ ने ऐसा कहा ।
तब कृष्ण रथ लाये वहां देखा कहां क्या होरहा ॥ २४ ॥
फिर भीष्म द्रोण अनेक नृप को देख माधव ने कहा ।
"अर्जुन ! जरा तब देख कौरव दल जहां है जुटरहा ॥ २५ ॥

अर्थ—तब सञ्जय ने कहा हे भारत ! (गुडाकेश) गुडाका+ईश-गुडाका=नींद-ईश=स्वामी=गुडाकेश=नींदको जीतने वाले अर्जुन के ऐसा कहने पर, कृष्णभगवान ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करके, भीष्म, द्रोण और अनेक राजाओं के सामने अर्जुन से कहा हे पार्थ ! इन कौरवों के जमघट को देखले ।

भावार्थ—सर्वेश्वर कृष्ण, अर्जुन की स्वामी के समान आज्ञा सुन कर तनिक भी कुपित न हुये, क्यों कि वह तो सदा स भक्तों के आधीन हैं। उन्हों ने शीघ्र ही रथ लेजा कर खड़ा कर दिये, जहां स्वयं भीष्म, द्रोण और अन्यान्य राजा-महाराजा उपस्थित थे। उन्हें किस का भय था ? जो अलौकिक रथ स्वयं अग्निदेव ने अर्जुन को दिया था, जिस रथ की ध्वजा पर हनुमानजी विराजमान थे, जिस रथ में त्रैलोक्य-विजयी महा धनुर्धर अर्जुन बैठने वाले थे, जिस रथ के हांकने वाले सर्व शक्तिमान श्रीकृष्ण भगवान थे भला ? उस रथ की गति को कौन रोक सकता था।

जब रथ भीष्म, द्रोण तथा अन्यान्य राजाओं के सामने खड़ा होगया; तब कृष्ण भगवान ने, अर्जुन के मन की ताड़ कर उस को हंसी करके कहा। हे शोक-मोह में सदा डूबी रहने वाली माता पृथा-कुन्ती-के पुत्र ! तेरे ढंग से जान पड़ता है, कि तुझे शोक और मोह ने घर दबाया है अब तू लड़ना नहीं चाहता। मेरी समझ में नहीं आता, कि तू यहां क्यों आया है। अस्तु, अब आ तो गया हो, ले देखले, कौरव लोग किस तरह लड़ने को इकट्ठे हुये हैं। उस समय अर्जुन क्या देखता हुआ ?

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

(१६)

भा.प.–गुरु वृद्ध सुत आचार्य को जब पार्थ ने देखा वहां ।
विस्मित हुआ, लड़ना मुझे होगा इन्हीं से क्या यहां ॥२६॥

प्रिय बान्धवों को देखते ही फिर गई बुधि भिन्न हो। २७।
छाई प्रबल करुणा, तुरत कहने लगा अति खिन्न हो॥

अर्थ—पृथा पुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए पिता के भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा। इस प्रकार उन खड़े हुए सम्पूर्ण बान्धवों को देख कर वह अत्यन्त करुणा से युक्त कुन्ती पुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला। २६। २७।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के यह कहने पर कि "हे अर्जुन! इन कौरवों के जमघट को देखले" अर्जुन ने शत्रु सेना पर दृष्टी डाली तो उस को चारों ओर भूरिश्रवा आदि चाचा, भीष्म आदि दादा, शल्य शकुनि आदि मामा, दुर्योधन दुशासन आदि भाई, अश्वत्थामा आदि मित्र और पुत्र पौत्र दिखाई दिये। और अपनी सेना में भी उसे भाई साले सुसुरे बेटे और पोते आदि ही नज़र पड़े। उन को देख कर अर्जुन की क्या हालत हुई, और किस तरह नैराश्य पूर्ण शब्द कहने लगा।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

(१७)

भा.प.—"प्रिय देख स्वजनों को यहां जो युद्ध के हित हैं खड़े । २८।
हैं शिथिल मेरे गात्र होते होंठ मुंह सूखे पड़े ॥
रोमाञ्च भी होता तथा सारा बदन है कँप रहा । २९।
गाण्डीव भी अब हाथ से नीचे चला जाता अहा ॥

(१८)

सर्वत्र ही इस देह में है दाह अतिशय होरहा ।
मैं रह नहीं सकता खड़ा मन खारहा चक्कर महा ॥ ३० ॥
केशव ! सभी विपरीत लक्षण देखता हूँ मैं यहां ।
निज बान्धवों को मार कर कल्याण होता है कहां ॥ ३१ ॥

अर्थ—"हे कृष्ण ! युद्ध करनें की इच्छा से खड़े हुए इन अपनें भाई बन्धों को देख कर मेरे अंग प्रत्यंग ढीले पड़े जाते हैं । मेरा मुंह सूखा जाता है, मेरा शरीर कांपता है और मेरे रोएें खड़े होरहे हैं । २८ । २९ । तथा हाथ से गाण्डीव धनुष गिरता है मेरा सारा शरीर जला जाता है मुझ में खड़े रहने की शक्ति नहीं है, मेरा मन चक्कर खारहा है । ३० । और हे केशव ! लक्षणों को भि विपरीत देखता हूँ तथा युद्ध में मैं अपने कुल को मार कर कल्याण भी नहीं देखता । ३१ ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
तइमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

(१९)

भा.प.-मैं चाहता नहीं विजय-सुख या राजश्री यह सुखदा ।
गोविन्द ! किसके पास रहती चञ्चला थिर हो सदा ॥ ३२ ॥
मैं चाहता था राज्य-सुख-सम्पत्ति सब जिस के लिये ।
वे प्राण की तजि आश हैं प्रस्तुत यहां रण के लिये ॥ ३३ ॥

अर्थ—मुझे जय की आवश्यकता नहीं, हे कृष्ण ! मुझे राज्य की भी ज़रूरत नहीं, मुझे सुख भोगने की इच्छा नहीं, हे गोविन्द ! राज्य, सुख, भोग और जीवन से क्या लाभ होगा । जिन के लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं—वे तो धन और प्राण की बाजी लगाकर यहां मरने मारने को खड़े हैं । ३२ । ३३ ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

(२०)

भा.प.-आचार्य बूढ़े श्वसुर, साले, मित्र, मामा हैं खड़े ।
सुत, पौत्र तक भी शस्त्र ले रण-क्षेत्र में सम्मुख अड़े ॥ ३४ ॥
है तुच्छ ही त्रैलोक्य तक का राज्य भी इन के मरे ।
भू-लोक-हित फिर युद्ध कर मारूं इन्हें कैसे हरे ! ॥ ३५ ॥

अर्थ—ये हमारे गुरु, पिता, पुत्र, दादा, मामा, ससुर, साले, पोते और सम्बन्धी हैं । हे मधुसूदन ! ये चाहे मुझे

मार डालें पर मैं तो इन्हें तीन लोक का राज्य मिलने पर भी नहीं मारना चाहता फिर इस पृथ्वी का राज्य क्या चीज़ है । ३४ । ३५ ।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

(२१)

भा.प.—हित-सिद्ध होगी कौनसी जब स्वजन मारे जायंगे ।
ये आततायी हैं यदपि, पर पाप ही हम पायंगे ॥ ३६ ॥
इस हेतु इन प्रिय बान्धवों को मारना समुचित नहीं ।
माधव ! सुखी हम मार कर इनको भला होंगे कहीं ॥ ३७ ॥

अर्थ—हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर हमें क्या सुख मिलेगा इन महा अधर्मियों को मारने से हमें पाप ही लगेगा । इस वास्ते अपने भाई बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्रों का मारना हमें उचित नहीं । हे माधव ! भला अपने ही आदमियों को मार कर हम कैसे सुखी होंगे । ३६ । ३७ ।

भावार्थ—अपने सम्बन्धियों को देख कर, अर्जुन के दिल में दया उमड़ आई । उसे यह ख्याल होगया कि मेरे गुरू, पितामह, भाईबन्धु आदि वृथा मारे जायंगे । उस समय वह शरीर को आत्मा समझ कर और आत्मा का सच्चा स्वरूप न जान कर शोक और मोह में गोते खाने लगा ।

वह भीष्म, द्रोण तथा पुत्र, पौत्र, साले, ससुरों इसी तरह अन्यान्य सम्बन्धियों को युद्ध के लिये कमर कसे देख कर बेचैन होगया। शोक के मारे उस का मुँह सूखने लगा। उस के सारे बदन में आगसी लग गई। वह इतना अधीर होगया कि उस के हाथ से गाण्डीव धनुष भी गिरने लगा। वह खड़े रहने और अपने शरीर के सम्भालने में भी असमर्थ होगया।

उसने खूब सोच विचार कर कृष्ण से कहा, हे कृष्ण! जब गैरों के मारने से पाप लगता है तब अपने ही आदमियों के मारने से सिवाय पाप के क्या भलाई होगी? अपने ही भाई बन्धों को मारने से मुझे इस लोक और परलोक दोनों में कुछ लाभ दृष्टि नहीं आता। अगर यह मान लिया जाय कि परलोक की बात तो कौन जानता है इस दुनियां में तो इन के मारने से राज्य मिलेगा सुख-भोग प्राप्त होंगे तथा विजय होगी, लेकिन हे कृष्ण! न तो मुझे विजय की इच्छा है न सुख-भोग और राज्य की। जब मुझे किसी चीज़ की इच्छा ही नहीं है तब क्यों लड़ कर इन अपने ही आदमियों को मारूं और पाप की गठरी अपने सिर पर धरूं? हां मनु महाराज के इस वचनानुसार—

> वृद्धौ च मातापितरौ भार्य्यासाध्वी सुतः शिशुः।
> अप्यकार्य्य शतं कृत्वा कर्त्तव्यामनुरब्रवीत ॥

अर्थात् अपने बूढ़े मा-बाप पतिव्रता स्त्री छोटे २ पुत्रों के लिये न करने योग्य सैंकड़ों काम करके भी पालन पोषण करना चाहिये, मैं सब कुछ करने को तैयार हूं। परन्तु जिन के लिये मैं यह पाप कर्म भी करूं, वह सब तो धन और प्राणों की आशा त्याग कर लड़ने मरने को इस युद्ध-क्षेत्र में डट रहे हैं फिर कहिये किस के लिये पाप बटोरूं। देखिये न सभी तो हमारे सम्बन्धी हैं कोई ससुरा है कोई साला है और कोई पुत्र या पौत्र हैं

अगर यह कहा जाय कि मेरे न लड़ने पर भी तो यह मुझे मार ही डालेंगे तो भी हे कृष्ण ! मैं तो इन पर हथियार नहीं चलाऊंगा मैं तो इन्हें त्रिलोकय का राज्य मिलने पर भी न मारूंगा फिर इस पृथ्वी के राज्य के लिये मैं इन्हें कब मारने चला । ये चाहे तो मुझे खुशी से मार डालें । गुरू आदि के अतिरिक्त धृतराष्ट्र के पुत्रों के महा अधर्मी होने पर भी मैं इन्हें मारना पसन्द नहीं करता । मुझे तो इस युद्ध से अनेक प्रकार की बुराइयां और हानियां ही दीखती है ।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहत चेतसः ।
कुलक्षय कृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं नज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षय कृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभि भवत्युत ॥ ४० ॥

(२२)

भा.प.—क्यों लोभ वश निर्बुद्धियों को दें दिखाई पाप हा ? ।
होता कुल-क्षय-दोष मित्र-द्रोह का पातक महा ॥ ३८ ॥
होता कुल-क्षय से सनातन-धर्म कुल का नष्ट है ।
कुल पाप मय होता तभी जब धर्म होता भ्रष्ट है ॥३९॥४०॥

अर्थ—यद्यपि राज्य के लोभ स इन की मति मारी गई हैं इन्हें कुल के नाश में पाप और मित्रों से शत्रुता करने में पातक नहीं सूझता । ३८ । तथापि हे जनार्दन ! हमें तो कुल के नाश में बुराइयां दीखती है, तब हम इस पाप से बचने का उपाय

क्यों न करें । ३९ । कुल के नाश होने से सनातन कुल-धर्म नाश हो जाता है, धर्म के नाश होने से सारे कुल में अधर्म छा जाता है । ४० ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

(२३)

भा.प.—व्यभिचारिणी हों नारियां जहँ पाप की ही वृद्धि है ।
वार्ष्णेय ! होती वर्णसङ्कर की तभी उत्पत्ति है ॥ ४१ ॥
हैं वर्णसङ्कर भेजते निश्चय नरक में कुल सभी ।
पिण्डादि तर्पण लुप्त होते पतित होते पितर भी ॥ ४२ ॥

अर्थ—अधर्म के फैलजाने से हे कृष्ण ! कुल स्त्रियां खराब हो जाती है । हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दुराचार कर्म से वर्णसङ्कर पैदा होते हैं । ४१ । और वह वर्णसङ्कर कुल के नाश करने वाले और कुल को नरक में पहुंचाते हैं । क्यों कि उन के पितर पिण्ड और जल न मिलने से नरक में गिर जाते हैं । ४२ ।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्कर कारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्चशाश्वता ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

(२४)

भा.प.—होते पुरातन जाति अरु कुल-धर्म फिर तो नष्ट ही ।
कुल-घातकों के वर्णसङ्कर-दोष का फल है यही ॥ ४३ ॥
मैंनें सुना है हे प्रभो! कुल-धर्म जिस के नष्ट हैं ।
वे नित नरक में वास करते धर्म से जो भ्रष्ट हैं ॥ ४४ ॥

अर्थ—कुल के नाश करनें वालों के इन वर्णसङ्कर फैलाने वाले दोषों से जाति और कुल के सनातन-धर्मों का नाश हो जाता है ।४३। हे जनार्दन ! जिन लोगों के कुल-धर्म नाश हो जाते हैं, वे सदा नरक में पड़े रहते हैं, ऐसा मैंनें सुना है ।४४।

भावार्थ—हे कृष्ण ! दुर्योधन आदि कौरव युद्ध की हानियों पर लेशमात्र भी विचार नहीं करते । लोभ नें इन की मति हरली है, लोभ के मारे इन्हें भलाई बुराई का ज्ञान नहीं है । लोभ के मारे इन्हें इतना भी नहीं सूझता, कि कुल के नाश होनें से क्या २ बुराइयां होंगी । किन्तु मुझे तो कुछ ज्ञान है, फिर हम जान बूझ कर पाप क्यों बटोरें ? जिन्हें लोभ हो वही पाप की गठरी बाँधें ।

हे कृष्ण ! कुल के बड़े बूढ़े जब मरजाते हैं, तब कुल के अग्निहोत्र आदि कर्म बन्द होजाते हैं । घर में कोई धर्म की राह पर चलानें वाला नहीं रहता, तब बालक और स्त्रियां अधर्म से घिर कर पाप मार्ग पर चलनें लगते हैं सिरपर किसी के न रहनें से स्त्रियां पातिव्रत धर्म को भूलकर व्यभिचारिणी होजाती है । उस समय स्त्रियां ऊंच-नीच जाति अथवा जाति कुजाति का विचार न करके जिस

तिस के संसर्ग से सन्तान पैदा करती है। तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब एक होजाते हैं। उस समय वह वर्णसङ्कर सन्तान कुल के नाश करनें वालों को तथा कुल-पितरों को नरक में पहुंचाती है। क्यों कि इस तरह के पैदा हुए पुत्र से स्त्री का मुख्य पति पिण्ड जल आदि का अधिकारी नहीं रहता। तब उस के बाप दादे किस तरह अधिकारी होसकते हैं? ऐसी दशा में उन पितरों को स्वर्ग से नरक में उलटा आना पड़ता है। वर्णसङ्कर पैदा होनें से जाति नष्ट होजाती है और साथ ही कुल-धर्म भी नाश होजाते हैं फिर बेचारे पितरों को सदा नरक ही में रहना पड़ता है।

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता ॥ ४५ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

(२५)

भा.प.—मैं चाहता था राज्य-सुख-हित प्रिय जनों को मारना।
देखो भला कैसी बुरी थी पाप मय यह धारना ॥ ४५ ॥
उत्तम यही निःशस्त्र हो प्रतिकार करना छोड़दूं।
कौरव मुझे दें मार रण में शस्त्र से मुह मोड़दूं ॥ ४६ ॥

अर्थ—हाय? बड़े दुःख की बात है जो राज्य के लोभ से हम लोग भारी पाप करनें को तैयार हैं। ४५। धृतराष्ट्र के पुत्र हाथ में हथियार लेकर मुझे ऐसी असहाय अवस्था में जब कि मेरे हाथ में हथियार न हों और मैं उन का सामना भी न करूं और वह मुझे मार डाले तो यह कहीं उस से अच्छा

होगा, कि मैं इन अपनें सम्बन्धियों को युद्ध-क्षेत्र में मारूं या मरूं । ४६ ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोक संविग्न मानसः ॥ ४७ ॥

अर्थ—युद्ध-क्षेत्र में इस प्रकार की बातें कह कर धनुष-बाण को एक ओर फेंक कर शोक से दुःखी होकर अर्जुन रथ में पीछे की ओर सरक कर बैठ गया । ४७ ।

भावार्थ—हे कृष्ण ! अहिंसा ही सब से बड़ा धर्म है । लोगों को राज्य-लोभ से मारना, कुल-धर्म नाश करना, वर्णसङ्कर पैदा करना इस लोक में बदनामी और परलोक में नरक की निशानी समझता हूं । मुझे तो इस से कोई लाभ नहीं जान पड़ता । अगर कौरव लोग इस युद्ध की हानियों को न समझ कर लड़ना चाहें तो लड़ें मैं तो हाथ में हथियार न रक्खूंगा और अगर वह हथियार ले कर मुझ निःशस्त्र को मारनें आवेंगे तो मैं आत्म रक्षा के लिये भी उन्हें हथियार चलाने से न रोकूंगा । इन सब के साथ लड़ कर अनेक अनर्थों का बीज बो कर राज्य हासिल करनें से मेरा मरना बहुत अच्छा है । ऐसा कह कर धनुष फेंक कर अर्जुन पीछे की ओर तकिये के सहारे बैठ गया और उस नें लड़नें का इरादा बिल्कुल छोड़ दिया ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे अर्जुन विषाद-
योगो नाम प्रथमोऽध्यायः
समाप्तः । (१)

द्वितीयोऽध्यायः

(सञ्जय उवाच)

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

(श्रीभगवानुवाच)

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

(१)

भा.प.–थे व्यथित करुणा पूर्ण जल से नेत्र अर्जुन के भरे ।
भगवान ने देखा, कहा, फिर मोह यह जिस से टरे ॥ १ ॥
"आया कहां से मोह यह इस विकट संकट काल में ।
हैं आर्य-जन फँसते नहीं ऐसे कठिन भ्रमजाल में ॥ २ ॥

अर्थ—इस भांति दया से परिपूर्ण आखों में आंसू भरे हुए, उदास अर्जुन से मधुसूदन भगवान यह कहने लगे । हे अर्जुन ! इस रण-क्षेत्र में, तुझ में यह कायरता कहां से आई ? इस प्रकार लड़ाई से मुंह मोड़ना आर्य्यों को नहीं शोभा देता । इस से न स्वर्ग मिलता न कीर्ति फैलती ।

भावार्थ—जब धृतराष्ट्र ने यह सुना, कि अर्जुन को मार काट पसन्द नहीं है। वह प्राणी-हत्या को महा पाप समझता है। हत्या करके राज्य पाने से भीख मांग कर गुजारा करना कहीं अच्छा समझता है। तब यह समझ कर कि अब अर्जुन लड़ेगा तो नहीं और राज्य मेरे पुत्रों के कब्जे में बना रहेगा। बड़े खुश हुए फिर उन्हों ने उस से आगे का हाल जानना चाहा। तब सञ्जय उन के मुसकराहट को ताड़ कर श्रीकृष्ण के नाम को "मधुसूदन" कह कर यह दिखाया। कि जिन का स्वभाव ही दुष्टों को नाश करने का है जिन्हों ने मधु नाम दैत्य को मारा। वह अर्जुन को? तुम्हारे पुत्रोंको नाश करने की ही सलाह देंगे। तथा अर्जुन को निमित्त-मात्र बना-कर स्वयं नाश करेंगे। भला जब दुष्टदलन "भगवान" अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञान इन छहों का नाम "भग" है इसी कारण श्रीकृष्ण को भगवान् कहते हैं। जिस में यह छः कारण होते हैं वह ही अधर्म का नाश कर धर्म-स्थापन करता है। जब कि वही कृष्ण अर्जुन के मित्र और सारथी हैं तब आप को अपनी जीत की आशा कदापि न करनी चाहिये।

धृतराष्ट्र की उस मन-मोदक प्रसन्नता को तोड़-कर सञ्जय आगे का समाचार कहने लगे। कि अपने भाई-बन्धु भीष्म, दुर्योधन आदि को लड़ाईके मैदान में मरने मारने को तैयार देख-कर अर्जुन का हृदय मोह के मारे दया से भर आया, उन के नाश होने के विचार से वह अत्यन्त दुःखी हुआ। यह समझ कर कि मैं अपनी आखों से आगे होने वाले भयानक-काण्ड में अपने भाई-बन्धुओं के मरण को कैसे देखूंगा। उस की आखों में आंसू भर आये और उस के नेत्रों से एक प्रकार का घबराहट-नैराश्य झलकने लगा। जिस समय अर्जुन की ऐसी हालत होरही थी तब स्वभाव से ही दैत्यों के नाश करने वाले मधुसूदन, भगवान् यह कहने लगे। कि हे अर्जुन! अपने भाई-बन्धों को अपना और अपने तई उन का समझ कर तू मोह और शोक में डूब गया है। आखों में आंसू भर कर जो कायरता

तेने इस समय में दिखाई है, यह तुझ में कहां से आई ? लड़ाई से मुंह मोड़ना आर्य्य (श्रेष्ठ) पुरुषों का काम नहीं है ऐसी कायरता तो अनार्य (नीच पुरुषों) को सुहाती है तुझे तो शोभा नहीं देती । क्या तू समझता है कि इस लड़ाई में न लड़ने से मेरी मोक्ष होजायगा अथवा मुझे स्वर्ग मिल जायगा या मेरी कीर्ति होगी ? अगर तेरा ऐसा विचार है तो तू भूल रहा है । इस कायरता पन से न तेरी मोक्ष, होगी न स्वर्ग मिलेगा न तेरा यश ही फैलेगा ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

(२)

भा.प.–दुष्कीर्ति कारी मोह से उन्नति न होती है कहीं ।
हे पार्थ ! ऐसा भीरुपन देता तुझे शोभा नहीं ॥
तज क्षुद्र दुर्बलता हृदय की युद्ध-हित तैयार हो ।
हे ! हे ! परन्तप !! उठ खड़े हो युद्ध-सागर पार हो ॥ ३ ॥

अर्थ—हे पृथापुत्र ! ऐसा कायर मत बन, यह कायरता तुम्हारे योग्य नहीं है । हे शत्रुसूदन ! अपने मन की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिये खड़े हो जाओ ।

भावार्थ—हे अर्जुन ! तू इन्द्र के वरदान से पैदा होने के कारण जन्म से ही बलवान है । तैने एक समय साक्षात् शिवजी से युद्ध करके अपने को जगत् प्रसिद्ध किया है । तेरा प्रभाव तीन लोक में प्रकट है । तेरा नाम ही शत्रुसूदन है । तू अपने हृदय की दुर्बलता

को त्याग और अपने नाम के अनुरूप काम कर। अगर तू मोक्ष, स्वर्ग या कीर्ति इन में से किसी एक को भी चाहता है, तो पहले अपने क्षत्रियत्व के कर्त्तव्य को पालन कर संसार के बन्धन शोक-मोह से किनारा खींच और लड़ने के लिये तैयार होजा।

(अर्जुन उवाच)

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थ कामांस्तु गुरूनिहैव,
भुञ्जीय भोगान रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

(३)

भा.प.—हे शत्रुनाशन ! कृष्ण ! मधुसूदन ! कहो कैसे भला ।
वर पूज्य भीषम द्रोण पर मैं बाण सकता हूं चला ॥ ४ ॥
वह भीख पर निर्वाह करना है भला इस लोक में ।
पर गुरु-जनों को मार कर पड़ना बुरा है शोक में ॥

(४)

यदि अर्थ लोलुप भी हमारे हों महा गुरु-जन सभी ।
फिर भी नहीं मैं चाहता हा ! मारना उन को कभी ॥
हा ! मार कर निज बान्धवों को फिर यहीं पर भोगना ।
है रक्त-मिश्रित भोग की कैसी बुरी आयोजना ॥ ५ ॥

अर्थ—हे मधुसूदन ! भीष्म और द्रोण मेरे पूज्य हैं, युद्ध में उन पर बाण कैसे चलाऊं ? इन महानुभाव गुरुओं को मारने की अपेक्षा भीख मांग कर जीवन व्यतीत करना अच्छा है । लोभी गुरुओं को अगर मैं मारूं तो इस लोक में ही मैं रक्त से सने हुए भोगों को भोगूंगा ।

भावार्थ—हे कृष्ण ! शोक और मोह के कारण युद्ध से मुंह नहीं मोड़ता । मेरा इस युद्ध से किनारा करना इस कारण से है कि इस युद्ध में सिवा अधर्म के धर्म नहीं दीखता । भीष्म और द्रोण हमारे बड़े और गुरु हैं । आप ही कहिये इन पूज्य लोगों का हमें सम्मान करना चाहिये या इन पर बाणों की वर्षा करनी चाहिये । इन पर बाण वर्षा करना तो दूर की बात है, मैं तो इन से मन में द्रोह-भाव रखना भी महा पाप समझता हूं ।

हे कृष्ण ! यद्यपि ये गुरु-जन लोभ के वशीभूत हैं; लोभ के मारे इन्हों ने धर्माधर्म का भी विचार नहीं किया है, धन के लोभ से ही इन्हों ने कौरवोंका साथ दिया है । तथापि ये बड़े प्रभावशाली हैं । भीष्म ने अपने पिता के लिये अपना सारा संसार-सुख छोड़ दिया और कामदेव को जीत कर ब्रह्मचर्य पालन किया है । द्रोणाचार्य बड़े तपस्वी और अध्ययनशील हैं । इन के अनेकानेक गुणों के सामने यह थोड़ासा दोष कुछ भी नहीं है । इस लिये इन से लड़ना मुझे पसन्द नहीं । इन के मार डालने पर अगर मैं जीत गया तो मुझे राज्य, भोग, धन और सुख अवश्य मिलेगा । परन्तु इस तरह राज्य, भोग, और सुख प्राप्त करने से इस लोक में निन्दा होगी और परलोक में वह मेरा साथ न देंगे । फिर ऐसे सदा स्थिर न रहने वाले राज्य और सुख-भोगों से क्या लाभ ?

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो,
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

(५)

भा.प.–होगी पराजय या विजय, आता नहीं कुछ ज्ञान में ।
आता नहीं किस में भलाई है हमारे ध्यान में ॥
वे आजुटे हैं युद्ध में कौरव जिन्हें मैं मार कर ।
जीना नहीं मैं चाहता रहना भला है हार कर ॥ ६ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! मैं नहीं जानता कि भीख मांगना और युद्ध करना इन में से कौन हमारे लिये अच्छा है, मैं यह भी नहीं जानता कि हम कौरवों को जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे । जिन्हें मार कर हम जीना नहीं चाहते, वे कौरव ही हमारे मुकाबले को खड़े हुए हैं ।

भावार्थ—हे कृष्ण ! मैं जानता हूं, कि क्षत्रिय के लिये भीख मांग कर कालक्षेप करना अनुचित और युद्ध करना उचित है । परन्तु इस समय पर मेरी समझ में नहीं आता, कि दूसरों को न मार कर भीख मांगना अच्छा है या अपने क्षत्रिय-धर्म अनुसार शत्रुओं से लड़ना । अगर अपने धर्मानुसार मैं लड़ने को ही अच्छा समझलूं तो यह भी तो नहीं मालूम होता कि हम जीतेंगे या हमारे विपक्षी जीतेंगे । मानलो कि वही जीत गये और हम युद्ध में मारे न गये तो हमें अन्त में भिक्षा मांग कर गुजर करनी होगी ? ऐसी जय को भी हम अपनी पराजय ही समझेंगे, क्योंकि जिन्हें

मार कर हमें जीना ही नहीं चाहते वे ही तो हम से लड़ने को खड़े हैं।

कार्पण्य दोषोपहतस्वभावः,
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढ़ चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मे-
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

(६)

भा.प.–है डूब करुणा-सिन्धु में निज ज्ञान मैंने खो दिया।
हा! ज्ञान हर इस मोह ने कर्त्तव्य पथ से च्युत किया॥
इस हेतु मैं अब पूछता हूं उचित मार्ग बताइये।
मैं शिष्य आया हूं शरण में आप की समझाइये॥७॥

अर्थ—अज्ञान से मेरी बुद्धि मारी गई है। मेरा क्या धर्म है, इस विषय में मुझे सन्देह हो रहा है। इस लिये जो धर्म हो, और ऐसे समय में मेरा जो कर्त्तव्य हो, वह करने की इच्छा से मैं आप से पूछता हूं? अतः जो मेरे लिये कल्याण-कारी हो, वही मुझे बताइये मैं आप का शिष्य हूं, आप की शरण आया हूं, मुझे उपदेश कीजिये।

भावार्थ—हे कृष्ण! यद्यपि मैं सब धर्म-कर्म जानता हूं। तथापि तत्वज्ञान का बोध न होने के कारण अज्ञानी ही हूं? इस अज्ञान की वजह से ही शोक-मोह मेरे पीछे लगे हैं। भीष्म, द्रोण आदि में मेरी ममता उत्पन्न होगई है। इन के मरण का खयाल आने

से मुझे दुःख होता है, इसी से मेरा क्षत्रिय-स्वभाव इस समय नष्ट होगया है ।

धर्म क्या है, अधर्म क्या है, यह मेरी समझ में नहीं आता । भीष्म, द्रोण आदि को मारना, अथवा उन की सेवा करना ? राज्य करके प्रजा का पालन करना, अथवा वन में रह कर भिक्षा मांगना ? इन में से कौनसा धर्म-कार्य है । यह मेरी समझ में नहीं आता । हे कृष्ण ! आप बड़े हैं, आप ज्ञानी हैं, मैं तो आप का शिष्य हूं, आप की शरण आया हूं, आप का अनन्य भक्त हूं इस लिये मुझे कोई ऐसी बात बतलाइये, जिस से मुझे नित्य सुख मिले और मेरा शोक दूर होजाय ।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्,
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं,
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

(७)

आ.प.—इस विश्व के सम्पत्तिशाली राज्य को पाऊं न क्यों ।
या स्वर्गभर का एक स्वामी शीघ्र बनजाऊं न क्यों ॥
पर एक भी साधन नहीं है दीखता ऐसा हरे ।
जो इन्द्रियों के तापकारी शोक को मर्दन करे ॥ ८ ॥

अर्थ—अगर मैं शत्रु-हीन धन-धान्य पूर्ण सारी पृथ्वी का अकेला राजा होजाऊं, अथवा स्वर्ग का राज्य भी मेरे हाथ में आजाय, तो भी मुझे नहीं दीखता

कि मेरी इन्द्रियों का जलाने वाला शोक दूर हो जायगा ।

भावार्थ—हे कृष्ण ! शोक के मारे मेरी इन्द्रियां जली जाती हैं । यह शोक मुझे बहुत दुःख दे रहा है । अगर आप कहें कि ममता छोड़ कर युद्ध क्यों नहीं करता, जिससे राज्य और सब प्रकार के सुख-भोग मिलें, क्यों कि राज्य हाथ में आने पर तुझे शोक न रहेगा । किन्तु हे कृष्ण ! यदि मैं सारी दुनियां का अकेला राजा होजाऊं, दुनियां में मेरा सामना करने वाला कोई न रहे, मेरे राज्य में धन-धान्य आदि पदार्थों की कमी न रहे, स्वर्ग का राज्य भी मेरे ही हाथ में आजाय, इन्द्र आदि देवता भी मेरे ही शासन पर चलने लगें, तो भी मुझे आशा नहीं कि इतना वैभव होने पर भी मेरा शोक दूर हो । क्यों कि—

इस लोक और स्वर्ग के सुख-भोग मुझे नित्य रहने वाले नहीं जान पड़ते एक न एक दिन उनसे मुझे अलग होना पड़ेगा । जब तक भोग नहीं मिलते, तब तक उन्हें पाने के लिये मनुष्य शोक करता रहता है, और जब मिल जाते हैं, तब उनके नाश होजाने के खटके से शोक बना रहता है, और जब वे नाश हो जाते हैं, तब उनके वियोग से शोक होता है । इस संसार और स्वर्ग के पदार्थ अनित्य हैं, नाशवान है, इस लिये उनसे सदा शोक ही होता है । मानलीजिये कि इस युद्ध में हमारी ही जय हो हम ही सारी पृथ्वी के राजा होजांय तो क्या हमारा यह राज्य सदा बना रहेगा । अगर नहीं तो फिर ऐसे राज्य के लड़ने से क्या लाभ ! जो हमारा होकर भी हमारे पास न रहेगा और अन्त में शोक ही पैदा करेगा ।

(सञ्जय उवाच)

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
नयोत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह ॥ ९॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

(८)

भा.प.—धृतराष्ट्र ! सञ्जय ने कहा, यों पार्थ कह कर रह गया।
हे ! हे ! जनार्दन !! मैं न लड़ने योग्य हूं अब रह गया ॥९॥
धृतराष्ट्र ! अर्जुन उभय सेना बीच बैठा खिन्न था।
श्रीकृष्ण तब बोले ललित मुख हंसी का चिन्ह था ॥१०॥

अर्थ—हे धृतराष्ट्र ! शत्रुओं को सन्ताप देने वाला, निद्रा को जीतने वाला, अर्जुन गोविन्द से ऐसा कह कर कि मैं युद्ध नहीं करूंगा चुप होगया। तब हे भारत ! दोनों सेनाओं के बीच में दुःखी अर्जुन से हंसते हुए यह कहा—कि एक मात्र आत्मज्ञान से ही दुःख नाश होता है।

भावार्थ—गुरू, दादा, चाचा, भाई, मित्र, साले, ससुरे आदि अन्यान्य सम्बधियों को देख कर अब अर्जुन के मन में मोह पैदा हो-गया। उस ने सोचा कि "मैं इन का हूं और ये मेरे हैं। हाय ! इन सब से मुझे अलग होना पड़ेगा।

जिस समय अर्जुन पर शोक और मोह ने अपनी छाप नहीं जमाई थी। वह अपने क्षत्रिय धर्म अनुसार लड़ने को तय्यार था।

लेकिन ज्यों ही शोक और मोह ने उस पर अधिकार जमा लिया, वह लड़ने से इन्कार कर गया। उस समय उसने अपना क्षत्रिय-धर्म त्याग कर भिक्षुक-जीवन पर जिन्दगी बसर करना अच्छा समझा। उसने शोक मोह से पराजित हो कर, इस बात पर किञ्चित् भी विचार नहीं किया। कि भिक्षुक वृत्ति से जीवन निर्वाह करना ब्राह्मण जाति का धर्म है। क्षत्रिय-जाति का धर्म तो लड़ कर जीवन बिताना है। श्रुति-स्मृतियों की आज्ञानुसार अपना धर्म त्याग कर पर-धर्म ग्रहण करना अच्छा नहीं है।——

अर्जुन की तरह अनेक लोग जब कि उनकी बुद्धि शोक और मोह से मारी जाती है, अपना असली धर्म त्याग कर, ऐसे धर्म पर उतारू होजाते हैं जो उन के लिये धर्म-शास्त्र से मना है। बहुत से लोग ऐसे हैं जो अपने धर्म में लगे तो रहते हैं, मगर उन के प्रत्येक विचार; प्रत्येक कार्य, प्रत्येक बात में "अहं भाव, पाया जाता है, यानी मैं यह काम करता हूं, इत्यादि इस के सिवा वे अपने प्रत्येक काम के लिये पुरस्कार की इच्छा रखते हैं। इस भांति के विचारों से वे धर्म-अधर्म की गठरी बांधते हैं। धर्म अधर्म के जमा होने से उन्हें बारम्बार बुरी-भली योनियों में जन्म लेना पड़ता है। और सुख-दुःख सहना पड़ता है। उन का संसार बन्धन से कभी पीछा नहीं छूटता। यह मेरा है, मैं इन का हूं, ऐसा करने से पाप होगा और इस के न करने से पुण्य होगा, ऐसे विचारों से शोक और मोह पैदा होते हैं। शोक और मोह ही संसार के कारण हैं। शोक-मोह के नाश होने से ही संसार का पीछा छूटता है। जन्म-मरण आदि दुःखों से निजात मिलती है। किन्तु शोक-मोह का नाश बिना आत्मज्ञान और कर्मों के त्याग के नहीं होसकता। इस लिये भगवान सारे संसार के लाभ के लिये इस दूसरे अध्याय के ११ वें श्लोक से "आत्मज्ञान" का उपदेश देते हैं :

ज्ञान और कर्मों का संयोग होना चाहिये।

कुछ लोगों का मत इस के विपरीत है । वे कहते हैं—कि अगर सब कर्म पहले से ही त्याग दिये जांय तो केवल आत्मज्ञान-निष्ठा से ही मोक्ष नहीं हो सकती । तब किस से मोक्ष हो सकती है ? निश्चित मोक्ष ज्ञान- और कर्मों के संयोग से होसकती है । श्रुति-स्मृतियों में जो अग्निहोत्र इत्यादि की आज्ञा है वह उचित है । इस मत की पुष्टि में वे गीता के दूसरे अध्याय का ३३ वां ४७ वां और चौथे अध्याय का १५ वां श्लोक प्रमाण के आधार पर कहते हैं ।

> अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
> ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ अ २ श्लो. ३३

हे अर्जुन ! अगर तू इस मौके पर भी अपने क्षत्रिय धर्म अनुसार लड़ाई न करेगा, तो तेरा धर्म नष्ट हो जायगा, कीर्ति जाती रहेगी और तुझे पाप लगेगा । पुनः —

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
> मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा तेसङ्गोऽस्त्व कर्मणि ॥ अ २ श्लो. ४७

अर्थात हे अर्जुन ! कर्म में ही तेरा अधिकार है, फल में कदापि अधिकार नहीं जो कर्म तू करे उस का हेतु या उस के फल के भोगने वाला मत हो । तेरे कहा—

"मैं युद्ध नहीं करूंगा ऐसे अकर्म में तेरी निष्ठा न होनी चाहिये । क्यों कि —

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ अ. ४ श्लो १५

पहले जनकादिक मोक्ष चाहने वालों ने भी ऊपर कही हुई सारी बातें समझ कर कर्म किया था । इस से अब तुम भी वही कर्म करो जो पूर्व पुरुषों ने पहले किया था ।

यह कदापि न समझना चाहिये, कि वेद में लिखी हुई कर्म-पद्धति पर चलने से, वेद की आज्ञानुसार कर्म करने से, निठुरता होती है । अतः वह दूषित है । क्यों कि भगवान का कथन है, कि युद्ध करना क्षत्रिय का मुख्य धर्म है । यद्यपि लड़ने से गुरु-जन भाई-बन्धु आदि पर निठुरता होती है । और यह बीभत्स कर्म है, । तथापि इस से पाप नहीं लगता । अपने जाति-धर्म त्यागने के सम्बन्ध में भगवान ने और भी कहा है— कि अपना धर्म और कीर्ति त्यागने से तुझे पाप लगेगा " (अ- २ श्लो- ३३) इन सब बातों से प्रकट होता है कि यद्यपि वेद की आज्ञानुसार कर्म करने से भूतों पर निठुरता होती है, तथापि उन के करने से पाप नहीं लगता ।

सांख्य और योग में भेद ।

— ज्ञान और योग के संयोग से निश्चित मोक्ष होती है । यह उपदेश

ठीक नहीं है। भगवान ने ज्ञान-निष्ठा और कर्म-निष्ठा को अलग अलग माना है, क्यों कि इन दोनों की नींव जुदे जुदे उसूलों पर कायम है। भगवान ने इस दूसरे अध्याय के ११ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक जो आत्मा का वास्तविक स्वरूप वर्णन किया है, उसे सांख्य कहते हैं। इतने अंश पर विचार करने से यह विश्वास होता है, कि "आत्मा" का जन्म-मरण आदि न होने से "आत्मा„ किसी काम का कर्त्ता नहीं है" 'इसे सांख्य-बुद्धि' कहते हैं। और जो लोग इस मत पर चलते हैं, उन्हें "सांख्य„ कहते हैं।

योग में इस विचार के उठने से पहले कि "आत्मा„ जन्म-मरण आदि विकारों से रहित होने के कारण किसी काम का कर्ता नहीं है" कर्म करने होते हैं और कर्मों को मोक्ष का ज़रिया समझना होता है। आत्मा शरीर से अलग है, वही कर्म करने वाला और भोगने वाला है, यह समझ कर धर्म-अधर्म का ज्ञान रखना होता है।

यही "योग-बुद्धि„ है। जो इस मत पर चल कर कर्म करते हैं वह "योगी„ हैं। इसी मत के अनुसार भगवान ने इसी अध्याय के ३९ वें श्लोक और तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में कहा है।

> एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां श्रृणु।
> बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्म बन्धं प्रहास्यसि॥ अ-२ श्लो-३९

यह तुझे मैंने आत्म-ज्ञान बताया, अब कर्म-योग को

तुम जिस से ज्ञान प्राप्त हो कर तेरे कर्म बन्धन छूट जायेंगे।

जब अर्जुन को धर्मों का उपदेश करते हुए ज्ञान का रूप वर्णन किया; तो अर्जुन कहने लगे कि हे कृष्ण! आप कर्मों की अपेक्षा आप ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं तो मुझे फिर कर्म से क्यों बांधते हैं। इस पर भगवान ने कहा कि हे अर्जुन!

> लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया नव।
> ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम्॥ अ-३ श्लो-३

मैं पहले कह चुका हूं कि इस संसार में दो प्रकार के मार्ग हैं? "सांख्य वालों को ज्ञान-योग का, और योगियों के लिये कर्म-योग का"?

तात्पर्य्य यह है, कि भगवान नें एक ही मनुष्य में, एक ही समय में, ज्ञान और कर्म के संयोग की असम्भवता देखकर सांख्य और योग के दो रास्ते बताये, जिस में एक तो इस पर निर्भर है, कि "आत्मा अकर्त्ता और एक है, और दूसरे की बुनियाद इस पर है, कि आत्मा कर्त्ता है और बहुत हैं। इस से ज्ञात होता है कि वेद की आज्ञानुसार उसे कर्म करना उचित है, जिस के मन में इच्छा है, और जिसे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं है? किन्तु जो इच्छा नहीं रखता, और केवल आत्म-लोक की खोज में है, उसे कर्म्मों के करनें की आवश्यकता नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि भगवान

का उद्देश्य, एक ही समय में, ज्ञान और कर्म के संयोग से है, तो दो प्रकार के भिन्न भिन्न लोगों के लिये उन को दो मार्ग बताना अनुचित होगा। क्यों कि—

ज्ञान और कर्म का संयोग उत्तर भाग के विपरीत है।

इस लिये एक ही समय में, एक ही मनुष्य का 'ज्ञान-योग' और 'कर्म-योग' पर चलना असम्भव है। अगर श्रीकृष्ण ऐसा उपदेश देते तो अर्जुन भगवान से तीसरे अध्याय के प्रथम श्लोक में यह प्रश्न नहीं करता—

> ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
> तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ अ॰ ३ श्लो॰ १

हे कृष्ण ! अगर आप कर्म-योग से ज्ञान-योग को अच्छा समझते हैं, तो मुझे आप इस भयानक काम में क्यों लगाते हैं ?

अगर ज्ञान और कर्म का संयोग सब के लिये होता, तो वह अर्जुन के लिये भी होता। अगर यह बात होती, तो अर्जुन दो में से केवल एक के ही विषय में न पूछता।

हे कृष्ण ! आप कर्मों के छोड़ने को अच्छा कहते हैं, फिर कर्मों के करने को अच्छा कहते हैं। मुझे निश्चय करके बताइये कि इन दोनों में कौनसा अच्छा है ?

यदि कोई वैद्य किसी मनुष्य की पित्त से उत्पन्न गर्मी की शान्ति के लिये, ऐसी दवा तजवीज़ करे, जिस में एक मीठी और दूसरी शीतल ऐसी दो चीजें शामिल हों, तो उस समय ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता, कि इन दोनों चीजों में से किसी एक ही चीज़ से गर्मी की शान्ति हो सकती है ?

अगर यों कहैं कि ज्ञान का संयोग केवल ऐसे कामों में से हो सकता है, जिस की स्मृतियों में आज्ञा है, यानी एक ही मनुष्य 'ज्ञान-योग, और 'कर्म-योग' दोनों का एक ही समय में साधन कर सकता है; मगर 'ज्ञान-योग' के साथ उन्हीं कर्मों को कर सकता है, जिन्हें धर्म-शास्त्रों ने करना उचित बताया है। ऐसी दशा में, भगवान सांख्य लोगों को ज्ञान-योग और योगियों को 'कर्म-योग की दो अलग अलग राहें न बताते। अगर भगवान का यही उद्देश्य होता कि अर्जुन ज्ञान-योग भी साधन करे, और धर्म-शास्त्र की आज्ञानुसार अपने क्षत्रिय-धर्म के काम भी करे तो अर्जुन तीसरे अध्याय के आरम्भ में ऐसा प्रश्न नहीं करता—कि "मुझे आप इस भयानक काम में क्यों लगाते हैं" ? क्यों कि वह स्वयं जानता था कि क्षत्रिय का काम धर्म-शास्त्रानुसार "लड़ना" है।

इन सब प्रश्नोत्तरों से सिद्ध हो जाता है, कि ज्ञान के साथ ऐसे कर्मों का भी संयोग नहीं हो सकता, जिन की कि धर्म-शास्त्रों में आज्ञा है; यानी एक ही आदमी एक ही समय में ज्ञान-योग और कर्म-योग दोनों का साधन नहीं कर सकता,

बल्कि ज्ञान-निष्ठा के साथ उन कर्मों को भी नहीं कर सकता जिन की धर्म-शास्त्र में आज्ञा है । एक ही समय में एक ही आदमी ज्ञान-योग का साधन कर सकता है, तो दूसरा कर्म-योग का । हां ऐसा हो सकता है कि एक आदमी पहले कर्म-योग का साधन करे और जब उसे इस योग में सिद्धि मिलजाय, उस का अन्तःकरण शुद्ध होजाय तो दूसरे समय में इस के बाद ज्ञान-योग का साधन कर सकता है । मुख्य तत्व-ज्ञान योग ही है, उसी से मोक्ष मिलती है । मगर बिना कर्म-योग के ज्ञान-योग साधन नहीं हो सकता; क्यों कि पहले जब कर्म योग से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब ज्ञान-योग के योग्य होता है । इसे उसी तरह समझिये कि जब तक विद्यार्थी मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होलेता तब तक ऐफ़. ए. बी. ए. में पढ़ने के योग्य नहीं होता ।

प्रत्यक्ष संयोग के कुछ उदाहरण ।

अगर कोई मनुष्य जो अज्ञानता, यानी संसारी मोह तथा बुरे स्वभाव के कारण पहले कर्मों में लगा रहे, और पीछे यज्ञ-सम्बन्धी कर्म दान, तप आदि से अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर के इस ध्रुव-सत्य पर पहुंच जाय—कि यह सब एक पूर्णब्रह्म है और यह कुछ नहीं करता । इस अवस्था के प्राप्त होने पर अगर वह दूसरों को दिखाने के लिये कर्म करता रहे तो कर्म और उन के फल उसे अपनी ओर न खींच

सकेंगे । जो ध्रुव-सत्य को जानजाता है वह ऐसा विचार नहीं करता ; "कि मैं काम करता हूं" और न वह फलों की इच्छा करता है । ऐसी अवस्था में काम मनुष्य को संसार बन्धन में नहीं बांध सकते ।

दूसरा उदाहरण लीजिये— मानलो कि कोई मनुष्य स्वर्ग या दूसरे पदार्थों के प्राप्त करने की इच्छा से, अग्नि-होत्र आदि यज्ञ-कर्म करता है तो ऐसे कर्म को काम्य-कर्म कहते हैं । जब कि यज्ञ आधा पूरा हो, उसी समय यज्ञ-कर्त्ता के मन में स्वर्ग आदि की इच्छा न रहे, लेकिन वह अपना यज्ञ उसी रीति से (बिना किसी इच्छा के) करता रहे तो उसे काम्य-कर्म नहीं कहते । ऐसी अवस्था में कर्म करता हुआ भी मनुष्य कर्म-बन्धनों में नहीं बंधता । क्यों कि भगवान ने कहा है—

> योग युक्तो वि शुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
> सर्व भूतात्म भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ अ॰ ५ श्लो॰ ७

जो कर्म-योगी है जिस का चित्त बिलकुल शुद्ध है, जिस ने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है जो अपने आत्मा को समस्त प्राणियों की आत्मा से भिन्न नहीं मानता वह कर्म करता भी कर्म-बन्धनों से अलग रहता है ।

क्योंकि— यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
> सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ अ॰ १३ श्लो॰ ३२

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के

कारण लिप्यमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता है ।

भगवान ने गीता के चौथे अध्याय और तीसरे अध्याय में भी ऐसा कहा है—हे अर्जुन पहले मोक्ष चाहने वालों ने कर्म किये इस लिये तुम भी कर्म करो ।

> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
> लोक संग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तु मर्हसि ॥ अ- ३ श्लो- २०

जनक आदि ज्ञानी लोग कर्म करते-करते ही परम पद पागये । इस लिये तुझे भी संसार की भलाई पर दृष्टि रखते हुए काम करना चाहिये ।

भगवान के उपरोक्त वचनों से हम दो अर्थ निकालते हैं— (१) मान लो कि जनक आदि मोक्ष चाहनेवाले ध्रुव सत्य को जान कर भी कर्म में लगे रहें । तो उन्हों ने कर्म इस गरज से किये कि लोग हमें देख कर कर्म करते रहें, और भटकते-भटकते विपथगामी न होजाय । जिस समय वे लोग कर्म करते थे उन्हें इस बात का निश्चय था कि इन्द्रियां ही विषयों में लगी हुई हैं, किन्तु आत्मा का उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । क्यों कि भगवान ने कहा है—

> तत्ववित्तु महाबाहो गुण कर्म विभागयोः ।
> गुणागुणेषु वर्त्तन्त इतिमत्वा न सज्जते ॥ अ- ३ श्लो- २८

जो मनुष्य सत्व आदि गुण और कर्मों के विभाग को जानता है वह यही समझता है कि सत्व आदि गुण स्वयं काम कर रहे हैं। और इसी लिये वह उन में आसक्त नहीं होता।

पहले के मोक्ष चाहने वाले कर्म करते थे, मगर उन्हें गुणों द्वारा किया हुआ समझते थे। आत्मा का उन से कुछ सम्बन्ध नहीं मानते थे, और इसी से कर्मों में आसक्त न होते थे। बस इस तरह कर्म करने से केवल ज्ञान के द्वारा वे मोक्ष पागये। यद्यपि वे कर्मों के त्याग की अवस्था को पहुंच गये थे; मगर उन्हों ने विधि सहित कर्म त्याग विना भी मोक्ष पाली।

(२) और अगर हम यह मानलें, कि जनक आदि पहले मोक्ष चाहने वाले ध्रुव-सत्य को न जानते थे। तब हमें उपरोक्त वचनों को यों समझना चाहिये, कि वे लोग कर्म करते थे, किन्तु उन्हें ईश्वर के अर्पण कर देते थे। इसी से उन का अन्तःकरण शुद्ध होगया। इसी के सम्बन्ध में भगवान ने कहा है —

> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्म शुद्धये ॥ अ- ५ श्लो- ११

शरीर से, मन से और केवल इन्द्रियों से योगी लोग कर्म-फल की इच्छा छोड़ कर आत्मा की शुद्धी के लिये कर्म करते हैं। पुनः—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

अ० १८ श्लो० ४६

जिस अन्तरयामी परमात्मा से भूतों की प्रवृत्ति होती है। यानी जिस की सत्ता से सब जगत् चेष्टा करता है, जिससे यह जगत व्याप्त हो रहा है उस परमात्मा को जो अपने उचित कर्मों से पूजता है, उसे सिद्धि मिलती है। फिर आगे कहते है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रम्ह तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

अ० १८ श्लो० ५०

सिद्धि को पाकर मनुष्य किस तरह ब्रह्म के पास पहुंचता है सो तू मुझ से सुनः—

इतनी सब तर्क वितर्कों से यह नतीजा निकला, कि कर्म केवल अन्तः करण की शुद्धी के लिये किये जाते हैं। अन्तः करण के शुद्ध हो जाने पर मनुष्य के हृदय में ज्ञान का उदय होता है और एक मात्र ज्ञान से ही मनुष्य को मोक्ष मिलती है। ज्ञान और कर्म के संयोग से मोक्ष नहीं मिलती। यही गीता का सार है, यही गीता का उपदेश है। जो आगे के अध्यायों में उलट पलट कर समझाया जायगा।

जब अर्जुन शोक और मोह के महा समुद्र में डूबने लगा और युद्ध से मुह मोड़ कर भिक्षा माग कर जीवन निर्वाह करने पर उतारू हो गया तब अर्जुन को ठीक राह पर लाने और उसका उद्धार करने के उद्देश्य से भगवान उसकी भलाई के लिये आत्म—ज्ञान से बढ़ कर और उपाय न देख कर कहने लगे हे अर्जुन! आत्मा अविनाशी है ऐसा कह कर आत्म ज्ञान का उपदेश करने लगे। भगवान कहते हैं हे अर्जुन!

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११

तू कर रहा है शोक जिनका, शोक यह अनुचित महा।
फिर ज्ञान की बातें सभी कैसी बताते हो अहा ! ॥
ये नाश जावें या रहें यह सोचना ही व्यर्थ है।
ज्ञानी पुरुष के सामने इसका न कुछ भी अर्थ है ॥११

अर्थ—तू ऐसे लोगों की चिन्ता कर रहा है, जिन की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इस पर पण्डितों की सी बातें छांटते हो। परन्तु पण्डित लोग जीते हुए और मरे हुओं का शोक नहीं करते।

भा०—हे अर्जुन ! जिन भीष्म, द्रोण का आचरण नितान्त शुद्ध है जो असल में स्वभाव से ही अमर, अविनाशी, नित्य, सदा जीवी और अनन्त काल स्थायी हैं। उनके लिये तू वृथा शोक करता है।

यह कह कर कि मैं उनकी मृत्यु का कारण हूं, उनके न रहने पर उनके बिना मुझे राज्य और सुख—भोगों से क्या लाभ ? तू उनके लिये शोक करता है और साथ ही पण्डितों की सी लम्बी चौड़ी बातें भी बनाता है। इन बातों से तो यही जान पड़ता है कि असल में तू ज्ञान का लेश मात्र भी नहीं समझता, क्यों कि ज्ञानी—आत्मा को जान ने वाले तो जीते हुए और मरे हुओं का शोक कभी नहीं करते जो आत्मा को नहीं जानते वे ज्ञानी नहीं कहलाते, जो आत्मा को जानते हैं वही ज्ञानी कहलाते हैं। सारांश यह है कि तू ऐसे लोगों के लिये शोक करता है, जो अविनाशी और अनन्त काल स्थायी हैं, जिन के लिये शोक करना अनुचित है। इस लिये तू मूर्ख है। तब अर्जुन कहने लगा कि उनके लिये शोक करना अनुचित क्यों है तो श्रीकृष्ण समाधान करते हैं, क्यों कि वे अविनाशी और अनन्त काल स्थाई हैं। पुनः अर्जुन प्रश्न करते हैं कि वे अविनाशी और अनन्त काल स्थायी किस तरह हैं तब भगवान कहने लगे हे अर्जुन ! सुन।

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वय मतः परम् ॥१२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

मैं तुम सभी नरपति न थे पहले नहीं सम्भव कभी ।
लेंगे न जन्म भविष्य में कोई न कह सकता कभी ॥१२॥
ज्यों देह धारी भोगते बचपन, जवानी अरु जरा ।
त्यों देह होती प्राप्त जाले ज्ञान से जो है भरा ॥१३॥

अर्थ—मैं तुम और ये राजा महाराजा पहले कभी नहीं थे, सो नहीं और इसी तरह इस देह के छूटने पर हम ये सब लोग न रहेंगे, सो भी नहीं। बल्कि जिस तरह देह में रहने वाले देही का एक ही शरीर में बचपन जवानी और बुढ़ापा होता है, उसी तरह उसका एक देह छोड़ कर दूसरी देह बदलना है। धीर पुरुष इस बात में मोह नहीं करते।

भावार्थ—श्री कृष्ण कहते भये हे अर्जुन ! क्या पहले मैं कभी नहीं था, या तू नहीं था, या ये सब राजा महाराजा नहीं थे ? अथवा भविष्य में इस देह को छोड़कर हम सब फिर न होंगे? तात्पर्य यह है कि मैं, तू, और ये राजा महाराजा पहले भी थे, अब हैं ही और आगे भी इसी भांति होंगे। अनन्त काल से हम तुम और ये सब जन्म लेते और मरते चले आ रहे हैं। हम तुम और इन सब ने हजारों बार देह छोड़ी, पर हम कभी न मरे, इस बार देह छोड़ कर भी हम इसी तरह दूसरी देह में पैदा होंगे। आत्मा नित्य अमर और अविनाशी है। अन्त काल में भी उस का नाश नहीं होता। हे अर्जुन ! क्या ? तू इस देह को ही मनुष्य समझता है, नहीं प्रत्युत उस देह को धारण करता हुआ, हृदय के अन्दर जो एक सूक्ष्म तम पदार्थ है वही मनुष्य कहलाता है वही जीवात्मा है इसे "देही" भी कहते हैं। तब अर्जुन पुनः संकोच कर कहते हुए कि जब

हम रोज़ जन्मते और मरते देखते हैं। फिर इसे अमर अविनाशी कैसे कह सकते हैं। तो भगवान कहते हैं। हम देखते हैं कि देह में रहने वाले "देही" का वर्तमान देह में बिना किसी तब्दीली के बचपन, जवानी और बुढ़ापा तीन तरह की अवस्थायें हो जाती हैं। शरीर की अवस्थायें बदलती रहती हैं, परन्तु शरीर के अन्दर रहने वाला जीवात्मा जैसा का तैसा बना रहता है, यानी शरीर की अवस्था बदल ने पर उसकी अवस्था में कुछ भी फेर फार नहीं होता बचपन की अवस्था के अन्त में वह मर नहीं जाता और जवानी अवस्था के शुरू में वह जन्म नहीं लेता। वह बिना किसी तब्दीली के बचपन से जवानी और जवानी से बुढ़ापे के शरीर में चला जाता है। ऐसे समय पर मनुष्य यह समझ कर कि हमारा वर्तमान शरीर तो बना ही हुआ है केवल शरीर की अवस्थायें बदल गई हैं, रंज नहीं करता, किन्तु वर्तमान देह के एक दम छोड़ ने के समय उसे मोह के कारण शोक होता है। परन्तु यह शोक केवल अज्ञानियों को होता है. शोक करने की आवश्यकता ही क्या है? पुराने सड़े गले रोग पूर्ण शरीर के छूटते ही दूसरा नया ताज़ा शरीर निश्चय ही मिलता है फिर इस में शोक की कौन सी बात है, समझ में नहीं आता।

जब कि हम जवानी के हृष्ट पुष्ट सुन्दर बलवान शरीर को खो कर बुढ़ापे का कुरूप, निर्बल और रोग पूर्ण शरीर पाते हैं तो इन सड़े गले शरीर से ही हम सन्तुष्ट रहते हैं। जब हम जवानी के अच्छे शरीर को पा कर शोक नहीं करते, तब हमारा बुढ़ापे के इस निर्बल सड़े गले शरीर के लिये शोक करना महान-नादानी है, बल्कि हमें ऐसे समय पर अति प्रसन्न होना चाहिये क्योंकि पुराने के बदले में नया शरीर मिलेगा शरीर के अन्दर रहने वाला आत्मा मुसाफिर है, और यह शरीर जिसमें वह रहता है सराय के समान है जिस तरह मुसाफिर को एक सराय से दूसरी सराय बदल ने में कोई रंज नहीं होता, उसी तरह एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाने के समय रंज न करना चाहिये मानलो देवदत्त एक ऐसे मकान में रहता है जो एक दम मैला है और जगह

जगह पानी चुता है और जिस में सिवाय दुःख के जरा भी आराम नहीं है। अगर उस के लिये उसका पिता सर्व सुख सम्पन्न एक नया मकान बनवादे और उसको आज्ञा देदे कि तुम उस नये मकान में चले जाओ तो देवदत्त को उस सड़े गले-मैले कुचैले मकान को छोड़ने में क्या दुःख होगा, कदापि नहीं, बल्कि महान प्रसन्न होगा। बस ऐसी सब बातों को विचार कर बुद्धिमान पुरुष एक शरीर छोड़ कर दूसरे में जाने के समय जराभी रंज नहीं करता। तब अर्जुन भगवान से पूछते हुए कि अगर हम कहें कि इस शरीर के सिवा और आत्मा है ही नहीं तो आप क्या कहेंगे।

(उत्तर) अगर देह के सिवाय देह में रहने वाला और कोई आत्मा न होता, तो ऐसा अनुभव न होता कि मैं पहले बचपन के छोटे से शरीर में था, इस समय जवानी के शरीर में हूं। मैं पहले जो जवानी के शरीर में था, अब बूढे बिगडे हुए शरीर में रहने वाला हूं, उसे ही बचपन, जवानी बुढाप आदि का अनुभव होता है। जिसे ऐसा ज्ञान और अनुभव है वह कोई चैतन्य वस्तु है और वह शरीर से जुदा है, क्योंकि शरीर अचेतन है उसे ऐसी अवस्थाओं की तब्दीली का ज्ञान नहीं हो सकता। बल्कि माँ के पेट से बाहर आते ही भूख आदि की शान्ति के लिये चेष्टा करता है। हंउसको पैदा होते अनेकप्रकार की चेष्टाएँ करते देखकर अनुमान होता कि शरीर में एक चेतन वस्तु है और वही अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण काम कर रहा है। क्योंकि शरीर जो अचेतन्य है ऐसी चेष्टाएँ नहीं कर सकता। शरीर का अर्थ यहां पर स्थूल, ढांचे, इन्द्रियों तथा मन से है। अब बचपन है, जवानी है तथा बुढापा है, यह ज्ञान शरीर इन्द्रियों तथा मन को नहीं होता, किन्तु यह ज्ञान का अनुभव एक और ही पदार्थ को होता है। और जिसे यह ज्ञान का अनुभव होता है वही चैतन्य और वही आत्मा है जिस का कभी नाश नहीं होता।

(प्रश्न) बचपन, जवानी, बुढापे इन अवस्थाओं में तो वास्तविक यह ज्ञान होता है कि मैं वही हुं मैं जो बचपन के शरीर में था वही जवानी और बुढापे में हूं। मगर मरने पर दूसरे शरीर में तो यह ज्ञान नहीं रहता, कि अमुक अमुक शरीर में रहने वाला मैं वही इस शरीर में हूं, इस से जान पड़ता है कि शरीर के साथ कोई आत्मा या चेतन्य वस्तु तो पैदा होता है पर शरीर के नाश होने के साथ वह भी नाश होजाती है। इस शंका को और समाधान कीजिये।

(उत्तर) माँ के पेट से निकलते ही बालक को हर्ष, शोक भय आदि होने लगते हैं। इस संसार का तो उस तत्काल के पैदा हुये बालक को जरा भी अनुभव नहीं होता, फिर वह क्यों रोता, हंसता और डरता है हंसने और रोने प्रभृति कामों से मालूम होता है। कि वह अपनी पहली देह छोड़कर इस नये शरीर में आया है। उसे अपने पहले जन्म की हर्ष, शोक भय पैदा करने वाली बातें याद हैं, इसी से वह हसता, रोता और डरता है। अगर हाल का पैदा हुआ बालक बिलकुल नया जन्म लेता यानी उसका पूर्व जन्म न हुआ होता अर्थात उसने पहले जन्म न लिया होता तो वह पैदा होते ही अपनी भूख बुझाने को मां के स्तनों में न लग जाता। यह नियम है कि चेतन प्राणी जो करते हैं अपनी भलाई बुराइ विचार कर करते हैं। बच्चे ने पहले अनेक बार जन्म लिये हैं। उसने प्रत्येक बार जन्म लेने के समय अपना शरीर पुष्टि के लिये माताओं के स्तनपान किये हैं, इस बार भी उसे अपने पहले जन्म की बात याद है, उसे स्तनों द्वारा दूध पाने का अनुभव है उसे दूध पीने से जो लाभ होगा उस का ज्ञान है, इसी से वह इस जन्म में पैदा होते ही बिना किसी के सिखाये बिना अनुभव किये ही स्तन पीने लगता है इस से प्रगट होता है कि इस हाल के पैदा हुए बच्चे के अन्दर चैतन्य

वस्तु आत्मा है, और वह पहले जन्म में भी था, उसी आत्मा ने अपने पहला पुराना शरीर त्याग कर नये शरीर में प्रवेश किया है। शरीर के साथ चैतन्य वस्तु आत्मा नाश नहीं हो जाता, वह पुराने शरीर को छोड़ कर नये नये शरीर धारण करता है। आत्मा तो वही एक है किन्तु शरीर बहुत से हैं, शरीर नाश हो जाते हैं मरते। आत्मा का कभी नाश नहीं होता।

सहन शीलता ज्ञान की एक अवस्था है।

इतना समझाने पर भी अर्जुन के मन में ऐसी ऐसी शंकाएं उठती हैं। (१) हे कृष्ण! आप ने जो कुछ कहा है बिलकुल सच है। आप के समझाने से मैं समझ गया, कि आत्मा अविनाशी है, और शरीर के नाश होने से जो हानि होती है वह कुछ भी हानि नहीं है, क्यों कि एक शरीर के नाश होने पर अच्छा नया ताजा शरीर मिल जाता है इस लिये भीष्म द्रोण आदि के लिये शोक करना वृथा है, क्योंकि उन का शरीर नाश होजायगा पर वे स्वयं नाश न होंगे परन्तु एक बात का दुःख मुझे अवश्य होगा कि मैं उन्हें देख न सकूंगा, उन्हें आलिंगन न कर सकूंगा और उन से बात चीत न कर सकूंगा, क्योंकि उन्हें देखने, मिलने जुलने और बात चीत करने से मुझे सुख होता है साथ ही उनका कटा फटा अंग हीन शरीर देख कर मुझे दुःख होगा।

(२) आप के समझाने से मुझे इस बात का तो निश्चय होगया कि इस शरीर के छोड़ने पर दूसरा अच्छा शरीर मिलेगा। परन्तु यह संदेह है कि दूसरा शरीर अच्छा मिले या बुरा मिले उसमें गरमी सरदी का आराम हो या न हो, ऐसे उत्तम उत्तम पदार्थ फिर उस देह में मिले या न मिलें, इसी कारण मुझे प्यारे पदार्थों की जुदाई के ख्याल से दुःख होता है, क्योंकि ये सब तो देह के नाश होते ही मुझ से छूट जायगे।

(३) हे कृष्ण ! आत्मा अविनाशी है, वह अनेक शरीर धारण करता है इस विषय में मुझे शंका न रही, किन्तु सारे शरीरों में एक ही आत्मा है यह समझ में नहीं आता। अगर सारे शरीरों में एक ही आत्मा होता तो यह सुख दुःख भी सारे शरीरों में एक साथ ही होते लेकिन जो आंखों से देखते हैं वह इस के विपरीत है, एक शरीर में सुख होने से सब में सुख नहीं होता और एक में दुख होने से सब में दुख नहीं होता, इस से मालूम होता है कि शरीर शरीर में भिन्न भिन्न आत्मा है. सब शरीरों में एक ही आत्मा नहीं है।

अर्जुन की उपरोक्त शंकाएं करीब करीब एक ही सी हैं भगवान उसका संदेह नाश करने के लिये कहते हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुख दुःखदाः।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

भा० पा०—शीतोष्ण या सुख दुःख दायी जो यहां संयोग हैं।
जो इन्द्रियों से बाह्य सृष्टि पदार्थ के सम्भोग हैं ॥
होते वही उत्पन्न हैं होता उन्हीं का नाश भी।
भारत ! उन्हें सह लो न आवे शोक जिससे पास भी ॥१४॥

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र ! इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्बन्ध होने से ही गरमी सरदी और सुख दुःख होते हैं। वे सदा कायम नहीं रहते आते हैं और जाते हैं। हे भारत ! तू उनको सह।

भावार्थ—इन्द्रियां जब शब्द आदि का अनुभव करती हैं यानी जब कान से शब्द सुनाई देता है, आंख से कोई चीज दिखाई देती है, त्वचा से जब बाहरी चीज का स्पर्श होता है, जीभ किसी चीज को चखती है, या नाक किसी चीज को सूंघती है तभी सुख दुःख अथवा गरमी सरदी

मालुम हुआ करती है, परन्तु यह जो इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध है। सदा नहीं रहता। गरमी-सरदी सुख और दुःख आया जाया करते हैं आज हैं तो कल नहीं ऐसी इन की हालत है, इस लिये तुम इन को धीरता से सहो।

आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा ये पांच इन्द्रिया हैं तथा रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श ये पांच विषय हैं, जब इन इन्द्रियों और इन विषयों का संयोग होता है। तब मनुष्यों को सुख, दुःख और गरमी सरदी मालूम होती है। जब आंख किसी रूपवती चीज को देखती है तब सुख मालुम होता है लेकिन जब वही आंख कुरूप, घृणा करने योग्य चीज को देखती है, तब दुख मालूम होता है, इस भांति जब हम कान से अच्छा गाना या सद उपदेश सुनते हैं तो सुख होता है और जब गाली-गिलोज या और कोई बुरी वात सुनते हैं तो दुख होता है, इसी तरह नाक, जीभ और त्वचा के विषय में समझिये। अगर हम आंखें बन्द रखें और कोई सुन्दर असुन्दर भली बुरी चीज न देखें, कान से कैसी भी अच्छी बुरी आवाज न सुनें तब हमें सुख दुख क्यों होने लगा। मगर संसार में ऐसा होना कठिन है। इसी तरह शेष इन्द्रियों और उन के साथ विषयों के सम्बन्ध को समझो। अब इससे साफ मालूम होगया कि जब इन्द्रियों और उन के विषयों का सम्बन्ध होता है, तभी सुख दुख और गर्मी सरदी जान पडती है।

अब यह सवाल पैदा होता है कि केवल इन्द्रियां और उनके विषय तथा उनका ज्ञान ही चाहे वह अच्छा हो या बुरा, क्या सुख दुख पैदा कर सकते हैं? नहीं, अकेले उन से ही यह काम नहीं हो सकता, उनके साथ अभिमान के उत्पन्न होने पर सुख दुख और गर्मी सरदी आदि होते हैं। यह अभिमान तीन तरीकों से पैदा होता है।

१ प्राणी पदार्थों को अच्छा समझे और इसी कारण से उन से प्रेम करें। (२) वह उन्हें बुरा समझे और उन से घृणा करें। (३) प्राणी ऐसा मूर्ख हो जावे कि वह शरीर मन और इन्द्रियों का आत्मा से चिरस्थाई सम्बन्ध समझे। ऐसी दशा में उसे अपने आत्मा और नाश मान चीजों में भेद न मालूम होगा। मतलब यह है कि जब इन्द्रियों और उन के विषयों तथा अभिमान का साथ होता है, तभी सुख, दुख आदि मालूम होते हैं।

क्या इस प्रकार पैदा हुए सुख दुख आदि आत्मा पर अपना असर करते हैं ? नहीं, आत्मा का सुख दुख आदि से कोई सम्बन्ध नहीं, सम्बन्ध अन्तः करण से है, गरमी सरदी आत्मा को नहीं मालूम होती, किन्तु अन्तः करण को मालूम होती है सुख दुख आदि पैदा होते हैं, और नाश होजाते हैं, अन्तः करण भी पैदा होता है और नाश हो जाता है जब दोनों का पैदा होना और नाश होना समान है इस लिये सुख और दुख आदि अन्तःकरण को ही होते हैं। आत्मा इन के विपरीत नित्य और आदि अन्त रहित है। उसका सम्बन्ध अनित्य और पैदा होने वाले तथा नाश होने वाले सुख दुखों से कदापि नहीं हो सकता कायदा है कि जिन दो वस्तुओं में भेद न होगा, वही दोनों आपस में मिलेंगी। श्रुति में भी कहा है "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" यानी यह आत्मा सब का साक्षी, चैतन्य, अद्वितीय तथा निर्गुण है जो आत्मा निर्गुण, निराकार तथा विकार रहित और नित्य है, उसे अनित्य सुख दुख नहीं घेर सकते। वे जैसे आप अनित्य हैं, वैसे ही अन्तः करण को घेरते हैं। अब ठीक समझ में आजायगा कि सुख दुख आदि धर्मों का आश्रय अन्तःकरण है, आत्मा से उन का कुछ सम्बन्ध नहीं। इन्द्रिय और मन रूपी उपाधियों से युक्त होकर आत्मा कर्त्ता और भोक्ता मालूम होता है, परन्तु ये सब धर्म अहङ्कार के हैं, कार्य

और कारण के भेद न होने से बुद्धि धर्म ही अहंकार धर्म होते हैं। उपाधि धर्म मिथ्या होने से न वह कर्त्ता है न भोक्ता है। अज्ञान से आत्मा का बंधन मालुम होता है, यह केवल भ्रम है, यह भ्रम ज्ञान से नाश होता है सारांश यह है कि अभिमान के कारण या विषयों और इन्द्रियोंके सम्बन्ध से सुख दुःख आदि पैदा होते हैं, और वह अन्तःकरण को मालूम होते हैं आत्मा का उनसे जरा भी सम्बन्ध नहीं।

यह पहले कह चुके हैं कि सुख दुःख आदि धर्मों का सम्बन्ध अंतः करण से है, किन्तु आत्मा से नहीं।

सब अलग अलग शरीरों में आत्मा तो एक ही है, किन्तु अंतः करण अलग अलग हैं। इसी कारण एक को सुख होने से सब को सुख और एक को दुःख होने से सब को दुख नहीं होता। "एकोदेवः सर्व भूतेषु गूढः" इत्यादि श्रुतियों से प्रगट होता है। कि आत्मा सारे शरीरों में एक है। इच्छा, संकल्प, संशय, लज्जा, भय आदि मन से संबंध रखते हैं। जो ऐसा समझते हैं कि आत्मा को सुख होता है आत्मा को दुख होता है तथा शरीर शरीर में अलग अलग आत्मा हैं वे भूल करते हैं। उन्होंने भगवान के श्री मुख से कहे हुए उपदेश पर विचार ही नहीं किया। भगवान पृथक पृथक समझा चुके हैं कि सुख दुःख आदि अनित्य हैं यानी सदा नहीं रहते आते और जाते हैं, पैदा होते और नाश होते हैं, इनका अन्तःकरण से सम्बन्ध है, आत्मा से नहीं। इस लिये मनुष्य को शोक-मोह न करना चाहिये सुख दुःख आदि को स्वप्न वत समझ कर सहन करना ही बुद्धिमानी है।

(प्रश्न) जो गरमी सरदी, सुख और दुःखों को सहन करता है, उसे क्या लाभ होता है। हे अर्जुन ! सुन-

(मू०) यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

(१२)

(भा० प०) नरश्रेष्ठ ! जो ज्ञानी पुरुष सुख दुःख सम हैं जानते ।
दुस्सह व्यथा को भी नहीं कुछ भी व्यथा जो मानते ॥
पाते वही अमरत्व-पद को है नहीं संशय यहां ।
है कौनसी ही सिद्धि जो आती न समदर्शी जहां ॥१५॥

अर्थ–हे पुरुषोत्तम ! जिस ज्ञानी "पुरुष" को सुख दुःख समान मालूम होते हैं और जिस धीर पुरुष को इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं करते । वह मोक्ष के योग्य होता है ।

भा०—वह मनुष्य जिसे सुख और दुःख समान हैं-जो सुख में सुख और दुःख में दुःख नहीं समझता, जो गरमी-सरदी आदि से अपने आत्मा को बिलकुल अलग समझता है, जो अपने आत्मा का नित्य होने का दृढ निश्चय करके शान्ति से गरमी-सरदी आदि को सहता है, वह मोक्ष पाने का अधिकारी होजाता है । तात्पर्य यह है कि जो मान अपमान, सुख दुःख आदि को पहले किये हुये कर्मों का भोग समझ कर शान्ति से सहता है और उनसे अपने आत्मा का हानि नहीं समझता वह ज्ञानी है और वही मोक्ष का अधिकारी है ।

(मू०) नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

[१३]

(भा० प०) रहता सदा अस्तित्व सत् का और असत् अभाव है ।
यों ज्ञानियों ने सत् असत् का कर दिया अलगाव है ॥

अतएव आत्मा सत्स्वरूपी का न होता नाश है ।
वस देह असत् स्वरूप का होता सदाही नास है ।१६।

अर्थ—हे अर्जुन ! असत् वस्तु का तो अस्तित्व नहीं है, और सत् का अभाव नहीं है, इस प्रकार ज्ञानी पुरषों ने इन दोनों का निर्णय कर दिखाया है ।

भावार्थ—तत्व ज्ञानियों ने भली भांति विचार कर देख लिया है कि जो चीज़ असत् है, वह यथार्थ में नहीं है, और जो सत् है, वह यथार्थ में है, उसका कभी नाश नहीं होता। जो चीज़ असत् है, असल में नहीं है—वह नाशमान है, लेकिन जो सत् है, असल में है—उसका कभी नाश नहीं हो सकता।

यह शरीर असत् है—यथार्थ में नहीं है—इसी से यह नाशमान है, किन्तु आत्मा सत् है—यथार्थ में है—इसी से उसका कभी नाश नहीं होता। भ्रम से यह देह ऐसी मालूम होती है, पर वास्तव में नहीं है अगर असल में यह ऐसी होती, तो यह सदा रहती। इसी भांति गरमी सरदी और उन के कारण भी असत हैं। उनका भाव उनकी सत्ता या उनका अस्तित्व नहीं है। यह गर्मी सरदी आदि जो इन्द्रियों द्वारा मालूम होती हैं, असत् हैं। क्योंकि ये गुण, रूपान्तर या विकार हैं, और प्रत्येक विचार अचिरस्थायी हैं अतः यह असत् पदार्थ हैं। इनके सामने में आत्मा सत् वस्तु है, क्योंकि उसका रूपान्तर नहीं होता। मालूम हुआ कि आत्मा सत्-यथार्थ वस्तु है, और गरमी सरदी आदि असत्-मिथ्या-पदार्थ हैं। सत् वस्तु का कभी नाश नहीं, और असत् पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है।

सारांश यह है कि केवल आत्मा ही सत् है, उसका ही नाश नहीं है, शेष जो कुछ है वह असत् है और वह सभी नाशमान है। आत्मा के अतिरिक्त संसार में जो सुख दुःख आदि तथा शरीर वगैरः दिखाई देते हैं वास्तव में वे कुछ नहीं हैं। रेतीले जंगल में जल न होने पर भी जल की शकल जिस तरह दीखती है, उसी तरह यह असल में कुछ न होने पर भी भ्रांति या भ्रम से असली चीज़ों की तरह दिखाई देते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी हैं जो सदा एक मात्र

सत्य के पीछे लगे रहते हैं वे रात दिन आत्मा-अनात्मा-सत्-असत् के ध्यान में
डटे रहते हैं। ऐसे ही तत्व ज्ञानियों ने सत्-असत् का पता भली भांति लगाया है।
हे अर्जुन! तू इन तत्व ज्ञानियों के मत पर चल शोक-मोह का त्याग कर और
शान्ति से गरमी-सरदी आदि द्वन्द्वों को सहन कर। हे अर्जुन! सत् क्या है, और
असत् क्या है, उसे सुन।

(मू०) अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

[१४]

(भा० प०) आत्मा अमर है देह स्वामी लोक वेद प्रसिद्ध है।
यह देह उसका नाशवान जानिए सब विधि सिद्ध है॥१७
इस अमर आत्मा की कहो, या देह नश्वर के लिये।
है शोक करना व्यर्थ भारत! उठ चलो रण के लिये १८

अर्थ—हे अर्जुन जिस से यह सारा जगत व्याप्त होरहा है, उसे तू **अविनाशी** समझ। उस अविनाशी का कोई नाश नहीं कर सकता। **शरीर में रहने वाला आत्मा** नित्य, अविनाशी और अप्रमेय है, किन्तु ये **शरीर जिस में** वह रहता है, नाशमान हैं, इस लिये हे भारत तू **युद्ध कर**।

भावार्थ—हे अर्जुन! जो इस तमाम दुनियां और आकाश में छारहा है। वह आत्म स्वरूप ब्रह्म है। वह ब्रह्म सत अविनाशी है। वह अक्षय है क्योंकि वह घटता बढ़ता नहीं। किसी चीज की कमी होजाने से वह कम नहीं होता, क्योंकि उस आत्मा की अपनी कोई चीज ही नहीं है। उस अक्षय-अविनाशी

ब्रह्म का कोई भी नाश नहीं कर सकता। मनुष्य की तो बात ही क्या है, स्वयं ईश्वर परम परमात्मा भी आत्मा का नाश नहीं कर सकता, क्यों कि आत्म ही स्वयं ब्रह्म है। कोई भी अपना नाश आप नहीं कर सकता। जबकि आत्मस्वरूप ब्रह्म सत-अविनाशी है, तब असत्-नाशवान् क्या है। अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान कहने लगे।

हे अर्जुन! आत्मा शरीर में रहने वाला है। शरीर उस के रहने का स्थान है। शरीर में रहने वाला आत्मा-निराकार निर्विकार है। आत्मा का कोई आकार नहीं है। उस में किसी प्रकार का रूपान्तर भी नहीं होता। वह सदा एकसा रहता है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होने के कारण बुद्धि पर्यन्त से जाना भी नहीं जाता। वह नाश रहित, नित्य अविनाशी है, किन्तु शरीर साकार है। उसकी घटनी बढ़नी होती रहती है, उस में रूपान्तर भी होता है, अतः वह नाशमान है। मतलब यह है कि शरीर में रहने वाले आत्मा का कभी नाश नहीं होता' किन्तु उस के रहने का स्थान शरीर नाश होजाता है। तब इस में दुःख की क्या बात है।

जब पुराना मकान टूट-फूट कर गिर जायगा, तब तो यह और खुशी की बात है, कि पुराने के बदले में नया मकान तो मिल गया इस लिये हे अर्जुन? तुझे जो शोक-मोह दुःख दे रहे हैं, वह तेरी ना समझी है। तू असल और नकल नाश रहित और नाशमान को नहीं समझता। यह शरीर वास्तव में कुछ नहीं है, ये सब धोखे की टट्टी है, इसे तू स्वप्नकी सी माया या बाज़ीगर का सा खेल समझ। अब सब भ्रम त्याग कर खड़ा हो और युद्ध कर। आत्मा का किसी काम से सम्बन्ध नहीं है। हे अर्जुन तू अपने मन में यह समझता है, कि भीष्म आदि मेरे द्वारा युद्ध में मारे जायँगे, मैं उन का मारने वला हूंगा, तथा उनके मारने का पाप तो मुझे अवश्य ही लगेगा, तेरा यह विचार झूठा है। किस तरह सो सुन।

(मू०) य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१६॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे २०

वेदाविनाशिनंनित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषःपार्थकं घातयतिहन्तिकम् ॥२१॥

(१५)

(शा० प०) है मारती आत्मा न कोई है उसी को मारता ।
आत्मा न मरती मारती यह ईश्वरीय उदारता ॥१९॥
आत्मा न लेती जन्म अथवा है कभी मरती नहीं ।
इक बार होकर फिर न हो होता भला ऐसा कहीं ॥

(१६)

अज नित्य शाश्वत अरु पुरातन वस्तु इस अब जानलो ।
देहान्त यदि हो जाय तो छुटी न इसको मानलो २०

देही अमर है देह नश्वर जानते तत्वज्ञ है ।
वे मारते मरते नहीं जो विज्ञ हैं मर्मज्ञ है ॥२१॥

अर्थ—जो यह समझते हैं कि आत्मा मरने वाला है और जो यह समझते हैं कि आत्मा मारा जाता है, वे मूर्ख हैं। आत्मा न तो किसी को मारता है और न आप मारा जाता है।

आत्मा कभी न जन्म लेता है, और न कभी मरता है। उसी भांति ऐसा भी कभी नहीं होता कि वह पहले न हो और बाद को हो या पहले हो और बाद को न हो, उसका जन्म ही नहीं होता वह सदा रहता है

उस में कमी नहीं होती और अधिकता भी नहीं होती। वह नया नहीं हुआ है बल्कि पुराना है शरीर के नाश होने पर भी उस का नाश नहीं होता।

हे अर्जुन! जो उस आत्मा को अविनाशी नित्य, अजन्मा और विकार रहित जानता है वह किसी को कैसे मार या मरवा सकता है।

भावार्थ—जो यह समझता है कि, यह आत्मा उस आत्मा को मारने वाला है, और जो यह समझता है कि यह आत्मा उस आत्मा से मारा गया है वे दोनों ही अज्ञानी हैं। उन्हें आत्मा के नित्य, अविनाशी होने में विश्वास नहीं है। अथवा जो समझता है—"मैं मारता हूं या देह के नाश होने पर समझता है" मैं मारा गया हूं, वह अहङ्कारी है। वे आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते और आत्मा के नित्य, अविनाशी होने की बातें भूल कर मूर्खता से "ऊटपटाङ्ग" बकते हैं। आत्मा न किसी को मारता है और न आप मारा जाता है। आत्मा कर्त्ता-कर्म भाव से रहित है। उस का किसी काम से सम्बन्ध नहीं है। जो ऐसा समझते हैं उन से पुन्य-पाप कोसों दूर भागते हैं। असल में आत्मा कुछ नहीं करता; इसी से हे अर्जुन? तू पुण्य पाप का ख्याल छोड़दे और युद्ध कर।

भगवान ने यहां यह दिखाया है कि आत्मा न पैदा होता है न कभी मरता है, उस की अवस्था में कोई फेर फार नहीं होता। मामूली बोल चाल में उसे "मरा हुआ" कहते हैं, जो एक बार होकर फिर नहीं होता, लेकिन आत्मा एक बार होकर फिर होता है। उसे पैदा हुआ कहते हैं लेकिन आत्मा ऐसा नहीं है, वह शरीर की तरह पहले न होकर नहीं होता। इसी से उसे अजन्मा कहते हैं। क्योंकि वह मरता नहीं है, इसी लिये उसे नित्य कहते हैं, उस के अंग-प्रत्यङ्ग नहीं हैं, इसी लिये वह घटता-बढ़ता नहीं। आत्मा जैसा प्राचीन काल में था वैसा अब है, और आगे भी वैसा ही रहेगा। वह सदा एकसा रहता है, शरीर के नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता। शरीर के रूपान्तर होने पर भी उसका रूपान्तर नहीं होता। पैदा होना, अस्तित्व, बढ़ना, रूपान्तर होना, घटना और नाश होना, ये छः "भाव विकार" कहलाते हैं।

यह छः देह के धर्म हैं। यानी शरीर पैदा होता है, बढ़ता है, बढ़ती है, उस में फेर फार होता है, तथा उसका नाश होता है, शरीर की ये छः अवस्थायें होता हैं। किन्तु आत्मा जैसा है वैसा ही रहता है, उस में कुछ भी फेर बदल नहीं होता। यानी दुनियां इन छः भाव-विकारों के अधीन है। लेकिन आत्मा इन सब विकारों से पृथक है।

भगवान ने इसी अध्याय के १६ के श्लोक में कहा है कि आत्मा न मरने की क्रिया का कर्त्ता है और न कर्म है और अगले श्लोक में अपने कथन का कारण यह बताया है कि आत्मा विकारों से रहित है अब वह यह सिद्धान्त निकालते हैं।

जो समझता है कि आत्मा अन्तिम विकार-मृत्यु से रहित अविनाशी है, जो समझता है कि वह रूपान्तर रहित सनातन है। जो समझता है कि यह जन्म और क्षय से रहित अजन्मा और अक्षय है भला ऐसा ज्ञानी किसतरह मारता और दूसरों से मरवाता है। ऐसा ज्ञानी न किसी को मारता और न मरवाता है। इस जगह भगवान ने जो यह कहा है कि ज्ञानी न किसी को मारता और न मरवाता है, इस से यह न समझना चाहिये कि वह केवल मारने और मरवाने का ही काम नहीं करता; सो नहीं भगवान ने यह तो केवल उदाहरण की बात कही है असल में उन के कहने का यह मतलब है कि आत्मा के विकार रहित होने के कारण से ज्ञानी कोई काम नहीं करता; यानी सभी कामों से दूर रहता है।

(शंका) भगवान यों कह कर के "कैसे ऐसा आदमी मार सकता है, ज्ञानी में कर्म का अभाव बताते हैं, यानी कहते हैं कि जिस भांति ज्ञानी मारने या मरवाने का काम नहीं करता, उसी तरह वह कोई भी काम नहीं करता, यह बात तो समझ में आगई मगर हमें इसका कोई विशेष कारण न मालूम हुआ।

(उत्तर) अभी कह आये हैं कि आत्मा विकार रहित होने के कारण वह सब कर्मों से अलग है, क्रिया-रहित है।

(शंका) ठीक है। यह बात तो पहले कही जा चुकी है परन्तु यह कोई यथेष्ट कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष और है और विकार रहित आत्मा और है। यानी विकार-रहित आत्मा से ज्ञानी पुरुष भिन्न है, कोई नहीं कह सकता कि जो आदमी किसी अचल पदार्थ को जान जाता है, वह कोई काम नहीं करता।

(उत्तर) यह शंका अनुचित है। ज्ञानी पुरुष आत्मा से जुदा नहीं है; यानी ज्ञानी पुरुष और आत्मा एकही है, उन में भिन्नता नहीं, विद्वता शरीर आदि के समुदाय से सम्बन्ध नहीं रखती, तो हमको मानना होगा कि ज्ञानी पुरुष और आत्मा एकही हैं। वह शरीर समुदाय के अन्तरगत नहीं है, और वह निर्विकार एवं स्थिर है। आत्मा के अविक्रितत्व रूप होने के कारण भगवान केवल मारने की ही क्रिया का निषेध नहीं करते लेकिन और सभी कामों का निषेध करते हैं, यानी ज्ञानी के पक्ष में कोई भी काम सम्भव नहीं ठहराते। उन का कहना है कि ज्ञानी केवल मारने का ही काम नहीं करता, बल्कि वह सब कामों से अलग है। वह एकदम क्रिया-रहित है। ज्ञानी के लिये कोई काम नहीं है।

बार बार कह चुके हैं, कि आत्मा विकार-रहित है, अचल है। विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां और बुद्धि इत्यादिक हैं। किन्तु लोग आत्मा को बुद्धि-वृत्ति से अलग न करके अज्ञान से विषयों का ग्रहण करने वाला समझते हैं। इसी प्रकार आत्मा में किसी भांति का फेर-फार न होने पर भी लोग अविद्या ही के कारण से उसे ज्ञानी समझते हैं। वास्तव में वह एक रस है। उस में कोई विकार-बद-बदल नहीं होता। इसलिये भगवान ने कहा है कि आत्मा न किसी क्रिया का साक्षात् कर्त्ता है और न प्रयोजक कर्त्ता है। वह आकाश की भांति अचल और सरल

है और किसी भी काम का करने वाला नहीं है। इसी कारण से ज्ञानी के लिये भगवान सब कामों का त्याग करते हैं और शास्त्र में जिन कामों के करने की आज्ञा है, उन्हें अज्ञानी के लिये ठहराते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानियों के लिये कोई काम नहीं है सारे काम अज्ञानियों के लिये हैं।

शंका: जिस भांति कर्म अज्ञानियों के लिये हैं। उसी भांति ज्ञान भी ज्ञानियों के लिये है। जिस तरह पिसे हुए को पीसना व्यर्थ है उसी तरह ज्ञानवान् को ज्ञान देना व्यर्थ है, इससे जान पड़ता है कि काम अज्ञानियों के लिये है, अथवा ज्ञानियों के लिये यह भेद बताना कठिन है।

(उत्तर) यह शंका ठीक नहीं है, किस के करने को कुछ है और किस के करने को कुछ नहीं है। इन दो बातों मे अलग-अलग भेद मालूम होजाता है। जैसे अज्ञानी को शास्त्र की आज्ञाओं के अर्थ समझ कर अग्निहोत्र इत्यादिक कर्म करने के लिये हैं। वह समझता है कि मुझे अग्निहोत्र वगैरः यज्ञ सम्बन्धी कर्म करने हैं. अतः उनके विषय की आवश्यक बातें मुझे जाननी चाहिये। इस के सिवा आगे वह कहता है। "मैं कर्त्ता हूं, मेरा यह धर्म है"। इस के विपरीत इसी अध्याय के बासवें श्लोक और उस से आगे के श्लोकों में आत्मा के वास्तविक स्वरूप के विषय में जैसा उपदेश पूर्ण बातें कही गयी हैं, उनको पूर्णतया जान लेने और समझ लेने पर कुछ भी काम करने को बाकी नहीं रहता; यानी जो आत्मा के वास्तविक—यथार्थ—स्वरूप को जान जाता है, और उसे अविनाशी, नित्य, सनातन, पुराण, निर्विकार आदि समझता है, समझता ही नहीं, बल्कि इस पर जो दृढ़ विश्वास करलेता है। उसे कोई काम करने को नहीं रहजाता। उस समय इसके सिवा कोई बात दिल में नहीं उठती, कि आत्मा एक है और वह अकर्त्ता है। अब रही उसकी बात जो आत्मा को

कामों का कर्त्ता समझता है जो ऐसा समझता है, उसके दिल में अवश्य यह विचार पैदा होगा, कि मुझे यह करना है, मुझे वह काम करना है। जिस मनुष्य की ऐसी समझ है, वही कर्म करने योग्य है। शास्त्रों में उसी के लिये काम करने की आज्ञा है। ऐसा आदमी जो आत्मा को कामों का कर्त्ता समझता है, अज्ञानी है। भगवान ने इसी अध्याय के १६ वें श्लोक में कहा है, जो यह समझता है कि आत्मा मारने वाला है, जो यह समझता है कि आत्मा मारा जाता है वे दोनों मूर्ख हैं। आत्मा न तो किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है। इसी अध्याय के २१ वें श्लोक में ज्ञानी की बात विशेष रूप से कही गयी है और उस के लिये "ऐसा आदमी कैसे मार सकता है।" इन शब्दों में कामों का निषेध किया गया है। इस वास्ते उस ज्ञानी पुरुष को जिसने निर्विकार, अजन्मा, नित्य, अकर्त्ता आत्मा को जान लिया है और पुरुष को जो एक मात्र मोक्ष चाहता है, केवल कार्यों का त्याग करना होता है, क्योंकि जो मोक्ष चाहता है अगर उस में अभी तक आत्मज्ञान का अभाव है, तो उसे शास्त्र आज्ञानुसार कर्म निस्सन्देह करने चाहियें, क्योंकि पुनः उस के ज्ञान योग में बाधा नहीं पड़ेगी। इसलिये भगवान, ज्ञानी-सांख्यों और अज्ञानी कर्म करने वालों को दो कक्षाओं में बांटते हैं, और दोनों के लिये दो अलग अलग मार्ग बताते हैं। इसी गीता के तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में भगवान सांख्य वालों को ज्ञान योग का और योगियों को कर्म-योग की राह बताते हैं। व्यासजी भी यहां भारत में भीष्म पितामह को उपदेश करते हैं कि अब दो राहें हैं, पहली कर्म करने की राह है, दूसरी इसके पीछे कर्म त्यागने की राह है। भगवान इसी भेद को वारंवार गीता शास्त्र में समझावेंगे क्योंकि कर्म-त्याग और कर्म करना अति गहन विषय है।

(शंका) "निर्विकार आत्मा का ज्ञान होना सम्भव है"। इस के सम्बन्ध में कुछ विद्याभिमानी ऐसा कहते हैं—किसी के दिल में यह

विश्वास पैदा नहीं हो सकता है, मैं अविनाशी आत्मा हूं, अद्वितीय हूं, अकर्त्ता हूं, जिन जन्म-मृत्यु इत्यादिक छः भाव-विकारों के अधीन सारा संसार है, "उनके अधीन मैं नहीं हूं," और ऐसा विश्वास होने पर ही सब कामों के त्याग की आज्ञा है।

(उत्तर) इस समय पर यह शंका ठीक नहीं है। अगर यही बात हो, तो शास्त्र का उपदेश वृथा होगा। आत्मा न जन्म लेता है न मरता है इत्यादि,—गीता के ऐसे ऐसे उपदेश बेकार रहेंगे। उन शंका करने वालों से पूछना चाहिये, कि धर्मशास्त्र में धर्म-अधर्म के अस्तित्व का ज्ञान, और धर्म-अधर्म करने वालों के मर कर जन्म होने की बात जिस तरह कही गयी, उसी तरह आत्मा के अविकार्य्य, कर्त्ता पन एकता इत्यादिक बातें क्यों नहीं कहा गयीं !

(विपक्षी) क्योंकि आत्मा तक इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय की पहुंच नहीं हो सकती।

(उत्तर) यह बात नहीं है धर्मशास्त्र तो कहता है कि "वह (आत्मा) केवल मनसे जाना जाता है"। मन, शम और दम से निर्मल होना चाहिये। जिस समय मन निर्मल होजाता है या जिस समय मनुष्य शरीर मन, और इन्द्रियों को वश में कर लेता है और गुरु तथा धर्मशास्त्र के उपदेशों से भजन-पूजन कर तैयार हो जाता है, उस समय वह आत्मा को देखने लगता है। शास्त्र और अनुमान से जब हम आत्मा की निर्विकारता का उपदेश पाते हैं, तब यह कहना कि ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता, आत्मा की निर्विकारता का ज्ञान होना असम्भव है, निरा अविचार या दुराग्रह है।

विद्वान को ज्ञान-योग का आश्रय लेना चाहिये। क्योंकि यह मानना ही होगा, कि इस प्रकार जो ज्ञान पैदा होता है, वही अज्ञान का नाश अवश्य करता है। इसी अध्याय के १६ वें श्लोक में भगवान अज्ञान के विषय में कहते हैं, वहां यह उपदेश दिया गया है कि आत्मा को मारने का क्रिया का कर्ता या कर्म करना अज्ञानता का फल है। यह बात मारने के अतिरिक्त और जितनी क्रिया हैं सब के सम्बन्ध में कही गयी है। क्योंकि आत्मा अविकार्य है। इसी लिये विद्वान या ज्ञानी किसी भी क्रिया का साक्षात या प्रयोजक कर्त्ता नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी का किसी काम से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उस के करने को कोई काम नहीं है।

(प्रश्न) तब उसे क्या करना चाहिये।

(उत्तर) इस का जवाब भगवान ने तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में दिया है कि सांख्यों को ज्ञान-योग का आश्रय लेना चाहिये। कामों के त्याग के विषय में भगवान ने पांचवें अध्याय के १३ वें श्लोक में कहा है—"शुद्ध अन्तःकरण वाला देह का मालिक-जीव-मनसे सारे कामों को त्याग कर न तो कुछ करता हुआ और न कुछ कराता हुआ नौ द्वार के नगर शरीर में सुख से रहता है।

(शंका) इस जगह शब्द "मन" से यह प्रकट होता है कि शरीर और वाणी के कामों का त्याग न करना चाहिये।

(उत्तर) नहीं उस जगह "सारे कर्मों की बात साफ साफ कही गयी है।

(प्रश्न) "सारे" शब्द से सारे मानसिक कामों से मतलब हासिल होता है।

(उत्तर) शरीर और वाणी के सारे कार्यों के पहले "मन" काम करता है। मन के पहले काम न करने की हालत में शरीर और वाणी के कामों का अस्तित्व ही नहीं होता।

(प्रश्न) तब उसे अन्यान्य सारे मानसिक-मन-सम्बन्धी कामों का त्याग कर देना चाहिये। केवल उनका त्याग न करना चाहिये, जिनकी शास्त्राज्ञानुसार शरीर और वाणी के कामों के करने के लिये जरूरत है।

(उत्तर) नहीं, इस जगह यह कहा है "न कुछ करता हुआ न कुछ कराता हुआ।

(प्रश्न) तबतो यह मालूम होता है कि भगवान ने जो सारे कामों का त्याग कहा है, वह मरते हुए मनुष्य के लिये कहा है, जीते हुए के लिये नहीं।

(उत्तर) नहीं, ये बात नहीं है, अगर यही बात होती तो ऐसा न कहा जाता "नौ-द्वार के-नगर-शरीर-में रहता है।" इस अवस्था में इस वाक्य से, कि 'वह मरते हुए मनुष्य के लिये कहा है' कुछ मतलब नहीं निकलता। कोई आदमी मरता हुआ, सारी चेष्टायें त्याग देने पर शरीरमें रहता हुआ नहीं कहा जा सकता।

सिद्धान्त यह निकलता है, कि जिसे आत्म-ज्ञान होजाय, केवल उसे त्याग का आश्रय लेना चाहिये। ऐसे आत्म-विद्या सीख लेने वाले को कामों की ओर झुकने की आवश्यकता नहीं। इस गीता के आगे के अध्यायों में जहां आत्मा का जिक्र होगा वहां यही बातें समझाई जायगी। प्रश्न होता ह कि आत्मा निर्विकार किसतरह है, तब भगवान कहते हैं। कि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही २२
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

(१७)

(भा०प० तजि जीर्ण वस्त्रों को यथा धारण मनुज करते नया ।
देही पुराना देह तज त्यों बदल लेता है नया ॥२२॥
आत्मा न कटती शस्त्र से जलती न पावक से कभी।
शोषण न होती वायु से गलती न जल से है कभी २३

अर्थ--जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपड़े फैंक कर नये कपड़े पहनता है उसी भांति शरीर के अन्दर रहने वाला आत्मा निर्बल-पुरानी देहों को त्याग कर दूसरी नवीन देह धारण करता है।

इस आतमा को शस्त्र छेद नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता, हवा सुखा नहीं सकती।

भावार्थ-जिस भांति मनुष्य इस जगत में, फटे-पुराने कपड़ों को अलग फैंक देता है, और उनकी जगह दूसरे नये कपड़े पहन लेता है उसी तरह संसारी आदमी के माफिक, शरीर के अन्दर रहने वाला आत्मा-पुराने शरीरों को छोड़ कर बिना किसी प्रकार के रूपान्तर के, दूसरे नये शरीरों में घुस जाता है।

कपड़े ही पुराने होते हैं, फटते-कटते हैं और मैले होते हैं, उनके रूप रंग इत्यादि का ही फेर-फार होता है किन्तु उन कपड़ों के पहन ने वाले

में कुछ भी तब्दीली नहीं होती। उसतरह शरीर ही पैदा होता है, शरीर ही घटता-बढ़ता है, शरीर ही पुराना और दुर्बल होता है, और उसका ही विनाश होता है। किन्तु शरीर रूपी कपड़े के पहनने वाले आत्मा में कोई विकार या फेर फार नहीं होता। इस से स्पष्ट समझ में आता है, कि शरीर और इंद्रिय आदि से आत्मा जुदा है। वह नित्य है, और सब विकारों से रहित निर्विकार है।

हे अर्जुन! अबतो तुझे आत्मा के अविनाशी और निर्विकार होने में कोई सन्देह न रहा होगा। और यह भी तैने खूब अच्छी तरह समझ लिया होगा कि आत्मा न किसी क्रिया का कर्त्ता है, न प्रेरक है, और न किसी क्रिया का कर्म है, आत्मा को न कोई घटा बढ़ा सकता, और न कोई उसे मारही सकता। हे अर्जुन? अब क्या तुझे आत्मा से शरीर के अलग होजाने का सोच है। अथवा यह सोच है कि न जाने भविष्य में दूसरा शरीर इस वर्त्तमान शरीर से अच्छा मिलेगा या बुरा। अगर तेरे मन में यह चिन्ता अभीतक लटक ही रही है, तो इस चिन्ता को भी छोड़। ऐसी बातों की चिन्ता तो पापियों को होनी चाहिये। धर्मात्मा पुरुषों को ऐसे सोच-फिक्र की आवश्यकता नहीं। क्योंकि धर्मात्माओं को उन के पुण्य के फल-स्वरूप अच्छे अच्छे देवताओं के शरीर मिलते हैं। उन्हें देव लोक में इस संसार के सुख-भोगों से भी उत्तम सुख-भोग मिलते हैं। जो लोग पाप और पुण्य दोनों करते हैं उन्हें इसी लोक में मनुष्य शरीर प्राप्त होते हैं, लेकिन पाप ही पाप करने वालोंको उनके पाप के अनुसार अधम-नारकीय शरीर मिलते हैं। पापियों को ही सांप, बिच्छू, मगर, अथवा मलके कीड़े आदि के शरीर मिलते हैं। जो ब्रह्म विद्या नहीं जानते और उत्तम उत्तम सुख-भोगों की अभिलाषा रखते हैं और उनको प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के धर्म-पुण्य आदि करते हैं, उन्हें उन के

पुण्य के अनुसार देव शरीर मिलते हैं। यदि वे एक और पुण्य करते हैं और साथ ही पाप भी करते हैं तो उन्हें मनुष्य शरीर मिलता है। मतलब यह है कि पापी और पुण्यात्मा सबको एक शरीर के बाद दूसरा शरीर अवश्य मिलता है। इस लिये शरीर के लिये अथवा अच्छे बुरे शरीर के लिये, सोच करना मनुष्य की नादानी है। ज्ञानी लोगतो मनुष्य-शरीर तो मनुष्य शरीर! शेष शरीर को भी पसन्द नहीं करते, शरीर न मिले इसके लिये ब्रह्म विद्या सीखते हैं, रात दिन ब्रह्म में लीन रहते हैं। ब्रह्म विद्या में पाराङ्गत होने वाले ज्ञानियों को शरीर बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। उन्हें परम पद-मोक्ष-मिलजाती है।

हे अर्जुन! भीष्म, द्रोण महापुरुष हैं। इन्हों ने सब अच्छे ही अच्छे पुण्य कर्म किये हैं। भीष्म ने अपने पिता के सुख के लिये जीवनभर कामदेव को अपने आधीन रखा, द्रोणाचार्य ने भी खूब तप कर के अपने शरीर को दुर्बल कर डाला। ऐसे महा पुरुषों को निस्सदेह उत्तम शरीर मिलेंगे। मगर जबतक वे लोग इस देह को न छोड़ेंगे, तबतक उन्हें उनके अच्छे कामों का फल नहीं मिलेगा। इसलिये उन के इन शरीरों का नाश होना ज़रूरी है। उन के यह वर्तमान शरीर उन के स्वर्ग-सुख-भोगों में रुकावट पैदा करते हैं। अतः हे अर्जुन! तू उनकी सच्ची भलाई पर दृष्टि रखते हुऐ उनके शरीरों का नाश कर डाल। ताकि वे आगे जाकर अच्छे-अच्छे शरीर पावें और अलौकिक सुख भोगें।

हे अर्जुन! इस विचार को छोड़दे कि यह मेरे हाथ से मारे जायंगे; यह कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि इस आत्मा के अङ्ग प्रत्यङ्ग नहीं हैं, इसलिये कोई भी शस्त्र इसे काट कर टुकड़े टुकड़े नहीं कर सकते; इसी

प्रकार आग भी जला कर इसे नाश नहीं कर सकती, पानी भी इसे गला नहीं सकता। जो चीज़ कितने ही हिस्सों के जोड़ने से बनती है, पानी अपने ज़ोर से गला गला कर उन हिस्सों को अलग अलग कर देता है, लेकिन आत्मा भाग रहित है, अतः पानी का भी इस पर कुछ काबू नहीं चलता। हवा जिस चीज़ में नमी होती है, उसे सुखा कर नाश कर डालती है, लेकिन आत्मा में यह बात नहीं है, इसलिये हवा भी इस का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती। अतः आत्मा सर्वथा निर्विकार है।

(मू०) अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

[१८]

(भा०पा०) कटती न जलती भीगती शोषण न होती है कभी ।
वह नित्य, स्थिर, है सर्वव्यापी, अचल और अनन्त भी॥२४
अज, निर्विकार, अचिन्त्य अरु अव्यक्त जिसको है कहा।
क्या उचित तुमको सोच करना है! उसी हित यों अहा!!

अर्थ—यह न तो काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, और न सोखा जा सकता है। यह नित्य, सर्व व्यापक, अटल, अचल और सनातन है।

कहते हैं कि आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, और अविकार्य है। इस लिये उसे ऐसा समझ कर तुझे शोक न करना चाहिये।

भावार्थ--इस आत्मा को कोई शस्त्र काट नहीं सकता, इस लिये यह नित्य है। यह नित्य है, इस लिये सर्व व्यापक है। यह सर्व व्यापक है,

इस लिये खम्भे की भांति अटल है। यह अटल है, इस लिये अचल है। यह किसी कारण से पैदा नहीं हुआ है, नया नहीं है, इसलिये यह सनातन है। यानी इस का आद-अन्त नहीं है।

भगवान ने इस अध्याय के २०वें श्लोक में आत्मा को सनातन, निर्विकार आदि कहा था। उन के बाद इन चार श्लोकों में भी यही बात घुमा फिरा कर समझाई है, नयी बात कुछ नहीं कही है, इस से पुनरुक्ति-दोष मालूम होता है। असल में इसे दोष न समझना चाहिये। आत्मा का स्वरूप बड़ी कठिनता से समझ में आता है। आत्मा को जानना सहज नहीं है, इस लिये भगवान ने एक ही बात को बारम्बार दूसरे-दूसरे शब्दों में कहते हैं, कि जिस से संसारी लोग किसी न किसी तरह तत्व की बात समझ जांय, और उन का संसार बंधन से पीछा छूट जाय।

हे अर्जुन ? आत्मा अव्यक्त—अप्रकट—मूर्त्ति रहित है, ज़ाहिर नहीं है और वह मूर्त्तिमान भी नहीं है, अतः उसे आंख से देख नहीं सकते। आंखही क्या, किसी भी इन्द्रिय से उसे हम नहीं जान सकते। वह अचिन्त्य है, इसलिये उसकी सूरत भी ध्यान में नहीं आती। जो चीज इन्द्रियों से जानी जाती है, उसी का मनुष्य ध्यान भी कर सकता है। लेकिन आत्मा सब इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है; अतः वह निस्संदेह अचिन्त्य है। वह अविकार्य है, उस में विकार या फेर-फार नहीं होता। वह कोई दूध ऐसी चीज नहीं है, कि उसमें जरासी दही मिलाने से उस की सूरत बदल जाय। वह इस कारण से भी अविकार्य है, कि उस में भाग नहीं है, उसकी तब्दीली होही नहीं सकती क्योंकि आत्मा विकार रहित है। आत्मा को नित्य, सर्व व्यापक, अटल, अचल, सनातन, अव्यक्त,

अचिन्त्य तथा अविकार्य समझ कर तू शोक को छोड़दे और यह भी मत समझ, कि तू इन का मारने वाला है, और वे तेरे द्वारा मारे जायँगे।

आत्मज्ञान इतना कठिन विषय है, कि भगवान के इतना समझाने पर श्री अर्जुन अपने मन में सोचता है कि आत्मा है तो नित्य, अविनाशी, मगर उसे यह चोला छोड़ने और नया धारण करने के समय दुःख तो जरूर ही होता होगा। इस युद्ध क्षेत्र में मृत्यु तो निश्चित है। अगर युद्ध में मेरे भाई बन्धु मारे गये तो वह निश्चय ही दुःखी होंगे, और इसी से मेरा शोक दूर नहीं होता। भगवान अर्जुन के मन की ताड़ गये, इसलिये अब आत्मा को नित्य न मान कर अर्जुन को समझाते हैं। कि—

(मू०) अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्माद् परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

[१९]

(भा० प०) यदि जन्मता मरता सदा है जात ऐसी मानलो।
तो भी महाबाहो! न करना शोक ऐसा जानलो २६
है जन्म पीछे मृत्यु निश्चित मृत्यु पीछे जन्म है।
जो जन्मता मरता वही मरता सो लेता जन्म है २८

अर्थ—अगर तू इस आत्मा को सदा जन्म लेने वाला और सदा मरनेवाला मानता है, तौभी, हे महाबाहो अर्जुन! तुझे शोक न करना चाहिये।

क्योंकि जो पैदा हुआ है वह अवश्य ही मरेगा और जो मरगया है वह अवश्य ही पैदा होगा। इसलिये तुझे इस अटल-अवश्यम्भावी बात पर सोच न करना चाहिये।

भावार्थ—हे अर्जुन! अगर तू साधारण लोगों की तरह, आत्मा को देह के साथ बारम्बार जन्मा हुआ और देह के नाश के साथ बारम्बार मरा हुआ समझता है, अर्थात् शरीर के पैदा होने के साथ आत्मा पैदा होता है और शरीर के साथ आत्मा भी नाश होजाता है, किन्तु उस के मरने और जन्म लेने का क्रम बराबर जारी रहता है। अगर तेरा ऐसा विचार है तो भी तुझे शोक न करना चाहिये, क्योंकि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु अटल है और जो मरगया है उसका जन्म लेना अटल है।

अगर इस स्थूल शरीर को ही आत्मा मानता है और समझता है कि यह शरीर बारम्बार मरता और पैदा होता है, तो इस अवस्था में भी तुझे शोक न करना चाहिये, क्योंकि तेरे इस विचार से ही साफ जाहिर है कि मरकर अवश्य ही जन्म लेना पड़ता है। इस हालत में भी मृत्यु और जन्म अटल है, मरना और जन्म लेना अवश्यम्भावी है, जो बात किसी तरह टल नहीं सकती, उस के लिये शोक करने की आवश्यकता ही क्या है।

तेरा यह विचार कि एकबार मरकर हमेशा को मरजाता है। ठीक नहीं है। क्योंकि मनुष्य पहले जन्म में जो बुरे भले कर्म करता है, उन के फल भोगने को जन्म लेता है और जो कर्म इस जन्म में करता है उनके फल भोगने को उसे अवश्य मरकर फिर जन्म लेना होता है। बिना कर्म फल भोगे पीछा नहीं छूटता। जिसे ज्ञान होजाता है, जो

आत्मा को कर्त्ता न मान कर कर्म करता हुआ देह छोड़ता है, वही एक बार मर कर सदा को तर जाता है, यानी फिर जन्म नहीं लेता। तात्पर्य यह है कि जबतक मुक्ति नहीं होती, तबतक उसे बारम्बार जन्म लेना और मरना ही पड़ता है। यही भगवान कहते हैं—

हे अर्जुन जिसने जन्म लिया है, उसकी मौत अवश्य होगी और जो मरगया है उसका जन्म अवश्य होगा। जन्म लेने वालों को तो हम अपनी आँखों से मरते देखते हैं अतः इस विषय में तो प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अब रही यह बात कि जो मरगये हैं, या मरेंगे उन्हें अवश्य दूसरा जन्म लेना होगा। क्योंकि उन्होंने अपने पहले जन्म के कर्मों को भोगने के लिये यह वर्तमान जन्म लिया था। जब उनके पहले जन्म के कर्मों का नाश होगया, तब वह मरगये। अब इस जन्म में जो उन्हों ने कर्म किये हैं, उन को बिना फिर जन्म लिये वे नहीं भोग सकेंगे। बिना कर्मों के फल भोग किये पिण्ड नहीं छूटता। अतः जो मरगये हैं या मरेंगे, उन्हें निश्चय ही जन्म लेना होगा और अपने इस वर्त्तमान जन्म के कर्मों के फल भोगने होंगे। इस से यह सिद्धान्त निकलता है कि जबतक जीव कर्म-बन्धन में बधा रहता है, जबतक उसकी मोक्ष नहीं होजाती, तबतक उसे बारम्बार उसे मरना और पैदा होना होता है। जन्म और मरण अवश्यम्भावी है। इन्हें कोई टाल नहीं सकता, इस का कोई इलाज नहीं। और जिस का इलाज नहीं जो अटल है उस का सोच करना मूर्खता के सिवाय और क्या है! अगर तू इन भीष्म, द्रोण आदि से नहीं लड़ेगा, तो भी ये तो अपने पूर्व जन्म के कर्मों के पूरे होजाने के कारण अवश्य ही मरेंगे। इन को अपनी इन देहों को अवश्य छोड़ना पड़ेगा। जब जन्म लेने वाले की मृत्यु अटल है, उसे कोई बचा नहीं सकता तो फिर शोक करने की आवश्यकता ही क्या है।

भगवान के इतना समझाने बुझाने पर अर्जुन मन में विचारने लगा कि आत्मा शरीर में रहने वाला नित्य, है-विकार रहित है और उस का नाश होता ही नहीं, अतः आत्मा का शोक करना वृथा है। मगर मुझे इन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और शब्दादि से बने हुये शरीरों का शोक तो अवश्य ही सतावेगा। भगवान अर्जुन के मन की बात जान कर आगे समझाते हैं। कि शरीर और आत्मा को तू अलग-अलग समझता है। और यह भी जानता है कि सब शरीरों में एक ही आत्मा है। आत्मा का न नाम है और न रूप है। जब आत्मा शरीर में आता है तब शरीर का नाम और रूप होता है। शरीर को ही चाचा, मामा, साला आदि, तथा अर्जुन युधिष्ठर आदि नामों से पुकारते हैं; इसलिये इन शरीरों के लिये तू शोक न कर। क्योंकि—

(मू०) अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

(२०)

(भा०प०) सब भूत ही आरम्भ में होते सदा अव्यक्त हैं।
हैं मध्य में वे व्यक्त होते मरण पर अव्यक्त हैं॥
सब की दशा है एक क्या होता न इसका अर्थ है।
भारत! भला फिर शोक तेरा क्या न करना व्यर्थ है २८

अर्थ—शरीरों का आदि अव्यक्त है, मध्य व्यक्त है, और उन का अन्त फिर अव्यक्त है। फिर उनके विषय में शोक करने की कौनसी बात है। यानी ये शरीर आरम्भ में नहीं दीखते, बीच में दीखते हैं, और अन्त में मरने बाद फिर नहीं दीखते फिर उनके लिये शोक क्यों करें। अथवा हे अर्जुन? पैदा होने के पहले भीष्म, द्रोण आदि का नाम, रूप कुछभी नहीं था, और मरने के

बाद भी कुछ न रहेगा; केवल अब बाच की हालत में नाम, रूप आदि दिखाई देते हैं। ऐसों के लिये शोक करने की क्या आवश्यकता है।

भा०—हे अर्जुन ! जिन को तू भीष्म, द्रोण, दादा, चाचा, बेटा, पोता इत्यादि कहता है, ये स्थूल शरीर हैं। ये सब पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, और आकाश-इन पांच तत्वों के योग से बने हैं। पैदा होने के पहले ये हमें नहीं दीखते थे, पैदा होने के बाद अब हमें दीखते हैं, इसी तरह मरने के बाद फिर हमें नहीं दीखेंगे। जो चीज आदि और अन्त में न दीखे केवल बीच में दीखे, उसे कुछ न समझना चाहिये। स्वप्न में जो चीज दिखाई देती है, वह स्वप्न के पहले और स्वप्न के बाद, जागने पर नहीं दिखाई देती। केवल बीच की स्वप्नावस्था में दीखती है। इसी भांति ये प्राणी आदिकाल और अन्तकाल में नहीं दीखते, सिर्फ मध्यकाल में जब पैदा होते हैं तब दीखते हैं। अब हरकोई समझ गया होगा कि बाप, दादा, चाचा, भाई समस्त सम्बन्धी तथा इष्ट मित्र आदि स्वप्न की सी चीजें हैं जो बात स्वप्न की चीजों में है, वही इन में भी है। स्वप्न की चीजों के लिये मूर्ख भी शोक नहीं करते, तब जो चीजें स्वप्न के समान हैं उनके लिये कौन शोक करेगा।

यह शरीर पांच तत्वों के योगसे बना है, नाश होने, मरने पर उन्हीं में मिल जायगा। यह पृथ्वी, अग्नि, जल आदि पांच तत्व भी जिस अव्यक्त चैतन्य से पैदा हुए हैं, प्रलय काल में उसी में मिल जायेंगे। बृहदारण्यक के चौथे ब्राह्मण में लिखा है कि यह जगत अपनी पैदायश के पहले नहीं दीखता था, सृष्टि-रचना के समय यह नाम और रूप से प्रकट हुआ जो अपने मध्य समय में सबको दीख रहा है, पीछे जिससे पैदा हुआ है उसी में मिलजायगा। जब इस सृष्टि आदि ही की कोई गिन्ती नहीं है, तब इन तुच्छ शरीरों की क्या बात है। खूब याद रखें संसार स्वप्न कीसी

माया है, असल में यह कुछ नहीं है, भ्रमसे ऐसा दीखता है। तु इसे ठीक मृग-तृष्णा के जल अथवा रस्सी के सांप के समान झूंठा समझ, और इस झूठे संसार के लिये कभी शोक न कर। महाभारत के स्त्री पर्व(२-१३) में भी ऐसी ही बात लिखी है—

"वह अव्यक्त से आया और उसी अव्यक्त में फिर चलागया वह न तेरा है और न तू उसका है। यह वृथा का शोक क्यों करता है।" जो चीजें बाजीगर की माया के समान पहले दिखाई नहीं देती, बीच में दिखाई देती हैं और अन्त में फिर नजर से गायब होजाती हैं, उनके लिये शोक किया जाय। आत्मा का समझना बड़ा कठिन काम है। यह कोई संसारी चीज़की तरह नहीं है, जो शीघ्र ही समझ में आजाय। आत्मा जल्दी समझ में क्यों नहीं आता। इसलिये—

(मू०) आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यं वदति तथैव चान्य।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति-
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

[२१]

(भा०प०) है देखता कोई इसे अनुपम अनोखा जान कर।
करते कथन हैं इस विषय में कुछ अलौकिक मानकर॥
सुनते तथा कुछ हैं इसे आश्चर्य-लीला जानते।
इन में बहुत ही कम इसे हैं तत्वतः पहचाते ॥२९॥

अर्थ—इस आत्मा को आश्चर्य जनक चीज़ की भांति देखता है? कोई इसे आश्चर्य जनक चीज़ की भांति बताता है, कोई इसे आश्चर्य जनक चीज़

की भांति सुनाता है; सुनकर, देखकर, कहकर भी कोई इसे ठीक ठीक नहीं समझता।

आचार्य—इस आत्मा को आश्चर्य जनक चीज की तरह-अद्भुत अजीब चीज की भांति, यकायक देखी हुई चीज के माफिक, अन देखी हुई चीज की तरह देखता है। दूसरा उसके विषय में ऐसी बातें कहता है मानों वह कोई विस्मय-कारक चीज है, कोई उसके विषय में इस तरह सुनता है, मानों वह कोई अद्भुत-चमतकार चीज है, पर उसको देखकर, सुनकर, और कहकर भी उसे कोई बिलकुल भी नहीं समझता। वह कोई लौकिक पदार्थ नहीं है, जो सहज ही समझ में आजाय। वह असल में अलौकिक और आश्चर्य पैदा करने वाली चीज़ है। वह अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य है; इसलिये वह इन्द्रिय तथा अन्तःकरण की पहुंच से बाहर है। उसका देखना, सुनना, कहना, जानना और अनुभव करना बड़ा कठिन है। जो आत्मा को आश्चर्य जैसी चीज की तरह देखता है, उसके विषय में कहता और सुनता है ऐसा आदमी हज़ारों में एक पाया जाता है, इस से मालूम होता है कि आत्मा का समझना बड़ा कठिन काम है।

माधवाचार्यकृत भाष्य में लिखा है कि जो इस आत्मा को अज और अविनाशी परमात्मा की भांति मूर्त्ति जानता है और इसको निश्चित रूप से उसी परमात्मा के अधीन समझता है, ऐसा आदमी ही सचमुच आश्चर्य है; यानी ऐसा आदमी का होना ही आश्चर्य की बात है। इसी भांति ऐसा आदमी जो उस (आत्मा) की चर्चा करता है, अथवा उस के बारे में सुनता है, निश्चय ही बड़ी कठिनता से कहीं मिलता है।

यों तो हर आदमी जब वह अपने ही आत्मा के विषय में सोचता और कहता है—"मैं" तब आत्मा को समझता हुआ मालूम होता है।

इस अवस्था में हम किस तरह कह सकते हैं कि आत्मा को जानने और समझने वाला बड़ी कठिनाई से मिलता है। मामूली तौर पर आत्मा के विषय की बातें चाहे कोई सुनसकता है, कोई देख सकता है, और उस की चर्चा भी करसकता है। लेकिन आत्मा का यथार्थ स्वरूप ठीक तरह पर और पूरी तरह से समझने और जानने वाला सचमुच ही बड़ी कठिनता से मिलता है, तब उस महामहिमावान प्रतापी ईश्वर और उसकी शक्तियों को समझने और जानने वाला कोई शायद ही मिले।

भगवानने इस अध्याय के ११ वें श्लोक से आत्मा और अनात्मा का विषय उठाया था अब वह इसे यहां ३० वें श्लोक में इस भांति समाप्त करते हैं।—और ३१ वें श्लोक में अर्जुन को दिखलाते हैं कि क्षत्रिय को युद्ध करना उचित है।

(मू०) देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितु मर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

(२२)

(भा०प०) सब प्राणियों की देह में देही निरापद है सदा।
करना न चहिये शोक इसको अमर जानो सर्वदा ३०
होना निरुत्साहित नहीं कहता तुम्हारा धर्म है।
कुछ धर्म-संगत युद्ध से बढ़कर न क्षत्रिय-धर्म है ३१

अर्थ—प्रत्येक प्राणी के शरीर में रहने वाला आत्मा सदा अवध्य है, इस लिये हे भारत! तुझे किसी प्राणी के लिये शोक न करना चाहिये।

अपने क्षत्रिय धर्म का विचार न करके भी तुझे युद्ध से न हिचकना चाहिये, क्यों कि क्षत्रिय के लिये धर्म युद्ध से बढ़कर कोई उत्तम काम नहीं है।

भावार्थ—चाहे किसी भी प्राणी का शरीर नाश क्यों न होजाय; किन्तु आत्मा का नाश कभी नहीं होसकता। तब तुझे किसी प्राणी के लिये चाहे वह भीष्म हो चाहे और कोई शोक न करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि आत्मा तो अविनाशी है उसका नाश कभी होही नहीं सकता इसलिये आत्मा का शोक करना अच्छा नहीं। रही शरीर की बात सो यह तो नाशमान है ही, एक न एक दिन अवश्य नाश होगा, इसका नाश होना अटल है, फिर इसके लिये भी शोक करने की क्या जरूरत है।

इस बात को विचार कर ही कि आत्मा-अविनाशी है, और शरीर का नाश होना अवश्यम्भावी है, तुझे शोक-मोह से अलग होना चाहिये पुनः युद्ध को भी क्षत्रिय का मुख्य-धर्म समझ कर तुझे शोक-मोह से रहित होना चाहिये। युद्ध से न हटना, लड़ाई में पीठ न दिखाना यह क्षत्री का परम-धर्म है। युद्ध को अधर्म समझ कर उस में अधर्म की झूठी कल्पना करके युद्ध से पराङ्मुख होना ही धर्म से गिरजाना है।

तूने कहा है कि अपने ही भाई-बन्धुओं को तथा रिश्तेदारों के मारने से मुझे दुःख होगा। भीष्म, द्रोण आदि को मैं त्रिलोकी के राज्य के लिये भी नहीं मार सकता। इन के मारने से भीख मांग कर रहना अच्छा है इत्यादि, तेरी इन बातों से जान पड़ता है कि तूने शास्त्रों की बातों पर जरा भी विचार नहीं किया अगर शास्त्रों पर विचार करता तो इस भांति ना समझी की बातें नहीं करता, तेरी इन पिछली बातों से साबित होता है कि तुझे शास्त्र-ज्ञान नहीं है। मनुने अपनी संहिता के ७ वें अध्याय में यही बात कही है।

समोत्तमाधमैराज्ञा चाहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्म मनुस्मृतं ॥
संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानाम् चैव पालनम् ।
शुश्रुषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥८८॥

प्रजाओं के पालन करने वाले राजा को अगर समान बलवाले अधिक बलवाले या कम बलवाले लड़ने को ललकारें; तो उसे अपने क्षत्रिय धर्मको सामने लेकर मुंह न मोड़ना चाहिये। युद्ध से न हटना, प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना ये तीनों काम राजा की बहुत ही भलाई करने वाले हैं। हे अर्जुन! इस तरह विचारने पर यही नतीजा निकलता है; कि तू अपने क्षत्रिय-धर्म का विचार कर युद्ध से मुंह न मोड़, क्योंकि युद्ध ही तेरा सर्वो परि धर्म है। इस में डरने, घबराने, और कांपने की कोई बात नहीं है क्षत्रिय के लिये युद्ध से बढ़कर और उत्तम कोई धर्म नहीं है।

(मू०) यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पाप मवाप्स्यसि ॥३३॥

(२३)

(भा०प०) हे पार्थ! है यह युद्ध स्वर्ग-द्वार ही बस खुलगया।
है भाग्यशाली क्षत्रियों के हित सु अवसर यह नया ॥३२॥
अतएव तुमने धर्म के अनुकूल युद्ध नहीं किया।
तो समझलो निज धर्म खो सिर पाप-पुञ्ज चढालिया ॥३३॥

अर्थ—हे पार्थ ? बिना परिश्रम के अपने-आप मिला हुआ, युद्ध करने का ऐसा मौक़ा खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है, ऐसा मौका भाग्यवान क्षत्रियों के ही हाथ लगता है।

लेकिन तू अगर इस धर्म युद्ध में नहीं लड़ेगा तो स्वधर्म और कीर्त्ति से हाथ धोकर पाप का भागी बनेगा।

भावार्थ—हे अर्जुन ! बिना तेरी किसी प्रकार की चेष्टा के दैव योग से ऐसा युद्ध का मौका तुझे मिला है। अगर इस युद्ध में तू जीतेगा तो तुझे सारी पृथवी का राज्य और यश मिलेगा और अगर तू लड़ता हुआ मरगया तो बिना रोक-टोक स्वर्ग में जायगा तू पुण्यमान है इसी से तुझे ऐसा मौका मिला है। ऐसा मौक़ा हाथ से न गँवा।

क्योंकि तू क्षत्रिय है, क्षत्रिय का मुख्य धर्म लड़ना है। युद्ध का मौका भी तेरे हाथ खूब लगा है। अगर इस मौके पर तू न लड़ेगा तो तेरा क्षत्रिय धर्म नाश होजायगा। साथही जो तैंने देश-देशान्तर के महा बली मही पालों को पराजित करके तथा साक्षात् ईश्वर किरात रूपी महादेवजी से युद्ध करके जो अचल कीर्ति प्राप्त की है, वह मिट्टी में मिल जायगी। इस के सिवाय सब कुछ गँवाकर भी तुझे उल्टा पाप का भागी बनना होगा। तेरे लड़ने न लड़ने पर ही युद्ध रुक नहीं जायगा। दुर्योधन आदि तो बिना लड़े नहीं मानेंगे। वह लोग तेरे मारडालने में कोई घात उठा न रखेंगे। अगर तुझे वे लोग मारडालेंगे तो सारी पृथ्वी का राज्य वे खटके करेंगे और साथ ही तेरे किये हुए पुण्यों के भागी होंगे। तू अपना धर्म अपनी कीर्ति खोकर उनके किये हुए पापों का भागी होगा। मनुने अपनी संहिता के ७ वें अध्याय में कहा है। कि—

यस्तु भीतः पराावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥७४॥

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थं मुपार्जितम् ।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तस्य हस्य तु ॥७५॥

लड़ाई के मैदान से डरकर भागा हुआ पुरुष अगर शत्रुओं द्वारा मारा जाता है तो वह मारने वाले के सब पापों का भागी बनता है। लड़ाई से भागकर मारे जाने वाले पुरुष ने स्वर्ग आदि पाने की कामना से जो पुण्य-कर्म किये थे उनका मालिक मारने वाला होता है।

इन सब बातों पर गौर कर के तू युद्ध से मुंह न मोड़। युद्ध से विमुख होने पर तू अपने धर्म और अपनी सञ्चित कीर्त्ति से ही हाथ न धोयेगा। और भी कितनी ही बुराइयां होंगी।

(मू०) अकीर्त्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादति रिच्यते ॥३४॥

[३४]

(भा०प०) इतनी नहीं दुष्कीर्ति की लग जायगी वह कालिमा।
जो सर्वथा देगी मिटा पूर्णेन्दु सी यह लालिमा ॥
दुष्कीर्ति गाई जायगी तेरी सदा इस लोक में।
फिर तो पड़ोगे मृत्यु से बढकर अयश के शोक में ३४

अर्थ—मनुष्य सदा ही तेरी निन्दा किया करेंगे। भले आदमी को तो निन्दा मरण से भी अधिक दुखदाई है।

भावार्थ—अगर तू नहीं लड़ेगा, तो दुनियां के लोग सदा तेरी बद-नामी करेंगे। लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर था, इसी से लड़ाई के मैदान से प्राण लेकर भाग गया। जो दुनियां में अद्वितीय वीर, धर्मात्मा और अनेक उत्तम-उत्तम गुणों वाला समझा जाता है, और जिसको

संसार मान की दृष्टि से देखता है, ऐसे आदमी के लिये बदनामी उठाने से मरना अच्छा है। इसके अतिरिक्त—

(मू०) भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

[३५]

(भा०प०) डरकर विमुख रण से हुआ, यों शूर सब कह पायेंगे ।
बहुमान्य तेरी योग्यता कम समझने लग जायेंगे ३५
योंही अनेकों व्यंग बातें शत्रु तेरे विषय में ।
कह कह तुम्हें धिक्कार देंगे दुखित होंगे हृदय में ३६

अर्थ—महारथी लोग समझेंगे कि, अर्जुन डरकर रण से भाग गया। जो लोग आज तुझे मानते हैं, उन्हीं की दृष्टि से तू गिर जायगा।

तुम्हारे शत्रु तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए, तुम्हारे ऊपर न कहने योग्य बातों की बौछार करेंगे, और भांति भांति के दुर्वाक्य सुनावेंगे, तब इस से बढ़कर और क्या दुःख होगा।

भावार्थ—अर्जुन ! अगर तू युद्ध न करेगा, तो दुर्योधन आदि महा-रथी समझेंगे कि अर्जुन दया के मारे नहीं, किन्तु कर्ण आदि के भय से ही युद्ध से मुंह मोड़ गया, जो ऐसा समझेंगे वे कौन हैं? ये वही आदमी हैं जो आज तुझे उत्तमोत्तम गुणों से युक्त समझते हैं। जिनको तेरी याद आने पर दुःख से रात को नींद नहीं आती; जिनकी नजरों में आज इतना ऊंचा चढ़ा हुआ है उन्हीं की नजरों में तू नीचा हो जायगा।

दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, जयद्रथ आदि शत्रु तेरे पराक्रम की हँसी उड़ावेंगे, और कहेंगे कि अर्जुन की क्या ताकत जो हम लोगों का सामना करे। वह नीच है, नामर्द है, इसी से रणक्षेत्र से मुंह मोड़कर भाग गया। भीष्म, द्रोण आदि के मारने से जो दुःख होगा, वह सब बदनामी के दुःख के सामने कोई चीज़ नहीं है। शत्रु जिस प्रतिष्ठित पुरुष की हंसी करें, ताने मारें, और तरह तरह की भद्दी बातें कहें, उस के लिये तो जीने से मरना हजार दर्जे भला है; क्योंकि इस तरह की बदनामी के दुःख से बढकर कोई दुःख ही नहीं है। इसलिये—

(मू०) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

[२६]

(भा०प०) मर सुरपुरी जाओ नहीं तो राज्य ले भोगो मही।
अच्छी यही अर्जुन! उठो निश्चय करो तुम युद्ध ही॥३७
सुखदुःख लाभालाभ, जय अरु हार को सम मानकर।
निश्चय करो तुम युद्ध भारत! कठिन प्रण अस ठानकर ३८

अर्थ—यदि तू युद्ध में मारा गया तो तुझे स्वर्ग मिलेगा, और अगर जीत जायगा तो तुझे पृथ्वी का राज्य-भोग मिलेगा; इसलिये हे अर्जुन युद्ध के लिये पक्का विचार कर उठ।

सुख दुःख, लाभ-हानि और हार-जीत को समान समझकर युद्ध की तैयारी कर, इस तरह युद्ध करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

भावार्थ—हे अर्जुन ! इसयुद्ध में तेरे दोनों हाथ लड्डू हैं। हार में भी तेरी भलाई और जीत में भी तेरी भलाई है। अगर इस युद्ध में तू मारा जायगा तो स्वर्ग के सुख भोग भोगेगा। यदि कर्ण आदि महारथियों को इस युद्ध में परास्त करके मारडालेगा तो निष्कन्टक होकर इस सारी पृथ्वी का राज भोगते हुए सुख-चैन करेगा। जय-पराजय दोनों में तेरा लाभ है। इसलिये यह विचार कर कि या तो मैं शत्रु को जीतूंगा या मरजाऊंगा, लड़ने के लिये तैयार होजा।

क्योंकि सब दुःखों का कारण नफ़ा-नुकसान है और नफ़ा नुकसान का कारण हार-जीत है, तू इन सुख दुःखों को समान समझ। सुख की चाह न रख और दुख में नफ़रत मत कर। इस तरह अपना मन साध कर और लड़ने को अपना धर्म समझकर बिना किसी कामना के लड़। इस तरह राग-द्वेष रहित होकर युद्ध करने से तू पाप का भागी नहीं होगा।

अर्जुन के मनमें इस उपदेश को सुनकर शंका होती है। कि पहले तो भगवान ने ज्ञानी के लिये सबप्रकार के कर्म करने को मना किया है, और इस जगह कहते हैं, कि तू अपने को किसी भी कर्म का न करने वाला और उसके फल का न भोगने वाला समझकर बिना किसी कामना के युद्ध कर। कहीं कहते हैं, काम करना अनुचित है, और कहीं कहते हैं कि काम करना उचित है। एकही आदमी कर्म न करने वाला और करने वाला कैसे हो सकता है! एकही आदमी में एकही समय में दोनों प्रकार का ज्ञान असम्भव है। रात और दिन क्या एकसाथ हो सकते हैं। जिसतरह अँधेरा और उजेला एकसाथ नहीं हो सकता। इसी तरह कर्म करना और कर्म त्यागना एकही आदमी में एकही समय में नहीं होसकता। भगवान अर्जुन के मनकी शंका समझ कर यह दिखाते हैं कि

एकही पुरुष को विद्वत्ता और मूर्खता के भेद से दोनों प्रकार के उपदेश एकही समय में दिये जा सकते हैं।

इस अध्याय के १० वे श्लोक तक तो अर्जुन और भगवान का कथोप-कथन है। इन श्लोकों में शोक-मोह के अधीन होकर अर्जुन ने राज-पाट से घृणा और इसी वजह से लड़ने से इन्कार किया है। भगवान ने उसका शोक मोह दूर करने के लिये ११ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक आत्मज्ञान का उपदेश दिया, क्योंकि वह ज्ञान-रूप-बुद्धि, जन्म-मरण आदि सब अनर्थों से बचाती है। ३१ वें से ३८ वें श्लोक तक दुनियवी विचारों से समझाया है। लेकिन इस मौके तक दोनों भांति समझाने पर भी अर्जुन का मन शुद्ध नहीं हुआ। उसके मनका वहम नहीं मिटा। शंकाओं ने उसका पिण्ड नहीं छोड़ा। इसलिये उन्होंने समझलिया कि अर्जुन का मन मलीन है। अभी वह आत्मज्ञान को नहीं समझ सकता। पहले इसका अन्तःकरण निर्मल होना आवश्यक है। क्योंकि कोई भी नीचे की सीढ़ियों को छोड़कर एकदम ऊपरकी सीढ़ी पर चढ नहीं सकता। जिसतरह प्रथम कक्षा का विद्यार्थी बिना मिडिल पास किये नार्मल का कोर्स पढने योग्य नहीं होता। इसलिये वे पहले अर्जुन का मन शुद्ध करने के लिये अब ४० वें श्लोक से कर्मयोग का उपदेश करते हैं। क्योंकि कर्मयोग के उपदेश से अर्जुन का अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा तब वह ब्रह्मज्ञान को समझने लगेगा। क्योंकि कर्मयोग के बिना मन शुद्ध नहीं होता, और बिना मन शुद्ध हुए आत्मज्ञान का उपदेश असर नहीं करता। अतः प्रथम अज्ञानी को कर्म-योग का उपदेश करना उचित हैं। यहां यह बात भी सिद्ध होती है, कि भगवान ज्ञानियों को जिनका मन शुद्ध है और जिन्हें ब्रह्मज्ञान होगया है कर्म करने से मना करते हैं. लेकिन जिनका मन शुद्ध नहीं है उनको कर्म करने के लिये

कहते हैं। ऐसे लोगों को निष्काम कर्म योग का उपदेश उचित समझ कर भगवान अब कर्म-योगकी राह दिखाते हैं। इसी स्थान पर भगवान ने दो मार्गों की नींव डालदी है। जिस का जिक्र तीसरे अध्याय के ३ रे श्लोक में होगे। इस तरह दो हिस्से करदेने से गीता शास्त्र सबकी समझ में सुगमता से आवेगा। भगवान कहते हैं—

(मू०) एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

[२७]

(भा० प० , यह सांख्य मत अनुसार तुमको बुद्धि बतलाई गयी।
हे पार्थ ! सुनलो मैं सुनाता बुद्धि तुमको इक नयी॥
तुम कर्म-बन्धन-मुक्त होगे युक्त हो जिस ज्ञान से।
वह कर्म योग सुमंत्र कहता हूं सुनो तुम ध्यान से ३९

अर्थ—हे अर्जुन ? यह मैंने तुझे आत्मज्ञान बताया, अब कर्म-योग को भी सुन, जिस से ज्ञान प्राप्त होकर तू कर्म-बन्धनों से छुटकारा पाजायगा।

भावार्थ—हे अर्जुन ! अबतक जो कुछ मैंने तुमसे कहा है वह आत्मज्ञान सांख्य बुद्धि से सम्बन्ध रखता है। आत्मज्ञान से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होजाता है। आत्मा के असल स्वरूप के न जानने से ही शोक और मोह में फसना होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान होने से संसार-बन्धन और शोक-मोह आदि विकारों से पीछा छूट जाता है। लेकिन आत्मज्ञान सहज में नहीं होता इसलिये अब मैं तुझे कर्म-योग का उपदेश करता हूं क्योंकि कर्म योग आत्मज्ञान का द्वार है कर्म-योग आत्मज्ञान की कुन्जी है। जो तू इस कर्म योग को जो

आत्मज्ञान का जरिया है। भली भांति समझ जायगा, और इसपर चलने लगेगा, तो तेरा चित्त शुद्ध होजायगा। धर्मा धर्म पाप पुण्य आदि कर्म बन्धनों से तेरा छुटकारा होजायगा। कर्म बन्धनों से अलग होने पर ईश्वर कृपा से तुझे आत्मज्ञान की प्राप्ति होजायगी, फिर तुझे जनम-मरण आदि से छुट्टी मिल जायगी।

(शंका) यज्ञ आदि जब काम्य कर्म पूरे होजाते हैं। तब फल मिलता है। और यदि विघ्न आदि होने से वे अधूरे रहगये, तो सब किया कराया मिट्टी होजाता है, पुनः कुछ भी फल नहीं मिलता। अगर इसी तरह मेरा कर्म योग पूरा नहीं हुआ, विघ्न पडगये तो सब किया कराया वृथा होजायगा।

(उत्तर) इस कर्म योग में ऐसी बात नहीं है। क्योंकि योग सुरक्षित मार्ग है।

(मू०) नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

[२८]

(भा०प०) आरम्भ कृत शुभ कर्म का इसमें न होता अन्त है।
आते न विघ्न भविष्य में इस योगका सिद्धान्त है॥
इस धर्म का पालन मनुज कुछ अंश में भी यदि करें।
रक्षा सदा होती रहे सब कठिन विपदायें टरें ॥४०॥

अर्थ—इस में जो परिश्रम किया जाता है, वह व्यर्थ नहीं जाता, और इस में पाप लगता है। यह धर्म थोडासा भी, बडे भारी भय से रक्षा करता है।

भावार्थ—खेती में हल जोतते हैं, बीज बोते हैं, पानी देते हैं, और भी अनेक कष्ट उठाते हैं। अगर फल काटने के पहले ही पाला मारजाय, पानी की बाढ आजाय, समय पर वर्षा न हो या टिड्डी आजाय तो सब किया कराया परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। उस समय बड़ों कष्ट का सामना करना पडता है। परन्तु हे अर्जुन! इस कर्म योग में ऐसी कोई भी बात नहीं होती। इस में जो थोडा भी काम किया जाता है वह बेकार नहीं जाता। इस में किया हुआ काम अधूरा रहने पर निकम्मा नहीं होजाता। इस में जितना काम किया जाता है, उतना फल अवश्य मिलता है। जिस तरह मन्त्र आदि जपने में भूल होजाने से मन्त्र जपने वालों को पाप लगता है अथवा रोगों को भूल से अच्छी तरह बिना समझे बूझे वैद्य के दवा देने से अक्सर रोगी का प्राण नाश हो जाता है। उस तरह इस में न कोई पाप लगता और न कोई नुकसान होता है। तब क्या नतीजा निकलता है। इस योग के मार्ग में इस धर्म में थोडे से थोडा कर्म भी किया जाय वह मनुष्य को संसार से जन्म मरण के भारी भय से बचाता है। मतलब यह है, कि योग मार्ग में किसी प्रकार का भय और हानि नहीं है, इसी से इस राह को सुरक्षित मार्ग कहते हैं।

(मू०) व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

[४१]

(भा०प०) व्यवसाय बुद्धि एकाग्र होनी चाहिये इस धर्म में।
फिर जान कुरुनन्दन! पडे अन्तर अकर्म सुकर्म में॥

होती न निश्चयता जिन्हें इस भांति अपनी बुद्धि की।
खाते वही चक्कर कहें क्या बात उस दुर्बुद्धि की ॥४१॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन ! इस मोक्ष मार्ग में निश्चय स्वरूपिणी बुद्धि एक है जिन का निश्चय दृढ नहीं है उनकी अनन्त शाखा वाली अनन्त बुद्धियां हैं।

भावार्थ—हे अर्जुन ! सांख्य बुद्धि से मनुष्य की मोक्ष होजाती है। इसी भांति योग बुद्धि से निष्काम, ईश्वरोपासना आदि करने पर अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञान होने पर मोक्ष होजाती है। इस तरह सांख्य बुद्धि और योग बुद्धि से एक ही फल मोक्ष मिलता है। जब सांख्य सम्बन्धी और योग सम्बन्धी बुद्धि से एकही फल मिलता है, तब वह बुद्धि एकही है, क्योंकि दोनों का काम एकही आत्मा का निश्चय करना है। यह बुद्धि ज्ञान के सच्चे उत्पत्ति स्थान वेद से पैदा होती है। अतः यह (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मक है। यह निश्चल बुद्धि, निर्दोष स्थान से पैदा होने के कारण अपनी विपक्षी अनेक शाखा वाली बुद्धियों का नाश कर देती है। यह निश्चल बुद्धि एक और सब से उत्तम है, क्योंकि इस बुद्धि वाले को परम पद मोक्ष मिलजाती है। इस निश्चल बुद्धि के विपरीत जो अनेक प्रकार की अनेक शाखा वाली बुद्धियां हैं वह ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार काम करने से मनुष्य सदा संसार बन्धन में बंधा रहता है। इस दुःख से उसका पीछा कभी नहीं छूटता, लेकिन जब यह निश्चल बुद्धि अपनी विपक्षी, अनन्त प्रकार की बुद्धियों का नाश करके अकेली रहजाती है, तब यह मनुष्यों को संसार सागर से पार कर के परम पद को पहुंचा देती है। तात्पर्य यह है कि जो निश्चल मति है, उनकी बुद्धि एक है और वह कर्म-योग द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके आत्मज्ञान को प्राप्त होजाते हैं, और सब विकारों से छूट कर परमानन्द-

स्वरूप ब्रह्म में मिल जाते हैं। लेकिन अनेक शाखा वाली बुद्धियों के लोगों की मति एक जगह नहीं ठहरती. वे अनेक मार्गों पर भटकते फिरते हैं और अन्त में वे निश्चयात्मक स्थान पर नहीं पहुंचते। एवं कामियों के लिये कोई बुद्धि नहीं है।

(मू०) यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म फल प्रदाम् ।
क्रियाविशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयाऽपहृत चेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

[३०]

(भा०प०) हे पार्थ ! वेद-वाक्य में इस स्थान में कुछ भूल है ।
या है नहीं अतिरिक्त इसके जो कहें निर्मूल है ॥४२॥
शुभ यज्ञ आदिक कर्म से, कहना महा अत्युक्ति है ।
मिलता सदा है जन्म अरु मिलती सदा ही भुक्ति है ॥

[३१]

कामी पुरुष जो चाहते बस स्वर्ग की हैं सम्पदा ।
या भोग अरु ऐश्वर्य में जो मस्त रहते हैं सदा ॥४३॥
रहती न उनकी बुद्धि थिर वे जान सकते हैं नहीं ।
वे कार्य और अकार्य को पहचान सकते हैं नहीं ॥४४

अर्थ—जो वेद के रोचक वाक्यों पर लट्टू हैं, जो कहते हैं, कि इस के सिवा और कुछ नहीं है, जो इच्छा से भरे हैं, जो स्वर्ग को परम पुरुषार्थ मानते हैं, वे मूर्ख हैं।

वे कहते हैं कि कर्मों के फल से जन्म मिलता है, और यज्ञ आदि क्रियाओं को करने से ऐश्वर्य्य तथा सुख की प्राप्ति होती है।

जो लोग सुख और ऐश्वर्य्य में आसक्त हैं, जिनका चित्त ऐसी मीठी-मीठी बातों में बहका हुआ है, उन के अन्तःकरण में निश्चय स्वरूपिणी बुद्धि नहीं होती यानी उनकी बुद्धि आत्मा के साक्षात्कार में स्थिर नहीं होती।

भावार्थ—जो मूर्ख हैं, विचार हीन हैं वे वेदों के बाहरी अर्थ में लगे रहते हैं, सच्चे ज्ञानकी ओर ध्यान न देकर वे अपने मतलब का अर्थ वेदकी ऋचाओं से निकालते हैं। वे कहते हैं कि कर्म्मों के सिवाय और कुछ है ही नहीं। कर्म्मों के करने से ही स्वर्ग, धन, पुत्र आदि इच्छानुसार पदार्थ मिलते हैं। वे रात दिन इच्छाओं में डूबे रहते हैं, इच्छा को ही आत्मा समझते हैं, यानी अपनी इच्छा से बढ़कर किसी चीज़ को नहीं समझते। वे लोग स्वर्ग को अपना मुख्य और शेष अभिप्राय समझते हैं; यानी वे लोग यज्ञ, हवन, ईश्वरोपासना आदि जो करते हैं, वह स्वर्ग पाने की इच्छा से करते हैं। उनके मुंहसे जो शब्द निकलते हैं, वे फूल वाले वृक्ष के समान सुन्दर होते हैं जिनके सुनने से चित्त प्रसन्न होता है, उनका कहना है कि कर्म्मों के फल से जन्म होता है। वे लोग स्वर्ग, धन, धान्य, सन्तान और सुख तथा ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के अग्निहोत्र, यज्ञ आदि बताते हैं। वे मूर्ख लोग ऐसी ऐसी बातें बनाते हुए संसार में घूमा करते हैं। वे सुख और ऐश्वर्य्य को परमावश्यक समझते हैं। उनका चित्त उन्हीं में लगा रहता है, उनसे परे उन्हें कुछ नहीं दीखता, ऐसे लोग मूर्ख हैं। जिन सुख और ऐश्वर्य के मोह

लोगों का चित्त ऐसी बातों में फंस जाता है, उनकी बुद्धि मारी जाती है। क्योंकि उनको सब ओर कर्म ही कर्म दिखाई देते हैं। उनका चित्त कभी शान्त नहीं होता। वे रात दिन इस लोक और परलोक की चिन्ता में लगे रहते हैं। ऐसे लोगों के दिल में न तो आत्मा ही का विचार उठता है, न उनका दिल दृढ़ता से किसी बात पर जमता है, और न सांख्य अथवा योग से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि का ही उनके हृदय में उदय होता है। इसलिये भगवान योगी के लिये सलाह देते हैं।

(मू०) त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

[३२]

(भा०प०) अर्जुन ? भरे हैं वेद यों त्रैगुण्य विषयों से सभी ।
तू मानलो उपदेश निस्त्रैगुण्य हो जाओ अभी ॥
सुख दुःख द्वन्दों से रहित सत्वस्थ नित्य अनीत हो।
तजि मोह ममता आत्मनिष्ठ बनो नहीं भय भीत हो।४५

अर्थ—वेदों में त्रैगुण्य का वर्णन है। हे अर्जुन ! तू त्रैगुण्य से रहित हो, द्वन्दों से रहित हो, नित्य सत्व में स्थित हो, योग और क्षेम से रहित हो, और आत्मा में सावधान रह। अथवा—

वेदों में सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के कार्य रूप संसार का जिक्र आया है। हे अर्जुन ! तू इन तीन गुणों से अलग होजा, यानी इच्छा रहित होजा, सुख दुःख का कुछ विचार न कर, धीरज धारण कर, जो चीज नहीं है उसके प्राप्त करने की ओर जो है, उसके बचाने और नाश होने की चिन्ता न कर, विषयों में न फंसकर आत्म चिंतन कर। अथवा—

वेदों में तीन गुणों से सम्बन्ध रखने वाले संसार का विषय मालूम होता है। हे अर्जुन! तू तीनों गुणों के कार्य से अलग होजा, यानी गुणा-तीत निष्काम होजा, सुख और दुःख का ख्याल न कर, हर क्षण परमात्मा का ध्यान रख, जो चीज नहीं है उसके प्राप्त करने की और जो है उसकी रक्षा की चिन्ता न कर, ईश्वर को अपना स्वामी समझ कर निरन्तर उस के ध्यान में रह। [माधवाचार्य]

भावार्थ—सत्व, रज, और तम ये तीन गुण हैं। इन तीनों के कार्य तथा परिणाम को त्रैगुण्य या संसार कहते हैं। ज्ञान, अज्ञान, आलस्य, निरालस्य, क्रोध, अहंकार, आदि इनके रूप हैं। इन के कारण से मनुष्य धर्म - अधर्म करता हैं। मनुष्य प्रत्येक काम किसी न किसी कामना के वश होकर करता है। कामना के अनुसार फल मनुष्य को फिर देह धारण करने पर मिलता है। कामना के साथ किये हुए काम का फल अवश्य भोगना पड़ता है। अतः कामना के वश होकर जो काम किया जाता है उसका फल लेने के लिये मनुष्य को इस लोक में आना ही होता है अथवा स्वर्ग में जाना पड़ता है इस आवागमन को ही त्रिगुणा-त्मक या संसार कहते हैं।

वेद ज्ञान का भण्डार हैं। उन में सब कुछ है। उनमें मोक्ष चाहने वालों का भी कार्य सिद्ध हो सकता है और कामना रखने वालों का भी, वेदों के जिस अंश में कर्म्म-काण्ड सम्बन्धी मीठी मीठी बातें भरी हैं, कामी लोग उन बाहरी बातों पर ही ध्यान देते हैं। वेदों में विषय सुख, स्वर्ग आदि प्राप्त करने की अनेक क्रियाएं लिखी हैं। मनुष्य जिस वस्तु के प्राप्त करने की कामना करता है, उन में उसी के प्राप्त करने की क्रिया मिलजाती है। स्वर्ग प्राप्त करने वाले को स्वर्ग पाने की और धन, स्त्री, पुत्र आदि की कामना रखने वाले को उनके प्राप्त करने की क्रिया मिल-

जाती है। जो स्वर्ग की कामना से यज्ञ आदि करता है उसे स्वर्ग मिलता है। जो धन, पुत्र, स्त्री, या राज्य की कामना से यज्ञ आदि क्रियाएं करता है, उसे वेही मिलतेहैं। मतलब यह है कि कामना यानी इच्छाके वश होकर जो कर्म किये जाते हैं उन्हें अपने किये हुए कार्मों के फलों को पानेके लिये या भोगने के लिये मनुष्य को संसार में जन्म लेना पड़ता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि इस संसार में आने जाने या जन्म लेने और मरने का कारण "कामना" है। इसी से इस संसार को काम मूलक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सब बुराइयों की जड़ कामना है। अतः मनुष्य को कामना रहित होना अच्छा है। इसलिये भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन तू गुणातीत यानी निष्काम होजा किसी प्रकार की इच्छा ही न रख।

इस लिये लाभ हानि, गरमी सरदी, मान अपमान, शत्रु मित्र और सुख दुख को समान समझ। लाभ से खुश मत हो, हानि से दुःखी मत हो, हार जीत को समान समझ, सुख दुःख को पूर्वोक्त यानी पहल जन्मके कर्मों का फल समझ कर शान्ति से सहन कर। घबरा मत। धीरज धारण कर। धैर्य्य से भयानक दुःख दुःख नहीं मालूम होते। अथवा हर तथा आत्मा परमात्मा का ध्यान रख। जो हर समय परमात्मा का ध्यान रखता है, दुःख सुख उसका कुछ भी बिगाड नहीं सकते। और जिस अन्तर्यामी के ध्यान में तुम मग्न रहोगे वह तुम्हारे सब आवश्यक पदार्थों की याद रखेगा इसके सिवाय इन्द्रियों के विषयों से भी सावधान रह। ऐसा न हो कि वे तुझे अपने वश में करलें। हे अर्जुन जब तू अपने कर्त्तव्य कर्म को करे तो तू इस मेरी सलाह पर चल।

सारांश—जो लोग किसी मतलब से या इच्छा के वश होकर काम करते हैं, उनका न तो चित्त शान्त होता है, न उन्हें सांख्य या योग

बुद्धि प्राप्त होती है, और इसीलिये उनको मोक्ष भी प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत जो लोग बिना किसी प्रकार की कामना के अपने धर्म कार्य करते हैं, उनका चित्त शान्त रहता है। उनके चित्त में अनेक प्रकार की बातें नहीं उठतीं। उन्हें ज्ञान होजाता है और वे मुक्त होजाते हैं। तात्पर्य्य मनुष्यको कर्म तो अवश्य करना चाहिये, मगर उनके फल की आशा न रखनी चाहिये यानी कर्म करते समय चित्त में कामना को स्थान न देना चाहिये।

(शंका) क—आप कहते हैं कि कर्म तो करना चाहिये, मगर बिना कामना के करना चाहिये। बिना किसी कामना के कर्म करने से कर्मका फल तो मिलता नहीं। तब बिना कामना के कर्म करने से क्या फायदा। वेद विहित क्रियाओं के करने से कामना के अनुसार सुख भोग, स्वर्ग आदि मिलते हैं। किन्तु आपकी आज्ञानुसार निष्काम कर्म करने से कुछ नहीं मिलता, इससे मेरी समझ में तो कामना सहित कर्म करना अच्छा मालूम होता है। वैदिक कर्मों को तो करें और उनके फल स्वरूप जो अनन्त लाभ हैं उनकी चाह न रखें, उनको ईश्वर अर्पण करने से क्या लाभ।

(शंका) ख—आपका कहना है कि गुणातीत निष्काम होजाओ कर्म करो, मगर इच्छा रहित होकर करो। कर्म करते समय कर्म के फल की चाहना मत रखो यानी काम्य कर्मों से परहेज रखो और निरन्तर योगाभ्यास करो। मगर मुझको यह आपकी राय ठीक मालूम नहीं होती, क्योंकि लोग केवल कर्म करते हैं उन्हें जो ज्ञानियों को फल मिलने वाले हैं, नहीं मिलते, और जो केवल ज्ञान मार्ग पर चलते हैं उन्हें योगियों के कर्म करने के फल नहीं मिलते। इस से मालूम होता है कि ज्ञान मार्ग से

कर्म मार्ग छोटा या बड़ा नहीं है, इसी भांति कर्म मार्ग से ज्ञान मार्ग नीचा या ऊंचा नहीं। ऐसी दशा में एक को ऊंचा और एक को नीचा या एक को बुरा और दूसरे को भला कहना अनुचित है। तात्पर्य यह है कि काम्य कर्म करने वाले भी अच्छे हैं, और निष्काम कर्म करके ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने वाले भी अच्छे हैं। जब कि दोनों राहोंपर चलने वाले अपने अपने निश्चय किये हुए मार्गपर पहुंचते हैं। तब यह बात मनुष्य की इच्छापर निर्भर है कि वह अपना सुभीता देख कर चाहे जिस मार्ग पर चले। इन शंकाओं का उत्तर भगवान अगले श्लोक में देते हैं।

(मू) यावनर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विज्ञानतः ॥४६॥

[३३]

(भा० प०) चहुं ओरसे जो देश जलप्लावित हुआ हो फिर वहां।
जल कूप उसके काम में है तनिक भी आता कहां॥
है ठीक उतना ही प्रयोजन ब्राह्मणों को वेद का।
यदि ज्ञान करलें प्राप्त तो है प्रश्न क्या इस भेद का ४६

अर्थ—जितना मतलब कुआ, बावड़ी, तालाब नदी आदि से निकलता है, उतना ही एक समुद्र से निकलता है। इसी तरह जितना आनन्द अनेक प्रकार के वैदिक कर्म करने से निकलता है, उतना ही [बल्कि उससे अधिक] निष्काम ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को एक ब्रह्मविद्या से मिलता है।

भावार्थ—कुएँ से जल पीने, नहाने धोने आदि का काम निकल सकता है। लेकिन कुएँ में मनुष्य गोते लगाकर स्नान नहीं कर सकता,

उसमें वह तैर नहीं सकता, उसमें वह जल क्रीडा नहीं कर सकता। पानी पीने का काम मनुष्य कुएँ बावड़ी से निकाल सकता है, परन्तु तैरने या नाव आदि की सैर करने के लिये उसे तालाब या नदी वगैरः पर जाना होता है। जितने काम मनुष्य के कुएँ तालाब! नदी आदि सबसे जगह जगह भटकने से होते हैं, उतने ही सब काम बल्कि उस से कहीं अधिक काम केवल एक समुद्र या जल के बड़े भारी समूह से सिद्ध होजाते हैं। इसी भांति जो स्वर्ग, सुख भोग राज्य, पुत्र, स्त्री आदि, अनेक अनेक प्रकार के वेद विहित कर्म अग्निहोत्र, अश्वमेध आदि करने से मिलते हैं, यानी स्वर्ग स्त्री, पुत्र आदि से जो आनन्द मिलता है, उतना ही बल्कि उससे कहीं अधिक आनन्द निष्काम, ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को एकमात्र ब्रह्मविद्या या ईश्वर के ज्ञान से मिलजाता है। इस आनन्द और उस आनन्द में इतना अन्तर है कि स्वर्ग, सुख भोग, स्त्री, पुत्र आदि से जो आनन्द मिलता है वह आनन्द परिणाम में दुःखदायी और थोड़े दिन टिकने वाला है; किन्तु जो आनन्द ब्रह्मज्ञान से मिलता है वह आनन्द परमानन्द है। और वह सर्वदा रहने वाला है। आनन्द वही अच्छा जो सदा रहे। जो आनन्द आज है, कल नहीं वह आनन्द नहीं कहाता। अतः यह विषय साफ़ होगया कि काम्य कर्म करने से निष्काम कर्म अच्छा है। काम्य कर्म करने वाले से ब्रह्मज्ञानी को बहुत ऊंचा फल मिलता है। इसलिये ब्रह्मज्ञानी होना सबसे श्रेष्ठ है। इसी से भगवान, अर्जुन से कहते हैं कि तू अचिरस्थायी क्षणिक सुख देने वाले कर्मों को न कर निष्काम होकर कर्म कर योग का आश्रय ले। योग से तेरा चित्त शुद्ध होकर ज्ञान मार्ग पर चला जायगा। उससे तुझे अनन्त काल स्थायी अक्षय आनन्द आनन्दही नहीं, परमानन्द मिलेगा।

(शंका) आपके कहने से मालूम होता है कि वेदोक्त रीति से काम्य कर्म करने वाले को स्वर्ग, राज्य, धन, स्त्री, पुत्र आदि मिलते हैं। लेकिन यह सब सुख नाशिक और परिणाम में दुखदायी हैं। इसके विपरीत संसार त्यागी विद्वान, ब्रह्मज्ञानी को जो सुख मिलते हैं, वह इनसे बहुत चढ़ बढ़ कर और अनन्त काल तक रहने वाले हैं। इस से यह स्पष्ट होगया कि ब्रह्मज्ञानी होना सबसे अच्छा है। क्योंकि उसे सदा रहने वाले अच्छे अच्छे फल मिलते हैं। हमारा मतलब तो फलों से है, हमें आम खाने हैं, पेड़ नहीं गिनने हैं। इसलिये आप मुझे सर्वोपरि ब्रह्मज्ञान का उपदेश दीजिये।

काम्य कर्मों की तो अब मैं बात भी न कहूंगा। और मैं निष्काम कर्म करने को भी वृथा समझता हूं, क्योंकि फल तो ब्रह्मज्ञानी होने से मिलेंगे, निष्काम कर्म करने से तो कुछ न मिलेगा। इसलिये मेरे पीछे कर्मयोग उपासना का झगड़ा न लगाइये। सीधा ब्रह्मज्ञान का मार्ग बताइये। इस का उत्तर भगवान आगे के श्लोक में देते हैं।

(मू०) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

[३५]

(भा०प०) तुमको मिला बस कर्म करने मात्र का अधिकार है।
फल प्राप्त होगा या नहीं यह सोचना बेकार है।
हो सिद्धि मेरे इष्ट की मन धार ऐसी धारना
है कर्म करना व्यर्थ चहिये कामना को मारना ॥४७॥

अर्थ—तुम्हारा केवल कर्म करने का अधिकार है; कर्म फलों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। जो कर्म तुम करो, उसके फल की इच्छा न करो, इसी प्रकार कर्म करना भी मत छोड़ो। अथवा—

तेरा सम्बन्ध केवल कर्म से है, कर्म फलों से तेरा सम्बन्ध कदापि नहीं है। कर्म फल तेरा उत्तेजक नहो, अकर्म में तेरी प्रीति न हो। [मेरा यही उपदेश और आशीर्वाद है]।

भावार्थ—हे अर्जुन! तू अभी कर्म करने योग्य है। अभी ज्ञान मार्ग के योग्य तू नहीं, अतः कर्म कर। जब तू काम करे तो किसी हालत में भी अपने कर्म के फलों की कामना मतकर। और अगर तू फलों की चाहना करेगा तो कर्म फलों के भोगने के लिये तुझे फिर जन्म लेना पड़ेगा। क्योंकि कर्म फलों की चाहना ही जीवन मरणकी जड़ है। जब कर्म करके स्वर्ग आदि फलों के प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं, तब इन दुःखदायी कर्म करने से क्या लाभ! यह सोचकर अकर्म में प्रीति न कर अर्थात् काम करने से मुंह न मोड़, निष्काम कर्म करना ही सबसे अच्छा है। पुनः अर्जुन कहने लगे कि हे कृष्ण! अगर मनुष्य कर्म फलों की इच्छा से उत्तेजित होकर कर्म न करे तो किस तरह करे। तब भगवान कहते हैं।

(मू०) योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

[३५]

(आ०प०) फल-लाभ-चिन्ता-चाह छोड़ो छोड़दो दुर्बुद्धि को ।
योगस्थ होकर कर्म्म कर हो प्राप्त जिससे शुद्धि को ॥

करते चलो तुम कर्म फल की चाह, चिन्ता छोड़दो।
मद-मोह-माया-वासना के जाल को तुम तोड़दो ४८

अर्थ—हे अर्जुन! योग में दृढ़ चित्त होकर, कर्म-फलों में आसक्ति त्याग कर, सिद्धि-असिद्धि में समान होकर, कर्म कर। समभाव को "योग" कहते हैं।

अथवा-हे धनञ्जय? योग में अटल होकर तू अपने कामों के फलों की लालसा त्याग कर सफलता-असफलता को समान समझ कर काम कर। सफलता-असफलता की समानता "योग" है।

भावार्थ—हे अर्जुन! योग ज्ञान का मार्ग है। इस मार्ग में स्थिर चित्त होकर अपने कर्तव्य-कर्म कर। उस समय अपने मन में ऐसे ऐसे विचार न कर; कि मैं इस काम का करने वाला हूं, मैं यह कर्म करूंगा, तो मुझे स्वर्ग मिलेगा या राज्य, धन, पुत्र मिलेगा। मतलब यह कि अपने तईं कर्त्ता न समझ और जो कर्म करे, उसके फल में मन न अटका। काम के होने न होने की चिन्ता मत कर, काम हो जाय तो अच्छा न हो जाय तो अच्छा। इच्छित फल मिले तो भला न मिले तो भला। काम सिद्ध हो जाय तो खुशी नहीं और न होजाय रञ्ज न कर। इस अवस्था पर पहुंचने से तेरा कर्म्म फलों से मोह छूट जायगा। सिद्धि-असिद्धि को समान समझने पर, हालत में हर्ष-विषाद रहित होने को "योग" कहते हैं। जब कर्म, फल की इच्छा त्याग कर किये जाते हैं तब चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त के शुद्ध होने से ज्ञानकी प्राप्ति होजाती है। ज्ञानकी प्राप्ति होनाही "सिद्धि" है। इसके विपरीत जब इच्छा के वशीभूत होकर कर्म किये जाते हैं तब मन शुद्ध नहीं होता। बिना मन शुद्ध हुए ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानकी प्राप्ति न होना ही "असिद्धि" है। हे अर्जुन! सिद्धि-असिद्धि को बराबर समझ कर काम करने से तेरा मन इच्छा-रहित

होजायगा। इच्छा-रहित होकर कर्म करने से चित्त अवश्य शुद्ध होजायगा। अतः तू योग में अटल चित्त होकर केवल ईश्वर के लिये कर्म कर।

(प्रश्न) योगकी परिभाषा क्या है।

(उत्तर) सिद्धि-असिद्धि में चित्तकी समता को "योग" कहते हैं।

(मू०) दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरण मन्विच्छ कृपणाः फल हेतवः ॥४९॥

[२६]

(भा०प०) सम-भाव-युक्त सुबुद्धि ही है श्रेष्ठतर अति कर्म से।
उसकी शरण लो हे धनञ्जय ! कह रहा हूं धर्म से॥
फल-हेतु जो जन कर्म करते वे महा ही दीन हैं।
होते महा ही कृपण हैं, वे नीच सब विधि हीन हैं४९

अर्थ—हे धनञ्जय ? बुद्धि योग से कर्म बहुत नीचा है। इसलिये तू बुद्धि की शरण ले। जो लोग फल की कामना से कर्म करते हैं वे महा नीच हैं।

अथवा—हे अर्जुन ! निष्काम कर्म से सकाम कर्म बहुत नीच दर्जे का है। इसलिये तू परमात्मा विषयक बुद्धि अथवा ईश्वरीय ज्ञान के लिये निष्काम कर्म-योग का आश्रय ले। जो लोग कर्मफल पाने की तृष्णा से कर्म करते हैं, वे मूर्ख, अज्ञानी और नीच हैं।

भावार्थ—हे धनञ्जय ? कर्म फल की इच्छा त्याग कर, चित्त की समता के साथ जो काम किया जाता है, वह कर्म फल की कामना रखकर किये हुए काम से अनन्त श्रेष्ठ है। फल की कामना त्याग कर चित्त की समता से जो काम किया जाता है उस से आत्मा या परमात्मा का ज्ञान

उदय होता है। और परमात्मा के ज्ञान से संसार बन्धन से छुटकारा होकर नित्य परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतः जिन निष्काम कर्मों के करने से आत्मा या परमात्मा का ज्ञान होता है, वही श्रेष्ठ कर्म है। इस-लिये तू निष्काम कर्म योग का आश्रय ले। जब कर्म योग सिद्ध होजायगा तब तुझे परमात्मा का ज्ञान होजायगा। हे अर्जुन! परमात्मा का ज्ञान ही सबसे अच्छा है। तू उसमें मन लगा। लेकिन अभी तेरा चित्त शुद्ध नहीं है। इस से मैं तुझे निष्काम कर्म-योग की सलाह देता हूं। क्योंकि बिना कर्म योग के परमात्मा का ज्ञान होना अभी असम्भव है। आत्मा परमात्मा विषयक बुद्धि का साधन निष्काम कर्म योग है। इसी से इसे बुद्धि-योग भी कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि जो लोग आत्मज्ञान या ईश्वरीज्ञान की प्राप्ति के लिये निष्काम कर्म योग का साधन करते हैं और सिद्धि-असिद्धि में चित्त को समान रख कर निष्काम कर्म करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इस के विपरीत जो सकाम कर्म करते हैं, वे बारम्बार नीच ऊंच योनियों में जन्म लेते और मरते हैं। किन्तु उन्हें ईश्वरीय ज्ञान नहीं होता, इसी से उन्हें अज्ञानी मन्दभागी कहते हैं। श्रुति कहती है—

हे गार्गी! जो मनुष्य, मनुष्यदेह पाकर इसलोक से अविनाशी अक्षर परमात्मा को बिना जाने ही चला जाता है वह अज्ञानी और मन्दभागी है। अब यह सुनो कि चित्तकी समता के साथ अपना धर्म कार्य्य करने वाले को क्या फल मिलता है।

(मू०) बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

[३७]

(भा०प०) इस लोक में इस साम्य बुद्धि प्रकाश से जो युक्त हैं।
वे पाप पुण्य विचार से रहते सदा ही मुक्त हैं ॥
अतएव अर्जुन ! योग की लो शरण जो आनंदमयी।
है कर्म करने की कुशलता कर्म योग कही गयी ॥५०॥

अर्थ—जो बुद्धि-योग-चित्त की समता-से कर्म करता है, वह आप। पुण्य पाप दोनों को इसी लोक में छोड़ देता है। इस लिये तू योग की चेष्टा कर, क्योंकि कर्मों के बीच में "योग" अत्यन्त बलवान है।

भावार्थ—जो सिद्धि असिद्धि में समभाव रख कर कर्म करता है, उसका चित्त समत्व बुद्धि से शुद्ध होजाता है। चित्त के शुद्ध होने पर ज्ञान की प्राप्ति होजाती है। ज्ञान से पुण्य पाप इसी दुनियां में छूट जाते हैं। तात्पर्य यह कि चित्त की समता वाला अपने योग बल से पुण्य पाप दोनों से इसी लोक में पीछा छुडा लेता है। कर्मों के बीच में योग ही करामाती है। क्योंकि जो कर्म, बन्धन स्वरूप हैं, वही जब चित्त की समता-योग-बुद्धि-से किये जाते हैं, तब उल्टा बन्ध छुडाने वाले होजाते हैं। यानी जो कर्म मनुष्य को संसार बन्धन में फंसाते हैं, वे ही कर्म योग के बल से बलवान होकर, मनुष्य के हृदय में ज्ञान उत्पन्न कर के संसार बन्धन से छुडा देते हैं। इसलिये अर्जुन ! तू "योगी" हो।

मतलब यह है कि सुख दुःख और सब प्रकार की लाभ हानि को एकसा समझने वाला मनुष्य क्या इस लोक में क्या परलोक में कभी पाप पुण्य का भागी नहीं होता। वह जिस प्रकार अच्छे कर्म कर पुण्य की आशा छोड़देता है, उसी प्रकार उस के हाथों यदि कोई बुरा काम होजाय तो उसका पाप उसको नहीं लगता। इसलिये तुम सुख दुःख का विचार

छोड़ दोनों को एकसा समझो। सुख दुःख, लाभ हानि, हार जीत आदि को समान समझना ही "योग" है। जो इनको समान समझता हुआ कर्म करता है, उसके किये हुए पुण्य पाप इसी दुनियां में रहजाते हैं।

(मू०) कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्य नामयम् ॥५१॥
यदाते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

[३८]

(भा०प०) सम बुद्धि युत ज्ञानी पुरुष जो कर्म फल हैं त्यागते।
पाते परम पद, जन्म बन्धन दुःख उनके भागते ५१
जब बुद्धि तेरी पार होगी मोह के आवरण से।
होगे विरक्त तभी सुना जो और थोड़े श्रवण से ५२

अर्थ—बुद्धि योग युक्त पुरुष, कर्म फल के त्यागने से आत्मज्ञानी होकर जन्म बन्धन से छूट-कर, उस स्थान को चले जाते हैं, जहां किसी प्रकार का भी दुःख नहीं है। अथवा—

जब तेरा अन्तःकरण मोह अज्ञानरूपी कीचड़ के पार होजायगा; तब जो कुछ तूने सुना है और जो कुछ अभी सुनने योग्य है, उस से तुझे वैराग्य होजायगा।

भावार्थ—जो लोग कर्म फल के त्याग से ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे निश्चयही ज्ञानी होजाते हैं और जन्म के बन्धन से छूट जाते हैं। तथा उस परम पद को पहुंच जाते हैं, जहां किसी प्रकार का भी उपद्रव नहीं है। जिन बुद्धिमानों के चित्त में समता है, जो सुख दुःख, सिद्धि

असिद्धि को समान भाव से देखते हैं, वे कर्मों के फल को त्याग देते हैं, अर्थात् वे कर्मों के फल स्वरूप स्वर्ग नरकादि की चाहना नहीं करते। वे जो काम करते हैं, वह ईश्वर के लिये करते हैं। अपने किये हुए काम से वे अपना सरोकार नहीं रखते। तव उन का चित्त शुद्ध होजाता है पुनः उन्हें आत्मज्ञान होजाता है। और आत्मज्ञान के प्रभाव से वे जीते जीही जन्म बन्धन से छूटकर भगवान सच्चिदानन्द तथा जो सत, चित, आनन्द युक्त के उस परम पद मोक्ष अवस्था को प्राप्त होजाते हैं, जो सब प्रकार के क्लेश और सन्तापों से रहित है।

(प्रश्न) कर्म योग के द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होते ही जिस आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, वह आत्मज्ञान मुझे कब प्राप्त होगा! यानी कब-तक मुझे निष्काम कर्म करने होंगे? कब मेरा अन्तःकरण शुद्ध होगा? कब मैं आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हूंगा। भगवान ५२-५३ वें श्लोक में इसका उत्तर देते हैं।

निष्काम होकर कर्म करते करते जब तेरा अन्तःकरण अज्ञान के दल दल को पार कर जायगा, तब आजतक, कर्म के स्वर्गादिक फलों के सम्बन्ध में जो कुछ तू ने सुना है, और जो कुछ तू सुनने योग्य समझता है या सुनेगा, उस से तेरा मन हट जायगा यानी तुझको वैराग्य प्राप्त हो जायगा। हे अर्जुन! तेरा अन्तःकरण मोह रूपी कीचड़ में फसा है। उसपर अज्ञान रूपी मल जमा है। इसी से तू शरीर आदि को आत्मा समझता है, और शरीर तथा आत्मा को अलग अलग नहीं समझता। अज्ञान के कारण से ही तेरा मन विषय भोगों की ओर चलता है। और इस मोह से ही तू "ये मेरे हैं" "मैं इनका हूं" ऐसी ऐसी

अज्ञान की बातें कहता है। अज्ञान के ही प्रभाव से तुझे राज पाट, सुख भोग, और स्वर्ग आदि अच्छे मालूम होते हैं।

जिस समय तेरा अन्तःकरण (बुद्धि) मोह रूपी कीचड़ के पार हो जायगा, जिसवक्त उसके ऊपर से अज्ञानरूपी मैल दूर हो जायगा, जिस समय तू रजोगुण और तमोगुण को त्यागकर शुद्ध सत्वभाव को प्राप्त हो जायगा, उस समय तू आत्मा और शरीर का भेद समझेगा, और उसी समय सब प्राणियों में तुझे एकही आत्मा दिखाई देने लगेगा। उस समय तुझे इसलोक के स्त्री, पुत्र, धन, रत्न, महल, बाग बगीचे, गाड़ी घोड़े, नौकर चाकर आदि पदार्थ और समस्त भूमण्डल का राज्य तथा स्वर्ग एवं उसके सुख भोग तुच्छ, निकम्मे और व्यर्थ जचने लगेंगे। उस समय तुझे यह जगत बाजीगर के खेल या स्वप्न की माया के समान नितान्त झूंठा मालूम होने लगेगा। इतनाही नहीं, उस समय तुझे जो कुछ तूने देखा और सुना है, और जो आगे देखे तथा सुनेगा, सबसे ही घृणा हो जायगी। उस समय तुझे इसलोक और परलोक के सभी सुख भोग जञ्जाल और आफ़त की जड़ मालूम होंगे। इसी अवस्था को पूर्ण वैराग्य कहते हैं। जिस समय तुझे घोर वैराग्य होजाय, तेरा मन सबसे किनारा करजाय, तब तू समझलेना कि मेरा अन्तःकरण शुद्ध होगया मेरी बुद्धि अज्ञान की कीचड़ से निकल कर शुद्ध होगई, क्योंकि विना अन्तःकरण अथवा बुद्धि के शुद्ध हुए वैराग्य नहीं होता। जब वैराग्य होगा, तब अन्तःकरण पहले शुद्ध होगा और जब अन्तःकरण शुद्ध होजायगा तब वैराग्य अवश्य होगा।

(मू०) श्रुति विप्रति पन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किं ॥५४॥

[४६]

(भा०प०) हो व्यथित श्रुति के वाक्य से तव बुद्धि में भ्रम व्याप्त है।
जब बुद्धि सुस्थिर दृढ़ बने तब योग होता प्राप्त है ॥५३॥
फिर पार्थ ने पूछा कहो स्थितप्रज्ञ कहते हैं किसे ।
वह बोलता चलता तथा है बैठता किस भांति से ५४

अर्थ—जब तेरी बुद्धि जो अनेक श्रुति स्मृतियों के सुनने से विक्षेप को प्राप्त होगई है, विक्षेप और विकल्प से रहित होकर आत्मा में स्थित होजायगी, तब तुझे समाधि योग प्राप्त होगा। अथवा—

हे केशव ! समाधि में स्थित हुए स्थित प्रज्ञ मनुष्य के क्या लक्षण हैं ? स्थित प्रज्ञ पुरुष किस तरह बोलता, किस तरह बैठता और किस तरह चलता फिरता है।

नाना फलों का लोभ दिलाने वाले मन्त्रों के सुनने से तेरी बुद्धि व्याकुल होगयी है। जब उसकी व्याकुलता जाती रहेगी, जब तेरे संशय दूर होजायँगे, तब वह अचल और अटल रूप से आत्मा के ध्यान में लग जायगी, तब उस समय तुझे योग की प्राप्ति होगी।

हे अर्जुन ! तू ने अनेक प्रकार के शास्त्र पढ़े है, नाना प्रकार के वेद मन्त्र सुने हैं। उन में अनेक प्रकार की क्रियाएँ और उनके फलो की बातें भरी पड़ी हैं। उनके सुनने पढ़ने से तुझे जो ज्ञान हुआ है, वह निर्विवाद नहीं है, इसी से तेरी बुद्धि में घबराहट और सन्देह पैदा होगये हैं। तेरी समझ में नहीं आता कि क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है। जब तेरी बुद्धि का श्रुति स्मृतियों का झगड़ा मिट जायगा, तब

तुझे यथार्थ उपदेश पर निश्चय होगा। तब तेरी बुद्धि को उल्टी सुल्टी बातें या सन्देह डिगा न सकेंगे। उस समय तू एकबात पर जमकर स्थिर होजायगा। उसके पीछे तुझ में गहरी समाधि की योग्यता होगी। जब तू एकदम आत्मा या परमात्मा के ध्यान में लग जायगा। उस समय दुनियां की बाहरी कोई भी वस्तु तेरे चित्त में न घुस सकेगी। तू ऐसे गहरे ध्यान में डूबा रहेगा, कि उस समय तेरे सिर पर भयानक से भयानक वज्रपात हो, तोभी तेरा ध्यान न टूटेगा। क्योंकि तेरा सारा ध्यान तो परमात्मा में होगा। तभी तुझे योग का पूरा लाभ होगा, तू आत्मा को जान जायगा, तेरी पहुंच सीधी परमात्मा तक हो जायगी। उस समय तुझे जीव और ब्रह्म में भेद मालूम न होगा। सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा दिखाई देगा। उस समय तुझे करने को कुछ न रहेगा। उस समय तू कृत कृत्य होजायगा। मगर याद रख इस अवस्था की प्राप्ति के लिये बुद्धि अथवा चित्त की शान्ति स्थिरता बहुत जरुरी चीज है। बिना स्थिर बुद्धि के सफलता कदापि न होगी। अतः तू स्थित प्रज्ञ स्थिर बुद्धि वाला होने का परिश्रम कर।

प्रश्न करने का अवसर पाकर अर्जुन भगवान से स्थित प्रज्ञ पुरुष या पूर्ण ब्रह्मज्ञानी के लक्षण पूछने लगा।

हे कृष्ण! जिसे इस बात का दृढ़ विश्वास होगया है कि "मैं परम ब्रह्म हूं" और जो समाधि में तत्पर है, उसके लक्षण क्या हैं। ऐसे मनुष्य के विषय में लोग क्या कहते हैं? वही स्थित प्रज्ञ आत्मस्वरूप में अटल विश्वास रखने वाला जब समाधि में तत्पर नहीं रहता, तब वह किसतरह बोलता, बैठता और चलता है।

जीवनमुक्त पुरुषों के लक्षण, मोक्ष चाहने वालों के लिये, मोक्ष के उपाय है। इसलिये अध्यात्म शास्त्र में मोक्ष चाहने वालों के लिये जीवन्मुक्त पुरुषों के लक्षण, मोक्ष प्राप्ति के लिये सिखाये जाते हैं। अर्जुन ने यही बात समझ कर भगवान से स्थित प्रज्ञ पुरुष के लक्षण पूछे हैं। भगवान उसके चारों प्रश्नों के उत्तर क्रमशः इसी अध्याय के अन्त तक देगें। जिसने आरम्भ से ही सब कामों को त्याग कर ज्ञान योग निष्ठा की राह पकड़ ली है और जिसने कर्म योग द्वारा चित्त शुद्ध करके अपने को ज्ञानयोग का अधिकारी बना लिया है। ऐसे दोनों प्रकार के लोगों के लिये ही इस अध्याय के ५५ वे श्लोक से अध्याय के अन्त तक, भगवान स्थित प्रज्ञ के लक्षण, और आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपाय बतावेंगे।

(मू०) प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीत, राग, भय, क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

[४०]

(भा०प०) हे पार्थ ! जो लोलुप हुए रहते सदा, वे अज्ञ हैं ।
सन्तुष्ट अपने आप में रहते वही स्थित प्रज्ञ हैं ॥५५॥
दुख में दुखी होते न जो आसक्त सुख में भी नहीं ।
भय, प्रीति अथवा क्रोध के जो जाल में फँसते नहीं ५६

[४१]

जिनके लिये शुभ-अशुभ फल सम मान अरु अपमान है।
जिनके लिये सुख-दुःख, हर्ष विषाद एक समान है॥
है बस वही स्थित प्रज्ञ मुनि इसमें न संशय जानना।
थिर बुद्धि उनकी है सभी विधि सत्य इसको मानना॥५६

अर्थ—जब मनुष्य अपने मन की सारी इच्छाओं को छोड़ देता है और आत्मा द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है तब उसे स्थिति प्रज्ञ या स्थिर बुद्धि वाला कहते हैं।

जिस का मन दुःख के समय दुःखी नहीं होता; सुख के समय सुख भोगना नहीं चाहता, जो राग, भय और क्रोध से रहित है, वह स्थित प्रज्ञ मुनि कहलाता है।

जो किसी चीज से प्रेम नहीं करता, अच्छी चीज को पाकर खुश नहीं होता और बुरी चीज को पाकर दुखी नहीं होता, उस की बुद्धि निश्चल है।

भावार्थ—जब मनुष्य मनमें प्रवेश करने वाली भिन्न भिन्न प्रकार की इच्छाओं को बिलकुल त्याग देता है और इस लोक तथा परलोक की किसी भी चीज की इच्छा नहीं करता आत्मा के ध्यान में ही मग्न रहता है, आत्मा से ही सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है, आत्मा के साथ ही रमण करता है तब उसे स्थित प्रज्ञ कहते हैं।

जो मनुष्य सब प्रकार के दुःखों यानी "आध्यात्मिक" (जो शोक मोह आदि विकार और ज्वर, खांसी, अतिसार आदि रोगों से दुःख होते हैं। (१) "आदि भौतिक" सिंह, चीते, भालू, भेडिये, सर्प आदि जानवरों से जो दुःख होते हैं। (२) "आधि दैविक" बहुत तेज हवा, अधिक वृष्टि, अधिक बर्फ का गिरना, आग लगने आदि से जो दुःख होते हैं।) इनके आपड़ने से मनमें दुःखी नहीं होता; और जो किसी प्रकार के

सुख, यानी "आध्यात्मिक" सुख (प्रिय पदार्थों की याद या अपनी विद्या और चतुरता आदि के घमण्ड मे जो सुख होता है । (१ "आधिभौतिक" स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, मित्र और रिश्तेदार आदिकों से जो सुख मिलता है । (२) "आधिदैविक" शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन, वृष्टि से नन्ही नन्ही फुहारें, वसन्त ऋतु की बहार, और नदी नालों के बहने से जो सुख मिलता है) भोगने की इच्छा नहीं रखता । जो किसी से क्रोध नहीं करता और न किसी से प्रेम करता, और न किसी को भय देता न भय खाता। सबको एकही नज़र देखता वह मनुष्य "स्थितधी" मुनि कहलाते हैं ।

पाप का फल दुःख है, पुण्य का फल सुख है । पाप और पुण्य के फल अमिट हैं । विना उनके भोगे पीछा छूट नहीं सकता । हमने इसके पहले के शरीर में जो पाप कर्म किये हैं, उनका फल दुःख हमें इस जन्म में अवश्य भोगना पडेगा, विना उसके भोगे हमारा पीछा कदापि न छूटेगा । जब हमारे पाप का अन्त हो जायगा, तब हमारे दुःख का भी अन्त होजायगा । जबतक हम अपने किये हुए पाप का दण्ड दुःख न भोग लेंगे तबतक चाहे हजार उपाय करे रोवें, चिल्लाएँ कुछ न होगा । पाप का फल अवश्यम्भावी है, अटल है, यह सोच कर ही विचारवान पुरुष भारी से भारी दुःख में नहीं घबराते । हमने पूर्व जन्म में जो पुण्य कर्म किये हैं, उनका फल सुख भी हमें अवश्य विना मांगे मिलेगा । अगर हमने पुण्य कर्म नहीं किया है, तो हमारे हजार उपाय करने पर भी सुख न मिलेगा । जिस तरह दुःख विना चाहे अपने समय पर आजाता है । उसी तरह सुख भी विना मांगे अगर हिसाब में होता है, मिल जाता है । जो चीज खाते में नहीं है वह कदापि नहीं मिलती । एवं जो इस मर्म की बात को समझते हैं । वे दुःखों से दुःखी नहीं होते, और सुखों की तृष्णा में नहीं फसते ।

हमारे पास लाख रुपये हैं, उनमें हमारी प्रीति है। प्रीति के कारण हमारे मनमें सदा यह भय बना रहता है, कि चोर उन्हें चुरा न लेजाय अथवा राजा इन्हें छीन न ले। अगर हमारी रुपयों से या और किसी पदार्थ से प्रीति न हो तो हमें डर क्यों लगने लगा। जब हम देखते हैं कि हमारा माल लुटा जाता है हम उसे बचा नहीं सकते, तब हमें क्रोध आता है। अतः जिसे किसी चीज पर पर राग है यानी प्रेम है। उसी को भय और क्रोध के वशीभूत होकर दुःख उठाना पड़ता है। और जिसे किसी चीज से राग या प्रेम नहीं है, उसे भय और क्रोध क्यों होने लगे। और क्यों दुःख उठाना पडा। इसलिये जो पुरुष विचारवान हैं वह सब कुछ समझने के कारण दुःखों से नहीं घबराता, सुखों की चाहना नहीं करता तथा राग, भय, क्रोध से अलग रहता है। जिस मनुष्य में ये लक्षण पाये जावें उसे "स्थित प्रज्ञ" मुनि कहते हैं। क्योंकि उसकी बुद्धि विचार करते करते यथार्थ पर जम गयी है।

संसार के प्राणि मात्र प्रेम के पाश में बधे हुए हैं। प्रेम के कारण ही मनुष्य को सुख दुःख झेलने पडते हैं। अगर मनुष्य को किसी चीज से प्रेम नहीं होतो उसे सुख और दुःख के झमेले में क्यों पडना पडे। धन, पुत्र, स्त्री आदि को हम अपनी चीज समझते हैं, उन से प्रेम करते हैं। तभी तो उनकी बढती देख कर सुखी, और उनकी कमी या एकबार ही नाश होजाने पर दुःखी होते हैं। जब किसी चीज से हमें प्रेम अप्रेम ही नहीं है, तो हम सुख दुःख में क्यों पडने लगे। प्रेम करना चाहिये मगर ऐसी चीज से जो सदा रहे जिससे हमारा वियोग न हो, जिससे हमें सुखी होकर दुःख उठाना न पडे। स्त्री, पुत्र, धन, आदि नाशमान पदार्थ हैं, सदासे इनका हमारा सङ्ग नहीं है, और आगे भी हमारा इनका सङ्ग न रहेगा। आज इनसे संयोग हुआ है, तो आजही या कल इनसे वियोग

अवश्य ही होगा। ऐसे पदार्थों से मूर्ख लोग ही प्रेम करते हैं, और वे इसी कारण से सुख दुःख के झंझट में जकड़े रहते हैं। लेकिन जो ज्ञानी हैं, विद्वान हैं जो असल कम असल की परख जानते हैं वे इसलोक और परलोक के पदार्थों की असारता संयोग वियोग आदि को बुद्धि से विचार कर इनसे प्रेम नहीं करते। वह क्षणिक सुख देने वाली और परिणाम में दुःख देनेवाली चीजों से कदापि प्रेम नहीं करते। वह एकमात्र नित्य, अविनाशी आत्मा से प्रेम करते हैं। क्योंकि उसके साथ उन्हें प्रेम करने से दुःख कभी नहीं उठाना पडता। क्योंकि न तो उसमें कभी वेशी होती न उसका कभी नाश होता न उस के साथ कभी वियोग होता अज्ञानी लोग इस तत्वकी बातको नहीं समझते, इसी से वे इन थोथी चीजोंके प्रेम में फसकर दुःख सुख भोगा करते हैं। ज्ञानी लोग इन सब बातों को अच्छी तरह समझते हैं। इसी से वे धन, पुत्र, स्त्री, राज्य, आदि तो क्या, अपनी देह से भी प्रेम नहीं रखते। और जब वे इन सांसारिक पदार्थों से प्रेम नहीं रखते। तभी तो वे सुख दुःख के झमेले में नहीं पडते, और एकाग्र चित्त से आत्मा के ध्यान में, उस के प्रेम में मगन रहते हैं। आत्मा के प्रेम में मगन रहने से उन्हें कभी दुःख के दर्शन भी नहीं होते। परमानन्द उनके सामने हाथ बांधे खडा रहता है। तात्पर्य्य यह कि ज्ञानी आत्मा के सिवाय शरीर आदि सभी पदार्थों से प्रेम नहीं करता।

शरीर से प्रेम न रखने के सिवाय ज्ञानी पुरुष सुख दुःख को समान दृष्टि से देखता है। वह समझता है कि सुख पूर्व जन्म के पुण्य कर्म का फल है, और दुःख पूर्व जन्म के पाप कर्म का फल है। इसी से वह सुख पाकर आनन्द में फूल कर उसकी प्रशंसा नहीं करता इसके विपरीत अज्ञानी पुरुष अपने सुख के सामानों की बडाई करता फिरता है और

अपने दुःखों का रोना रोया करता है। क्योंकि वह सुख और दुःख को अपने ही किये हुए पुण्य और पाप का फल नहीं समझता।

अज्ञानी लोग भूलकर न समझने के कारण अपने सुख भोगों की बड़ाई छोका करते हैं। वह इस बातपर विचार नहीं करते कि हमारी इस बड़ाई के करने से दूसरों को क्या लाभ होगा। जो अपनी प्रारब्ध से हमें मिला है वह हमारे ही लिये है। बड़ाई मारना बिलकुल बे फायदा है। इसी तरह अज्ञानी लोग दूसरों की उन्नति दूसरों का धन, वैभव आदि देख कर कुढ़ जाते हैं और उसकी निन्दा पर कमर बांध लेते हैं। पराई निन्दा करने से पराया सुख, पराया धन, वैभव किसी को मिल नहीं जाता अथवा जिसका है उसके पास से चला नहीं जाता। ज्ञानी इन बातों को समझता है इसी से न वह अपनी तारीफ करता है और न पराई निन्दा करता है।

राग, द्वेष, निन्दा, स्तुति आदि तामसी वृत्तियां हैं। इन्हीं के कारण से अन्तःकरण मलीन तथा चलायमान रहता है। जब मनुष्य को देह आदि पदार्थों से स्नेह नहीं रहता, जब वह राग, द्वेष, निन्दा, स्तुति आदि से रहित हो जाता है। तब उसका मन निर्मल होकर आत्म तत्व में लव लीन होजाता है। इन सब बातों पर विचार करके ही ग्यानी न किसी से प्रेम करता है और न प्यारी चीज पाकर उसकी निन्दा करता है। उसके लिये बुरा और भला सब समान है। इसी से वह निन्दा, स्तुति से रहित होकर सदा उदासीन रहता है। जब विवेक या विचार के कारण वह भले बुरे झगड़े से अलग हो जाता है। तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

(मू०) यदा संहरते चायं कूर्मोऽगांनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

[४२]

(भा०प०) ज्यों खींच करके मोड़ करके कूर्म अंग सिकोड़ते ।
त्यों देह धारी इन्द्रियों को विषय से हैं मोड़ते ॥
होजाय निग्रह इन्द्रियों का जब यथोचित रीतिसे ।
तब होगयी थिर बुद्धि मैं हूं कह रहा यह नीतिसे ५८

अर्थ—जिस तरह कछुआ सब तरफ से अपने अंगों को समेट लेता है उसी तरह पुरुष जब इन्द्रियों समस्त विषयों से हटा लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है।

भावार्थ—हे अर्जुन ! जिस भांति कछुवा डरके मारे अपने सिर और पाव आदि को समेट कर अपने शरीर में घुसा लेता है उसी तरह समाधि से उठा हुआ योगी, राग, द्वेष, आदि के भय से अपनी आंखें, कान, नाक आदि इन्द्रियों को उन के विषयों से रोक लेता है। उस समय उस योगी की बुद्धि को स्थिर कहते हैं।

(प्रश्न) यों तो निरा हार रोगी की इन्द्रियां भी जब कि वह इन्द्रियों के भोगने में अशक्त होता है, विषयों को भोग नहीं सकता, विषयों से हट जाती है। लेकिन विषयों की लज्जत को वह नहीं भूलता। विषयों की लज्जत वह कब भूलता है। तब भगवान कहते हैं ॥

(मू०) विषयाविनिर्वन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रस वर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५९॥

[४३]

(भा०प०) उपवास से यदि खिंच गयीं हों इन्द्रियां सुख विषयसे।
तो भी न उनकी चाट जाती सरस उनके हृदयसे ॥

हो ज्ञान जब परब्रह्म का यह चांट जाये सर्वथा ।
जाएँ विषय भी भूल सब, चाह मिट जाए तथा ॥५६॥

अर्थ—निराहार रोगी पुरुष की विषयों से निवृत्ति होजाती है, किन्तु विषयों से उसकी प्रीति नहीं जाती; लेकिन स्थिर बुद्धि पुरुष की विषयों से प्रीति भी आत्म साक्षात्कार होने से मिट जाती है।

भावार्थ—जो रोगी निराहार रहते रहते एकदम दुर्बल होजाता है उसकी विषयों के भोगने की इच्छा नहीं रहती। वह असमर्थ होने के कारण विषयों की इच्छा नहीं करता। मगर उसके मनमें विषयों की लज्जत तो बनी रहती है, विषयों की प्रीति उसके दिल से नहीं जाती। इसी तरह वह मूढ मनुष्य, जो घोर तप करता है, विषयों से परहेज़ करता है, किन्तु उसका मन, विषयों की प्रीति बनी रहने के कारण विषयों से प्रीति नहीं छोड़ता। (जैसे वेश्याके यहां जाना पाप समझने वाला ब्रह्मचारी वेश्या की ओर देखना भी पाप समझता है। आंख से ही उस विषय को न देखेंगे तो उस वस्तु की क्या सामर्थ्य है जो हमें लुभा सके ? आंखों से न देखना, कान से न सुनना, जीभ से न चखना आदि ही इन्द्रियों से काम न लेना कहाता है। इन इन्द्रियों से यदि काम लिया जाय अथवा ब्रह्मचारी यदि स्त्री को आंख उठाकर देखे, तो उसकी उस विषय में प्रीति जाग उठेगी। इस लिये कहा है कि इन्द्रियों से काम लेना बन्द करने पर भी उसकी प्रीति एका एक नहीं हटती)। लेकिन वह योगी, जो परमात्मा को साक्षात् देख लेता है और मन में विचार करता है, कि "मैं स्वयं वह हूं" उस के मन में विषयों की प्रीति नहीं रहती। उसको इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान ही निर्बीज हो जाता है। इस तरह वह बुराई की जड़ को ही नाश कर देता है। लेकिन रोगी में यह बात नहीं होती, वह विषयों को भोगना तो चाहता है, मगर लाचारी से उनके भोगने की

इच्छा नहीं करता । उस के मन में विषयों की प्रीति तो बनीही रहती है। लेकिन योगी को आत्मा के दर्शन होने पर उनमें प्रीति ही नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि जबतक आत्मा से साक्षात्कार नहीं होता, तब तक विषयों की प्रीति नहीं जाती। इस लिये यथार्थ ज्ञान कराने वाली बुद्धि को स्थिर करना आवश्यक है। जब बुद्धि स्थिर हो जायगी तब विषयों से एकदम प्रीति हट जायगी। अगर हम यों कहें कि इच्छाओं के नाश होने पर शुद्ध ज्ञान का उदय होता है, और शुद्ध ज्ञान के उदय होने पर इच्छाएँ नाश होजाती हैं; तो इसमें कोइ भ्रान्ति जनक बात नहीं है। क्यों कि जब ज्ञानका उदय होने लगता है, तब इच्छाएँ स्थूल रूप में नाश होजाती हैं, मगर सूक्ष्म रूप से मनमें बनी रहती हैं । किन्तु जब ज्ञान निश्चल और पूर्ण होजाता है, तब सूक्ष्म कामनाएँ भी नाश होजाता हैं ।

सारांश यह है कि स्थित प्रज्ञ होने या प्रज्ञा की स्थिति के लिये मन और इन्द्रियों को वशमें करना आवश्यक है। जबतक मन और इन्द्रियां वश में नहीं होजाती, तबतक प्रज्ञा स्थिर नहीं होसकती। जिन्हें स्थित प्रज्ञ होना हो या जो प्रज्ञा को स्थिर करना चाहें, उन्हें पहले अपनी इन्द्रियां वशमें करना चाहिये। अगर इन्द्रियां वशमें न की जायगी, तो वे हानि पहुंचायेंगी। अब भगवान पहले यह दिखाते हैं कि बाहरी इन्द्रियों को वश में न करने से क्या दोष होता है।

(मू०) यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

[४४]

(भा०प०) कौन्तेय ! केवल इन्द्रियों का दमन जिनका ध्येय है।
उनको कभी मिलता नहीं इन्द्रिय दमनका श्रेय है ॥

ये इन्द्रियां हैं खींचतीं सब को दमन की ओर से ।
चाहें जिधर करदे उधर निज प्रखरता के जोर से ।६०।

अर्थ—हे अर्जुन ! उपाय करते हुए बुद्धिमान पुरुष की भी बलवती इन्द्रियां उसके मनको जबरदस्ती से अपने वशमें करलेती है ।

भावार्थ—हे अर्जुन ? जो पुरुष बुद्धिमान है, जो इन्द्रियों के वश में न करने के दोष को समझता है, और दोष को समझने के कारण, हर समय इन को वश करने की कोशिश में लगा रहता है । ऐसे पुरुष के मनको भी आंख, कान, नाक, आदि इन्द्रियां अपने अधीन करलेती हैं, क्योंकि यह इन्द्रियां बहुत ही बलवान हैं । जिस समय यह आक्रमण करती हैं, उस समय पराक्रमी से पराक्रमी और विचारवान से विचारवान की एक नहीं चलती ! जब यह जोर बांध कर हमले करती हैं, तब विवेक और विचार को पीठ दिखानी ही पड़ती है ।

(प्रश्न) अगर इन्द्रियां ऐसी बलवान हैं, तो मैं इन्हें अपने अधीन कैसे कर सकूंगा । तब भगवान कहने लगे कि हे अर्जुन ! इनके अधीन करने का उपाय सुन—

(मू०) तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

[४५]

(आ०प०) अतएव करना पूर्ण निग्रह इन्द्रियों का चाहिये ।
हो मत्परायण, योग युक्त सदा विचरना चाहिये ॥
जो इन्द्रियों का यों दमन कर होगया स्वाधीन है ।
थिर बुद्धि उसकी होगयी यों योग में जो लीन है ॥६१॥

अर्थ—उन सब को वश में करके मनुष्य को दृढ़ता से मुझ में लौ लगा कर बैठना चाहिये। जिस की इन्द्रियां वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है। अथवा—

उन सब इन्द्रियों को अर्थात् आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन तथा पांचो कर्म इन्द्रियों को अपने वश में लाकर चित्त को सर्वथा दृढ़ करके, मनुष्य को मेरे ही ध्यान में लौलीन होजाना चाहिये। जिसने इस प्रकार इन्द्रियों को अधीन कर लिया है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

भावार्थ—जो मनुष्य पांचो ज्ञान इन्द्रियों और पांचो कर्म इन्द्रियों तथा मनको अपने वश में करके शान्ति से बैठा हुआ मुझ, वासुदेव, सबके अन्तरात्मा के ध्यान में मग्न हो जाता है। उस पर इन्द्रियों का जोर नहीं चलता। जबतक मनुष्य मेरी शरण नहीं आता, मेरा अनन्य भक्त नहीं हो जाता तभी तक इन्द्रियां अपना जोर चलाती हैं। मेरी शरण आये हुए पर इन्द्रियों का वश नहीं चलता; अर्थात् जो यह सोचता हुआ बैठता है कि मैं ही "सच्चिदानन्द स्वरूप अद्वैत हूं," मेरे सिवाय और कोई पदार्थ ही नहीं है। ऐसे मनुष्य पर इन्द्रियों का जोर नहीं चलता, और जो इन्द्रियों को अपने वश में करलेता है उसकी बुद्धि निश्चल है। मतलब यह है कि ज्ञानी पुरुष जिसकी बुद्धि निश्चल है, अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके मुझ आत्मा के ध्यान में बैठा रहता है। जो मनुष्य विषयों के भोग की इच्छा नहीं छोड़ सकता उस की बड़ी दुर्गति होती है। वह विषय न पाकर मनही मन विषयों का ध्यान किया करता है। विषयों का ध्यान करने से क्या बुराइयां होती हैं, यही भगवान आगे बताते हैं।

(मू०) ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूप जायते ।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

[४६]

(भा०प०) ज्यों ज्यों मनुज करते अधिक चिन्तन विषयकी चाह में।
त्यों त्यों अधिक आसक्ति बढ़ती वासना की राह में ॥
आसक्ति में होती सहज ही काम की दुर्भावना ।
यदि चाह में हो विघ्न तो है क्रोध की सम्भावना ६२

अर्थ—विषयों के ध्यान करने वाले मनुष्य के मनमें पहले विषयों के लिये प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से इच्छा पैदा होती है, इच्छा से क्रोध पैदा होता है ।

भावार्थ—मनही मन विषयों के ध्यान करने वाले पुरुष को पहले तो विषयों में प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से उस विषय के पाने की बलवती इच्छा उत्पन्न होती है जब किसी कारण से इच्छा सफल नहीं होती अथवा इच्छा सफल होने की राह में विघ्न आते हैं, तब मनुष्य को क्रोध आता है। क्रोध के कारण मनुष्य को भले बुरे का विचार नहीं रहता। उस समय उसे कुछ नहीं सूझता, कि वह क्या कर रहा है। ज्ञान लोप होने के कारण क्रोधी गुरु आदि का अपमान कर बैठता है। क्योंकि क्रोधी पुरुष में विवेक नहीं रहता।

(मू०) क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

[४७]

(भा०प०) जब क्रोध होता है तभी सु-विवेक होता नष्ट है ।
संशय नहीं अविवेक से स्मृति शीघ्र होती भ्रष्ट है ॥
स्मृति भ्रष्ट होने से सहज ही बुद्धि होती भ्रष्ट है।
सुबुद्धि के ही नाश से सर्वस्व होता नष्ट है ॥६३॥

अर्थ—क्रोध से भ्रम होता है, भ्रमसे स्मृति हीन होती है, स्मृति हीनतासे बुद्धि नष्ट होजाती है, और बुद्धि के नष्ट होजाने पर मनुष्य बिलकुल नष्ट होजाता है।

भावार्थ—क्रोध के मारे मनुष्य की स्मृति में दोष पैदा होजाता है। स्मृति दोष के कारण मनुष्य शास्त्र और गुरु के उपदेशों को भूल जाता है। उस के सारे ज्ञान पर पानी फिर जाता है। स्मरण शक्ति के नाश होने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है यानी अन्तःकरण ऐसा असमर्थ हो जाता है कि वह कार्य अकार्य और भले बुरे को नहीं जान सकता। जब बुद्धि या अन्तःकरण इस प्रकार नष्ट होजाता है। कि मनुष्य बिलकुल बर्बाद होजाता है। क्योंकि मनुष्य तभी तक मनुष्य है जबतक उसका अन्तःकरण भले बुरे का विचार कर सके। जब अन्तःकरण इस योग्य नहीं रहता। यानी वह भले बुरे का विचार नहीं करसक्ता तब मनुष्य नहीं कहला सकता। उस समय उसे नष्ट हुआ समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य बिलकुल बे काम हो जाता है क्योंकि जिसकी बुद्धि नष्ट होजाती है वह फिर कोई काम नहीं कर सकता। सारांश यह है कि विषयों का ध्यान करना ही सब अनर्थों का मूल है। अगर मन द्वारा विषयों का ध्यान ही न किया जाय तो विषयों में प्रीति क्यों हो, क्यों उनमें इच्छा हो। इच्छा पूर्ण न होने से क्यों क्रोध हो, और क्यों मनुष्य बुद्धि खोकर अन्त में बर्बाद हो।

ध्यान मनमें होता है। मनमें ध्यान होने के बाद इन्द्रियां अपना काम करती हैं। अगर मन वश में हो तो इन्द्रियां कुछ न कर सकें। अगर मन वशमें न किया जाय, और इन्द्रियां वश में करली जाय, तो कुछभी मतलब सिद्ध न होगा। अगर इन्द्रियां वशमें न भी की जाय और मन वशमें कर-

लिया जाय तो इन्द्रियां कुछ भी न कर सकेंगी। बुद्धि या विवेक सारथी है मन लगाम या बागडोर है, इन्द्रियां घोड़े हैं। कठोपनिषद् में कहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रह मेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहु र्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

यह शरीर एक रथ है। जिस का रथी, अर्थात् इसपर आरूढ़ होने वाला इसका स्वामी जीवात्मा है। जीवात्मा इस शरीर रूपी रथपर बैठ कर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। अब रथ में घोड़े चाहिये। सो दस इन्द्रियां इस रथके घोड़े हैं, अब घोड़ोंके लिये लगाम या बागडोर चाहिये वह मन है अब उस बागडोर को पकड़ कर अपने वश में रखते हुए रथ को ठीक स्थान में, परमात्मा या मुक्ति की ओर लेजाने वाला चतुर सारथी चाहिये। सो ऐसा सारथी बुद्धि या विवेक है। रथ होगया, रथ में बैठने वाला होगया, घोड़े होगये, लगाम होगई, सारथी भी होगया। अब इन्द्रिय रूपी घोड़ों के चलने का मार्ग चाहिये। यह मार्ग इन्द्रियों के विषय हैं। क्यों कि विषयों की ही ओर इन्द्रियां दौड़ती है इसलिये जो लोग विवेक रूपी सारथी के द्वारा मन रूपी लगाम या बागडोर को वशमें कर लेता है, उस की इन्द्रियां भी मन रूपी लगाम के आधीन होकर वश में होजाती हैं। जिस आदमी का मन वश में नहीं है, वही मनसे भांति भांति के विषयों का ध्यान करके नष्ट भ्रष्ट होजाता है। अतः बुद्धिमान को चाहिये कि मन को खूब दबाकर अपने अधीन करे, ताकि विषयों का ध्यान ही न हो। जब उनका ध्यान ही न होगा, तो अनर्थ कहां से होगा ? तात्पर्य

यह है कि विषयों का ध्यान ही सब बुराइयों की जड़ है। अब आगे भगवान मोक्ष के उपाय बताते हैं।

(मू०) रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसाद मधिगच्छति ॥६४॥

[४८]

(भा०प०) पर होगया हो खूब अन्तःकरण जिनका हाथ में ।
जो राग, द्वेष, विहीन हों रहकर विषय के साथ में ॥
रहते सदैव प्रसन्न वे होता दुखों का अन्त है ।
करती सदैव प्रसन्नता थिर बुद्धि को अत्यन्त है ।५४।

अर्थ—जिसने अपने मन को वश में कर रखा है, वह पुरुष जो राग, द्वेष, रहित मन के अधीन इन्द्रियों को विषयों से भोगता हुआ भी शान्ति लाभ करता है।

भावार्थ—जब मन राग, द्वेष की ओर न झुके तब समझना चाहिये कि मन वश में हुआ। मन के वश में होते ही राग, द्वेष, मन से भाग जाते हैं। जब मन में राग, द्वेष नहीं रहते, तब इन्द्रियों में कैसे रह सकते हैं? राग, द्वेष के कारण ही इन्द्रियां अनर्थ करती हैं, जब राग, द्वेष ही न रहें, तो इन्द्रियां भी अपना काम करना छोड़ देती हैं। लेकिन पूर्वजन्म के कारण इन्द्रियां अवश्य काम करती हैं। क्योंकि कोई भी ब्रह्मज्ञानी ऐसा दृष्टि नहीं आता। जो इन्द्रियों से देखना, सुनना और मल मूत्र त्यागना आदि काम न लेता हो। इन्द्रियां अपना स्वाभाविक कर्म करती हैं, विषयों को भोगती हैं। जिस तरह ब्रह्मज्ञानी विषयों को भोगता है। उसी तरह

अज्ञानी भी भोगता है। अन्तर दोनों में यही है कि ज्ञानी भोग भोगते समय विषयों में राग, द्वेष नहीं रखता। जो विषय असाज्य हैं जिनके भोगे बिना शरीर नहीं चल सकता, उनको वह बिन प्रीति और घृणा के भोगता है, लेकिन उन्हीं विषयों को अज्ञानी राग द्वेष से भोगता है। जो ज्ञानी मन को वश में करके राग, द्वेष, रहित होकर अपने आधीन की हुई इन्द्रियों से शास्त्राज्ञानुसार विषयों को भोगता है, वह विषयों को भोगता हुआ भी शान्ति लाभ करता है।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी राग, द्वेष युक्त होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करता है। संसार बन्धन में ऐसे पुरुष का चित्त कभी भी शान्ति लाभ नहीं करता। बिना चित्त के स्वच्छ हुए परमात्मा के दर्शनों की योग्यता नहीं होती। लेकिन ज्ञानी पहले अपने मनको वश में करता है। उसमें से वह राग, द्वेष को बाहर निकाल फेंकता है। मन को वश में करके मन के आधीन राग द्वेष रहित इन्द्रियों से जब वह आवश्यक विषयों का सेवन करता है, तब उसका चित्त परमात्मा के दर्शन करने योग्य पवित्र, स्वच्छ होजाता है। उस समय उसे खूब शान्ति मिलती है।

(प्रश्न) शान्ति के मिलने से क्या लाभ होता है। तब वासुदेव भगवान उत्तर देते हैं सुनो—

(मू०) प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

[५६]

(भा०प०) उपरोक्त योग विधान से होने नहीं जो युक्त हैं ।
उनकी नहीं रहती ठिकाने बुद्धि जो अप युक्त हैं ६५
बिन बुद्धि मिलती शान्ति क्या! बिन शान्ति मिलता सुख कहीं।
हे पार्थ! इन्द्रिय दमन बिन है बुद्धि थिर होती नहीं ॥६६॥

अर्थ—शान्ति के मिलने से उसके सारे दुःख नाश होजाते हैं, क्योंकि शान्त चित्त पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होजाती है।

जिसने चित्तको वश में नहीं किया है उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होसकती, जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है उसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता, जिसे आत्मज्ञान नहीं है, उसे शान्ति नहीं मिल सकती, जिसे शान्ति नहीं, उसे सुख कहां से मिल सकता है।

भावार्थ—जब शान्ति मिल जाती है, तब योगी के शरीर और मन से सम्बन्ध रखने वाले सब दुःखों का अन्त होजाता है क्योंकि शुद्ध चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र स्थिर होजाती है, यानी वह दृढ़ता से आत्मा के ध्यान में लग जाती है। अर्थात् जिसका चित्त शुद्ध हो जाता है जिसकी बुद्धि स्थिर होजाती है, उसका सब काम बन जाता है। इस लिये योगी को राग द्वेष रहित इन्द्रियों से केवल उन विषयों का सेवन करना चाहिये जिन की शास्त्र में मना ही नहीं है और जिनका सेवन किये बिना काम नहीं चल सकता। स्थिर बुद्धि वाले को जो लाभ होता है वह अस्थिर बुद्धि वाले को नहीं हो सकता। भगवान यही समझाते हुए शांति की प्रशंसा करते हैं कि—

जिसने अपने चित्त को वशमें नहीं किया है, उसमें आत्मा का निश्चय करने वाली व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं पैदा होती, अर्थात् वह

आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं जान सकता। जो आत्मा के स्वरूप को नहीं जानता, वह उसका ध्यान कैसे कर सकता है? जो आत्मा के ध्यान में दत्त चित्त नहीं रहता उसे शांति कहां से मिल सकती है, जिसे शांति नहीं, जिस का चित्त ठिकाने नहीं, उसे सुख कैसे मिल सकता है। तात्पर्य यह है कि विना आत्मज्ञान के परमानन्द नहीं मिल सकता। असल बात यह है कि जबतक इन्द्रियों की विषयों में तृष्णा रहती है तब तक सुख नहीं मिलता, जब विषयों में तृष्णा नहीं रहती, तब सुख मिलता है। क्योंकि इन्द्रिय निग्रह से बुद्धि को स्थिरता मिलती है।

(प्रश्न) जिस का चित्त शान्ति नहीं है, उसमें आत्म विषयक बुद्धि क्यों उत्पन्न नहीं होती? भगवान उत्तर देते हैं सुनो—

(मू०) इन्द्रियाणांहि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाव मिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निग्रहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

[४०]

(भा०प०, वह पवन झोंके नाव को हैं खींचते जल मध्य ज्यों।
मन इन्द्रियों के फेर में पड़ बुद्धि करता क्षीण त्यों ६७
होवे न इन्द्रिय दास जो हो दूर विषयों से सभी।
थिर बुद्धि उसकी है महाबाहो! न डिग सकती कभी ६८

अर्थ—मन, विषयों में भटकने वाली इन्द्रियों में से जिस एक इन्द्रिय के अधीन होजाता है, वही इन्द्रिय अज्ञानी की बुद्धि इस भांति हर लेती है, जिस तरह हवा जल पर नाव को घुमाती है।

इस लिये हे अर्जुन ! जिसने अपनी इन्द्रियों को सब विषयों से रोक लिया है उसी की बुद्धि स्थिर है ।

भावार्थ—अज्ञानी की इन्द्रियां जिस समय विषयों में भटकती हैं, उस समय अगर मन किसी एक इन्द्रिय के अनुसार होजाता है, तो वह इन्द्रिय जिसका साथी मन हुआ है, योगी की आत्मविषयक बुद्धि को नाश कर देती है—किस तरह—जिस तरह पवन मल्लाहों की चाही हुई राह से नाव भटका कर इधर उधर लेजा पटकता है, उसी तरह मन योगी की आत्म विषयक बुद्धि को हर कर उसे विषयों में लगा देता है । विषयों में भटकने वाली इन्द्रियों से ही सारी बुराई पैदा होती हैं, इसलिये उसी योगी की बुद्धि स्थिर है जिसने अपनी इन्द्रियों को शब्दादिक सब विषयों से सर्वथा हटा लिया है । और वह पुरुष जिस में विवेक बुद्धि है और जिस की बुद्धि स्थिर होगयी है । उसका लौकिक और वैदिक तमाम पदार्थों का अनुभव, अविद्या के नाश होने पर नाश होजाता है, क्योंकि वह अविद्या का कार्य है । यानी ज्ञान के उदय होतेही अविद्या नाश होजाती है । अविद्या नाश होने पर संसार भ्रम नहीं रहता । इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये भगवान कहते हैं ।

(मू०) यानिशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।६६।

[५१]

(भा०प०) जब निशि सभी हैं मानते तब जागते स्थित प्रज्ञ हैं ।
जब जागते प्राणी सभी निशि मानते तत्वज्ञ हैं ॥
तात्पर्य्य इन की मति सदा होती महा विपरीत है ।
अन्तर यहां कैसा भला होता महान प्रतीत है ॥६६॥

अर्थ—जो स- प्राणियों की रात है वह मन के जीतने वाले पुरुषों के लिये जागने का समय है, और जो सब प्राणियों के जागने का समय है वह मुनि के लिये रात है।

भावार्थ—जो ज्ञान निष्ठा अज्ञानी कर्म निष्ठों के लिये रात है वही ज्ञान निष्ठा मन सहित इन्द्रियों को वश में करने वाले के लिये दिन है। जो कर्म निष्ठा अज्ञानी कर्म निष्ठ के लिये दिन है वही कर्म निष्ठा ब्रह्म तत्व को देखने वाले के लिये रात है। अर्थात्–विषयों में फंसे हुए लोगों के लिये आत्मज्ञान रात के समान है और वही आत्मज्ञान, इन्द्रियों के जीतने वाले पुरुष को दिन के समान है। इसी भांति संसार के विषयों का सुख अज्ञानियों के लिये दिन है, मगर वह ज्ञानियों के लिये रात के समान हैं। वे विषय भोगों को कुछ नहीं समझते।

जबतक मनुष्य नींद से नहीं जागता तबतक ही वह तरह तरह के स्वप्न देखता है। पर आंख खुलने, जागने पर कुछ नहीं देखता, इसी तरह योग्य पुरुष को जब तत्वज्ञान, आत्मज्ञान नहीं होता, तभी तक उसे यह संसार "भ्रम" वत् रहता है। जब उसे तत्वज्ञान होजाता है, ब्रह्म तत्व दीखने लगता है, संसार भ्रम नहीं होता यानी तत्वज्ञान होजाने पर ज्ञानी पुरुष संसार और इसके विषय भोगों को स्वप्न की सी माया समझता है।

अब आगे उदाहरण देकर भगवान यह समझाते हैं कि वही योगी है जो बुद्धि मान है, जिसने इच्छाओं को त्याग दिया है, और जिस की बुद्धि स्थिर है, मोक्ष लाभ कर सकता है। लेकिन वह, जिसने त्याग तो नहीं किया है, किन्तु सुख भोगों की इच्छा रखता है मोक्ष लाभ नहीं कर सकता।

(मू०) आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्ति माप्नोति न काम कामी ७०

[५२]

(भा०प०) तजता न ज्यों मर्याद सागर भरत जल चहुं ओर से ।
सरवर-नदी-नद-जलद-जल आवे न कितने जोर से ॥
जिस पुरुषमें त्यों घुसगये हों विषय फिर भी शान्त हो ।
है शान्ति सुख पाता वही रहता न कामी शान्त हो ।७०।

अर्थ—जिस समुद्र में चारों ओर से पानी आकर मिल रहा है, परन्तु जिसकी सीमा ज्यों की त्यों बनी रहती है उस समुद्र के समान ही गम्भीर रहता हुआ जो मनुष्य नाना प्रकार की नदी नद रूप इच्छाओं के आ मिलने से घटता बढ़ता नहीं, वही शान्ति प्राप्त करता है। जो इन इच्छाओं के फेर में पड़ता है। उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती।

भावार्थ—सब ओरसे सिमिट सिमिट कर पानी समुद्र में जाता है। अनेक नदियां उसमें गिरती हैं, मगर चारों ओर से पानी के आने पर भी उसकी हालत में कोई तब्दीली नहीं होती, वह अपनी मर्यादा नहीं त्यागता, यानी वह अपनी हदके अन्दर ही रहता है। इसी तरह जिस ज्ञानी में सब तरह की इच्छाएँ सब ओर से आ आ कर प्रवेश करती हैं, किन्तु उनसे उसमें समुद्र की नाईं कुछ विकार नहीं होता। उसे शान्ति (मोक्ष) मिलती है। किन्तु जो भोग भोगने की इच्छा रखता है, उसे शान्ति (मोक्ष) नहीं मिलती।

समुद्र नहीं चाहता कि उसमें आकर नदियां गिरें उसमें वर्षा का जल गिरे, न वह इनको बुलाता है। क्योंकि उसे इनकी इच्छा नहीं है। परन्तु प्रकृति के नियमानुसार सारी नदियों और वर्षा का जल आप से आप जाकर गिरता है। वह आपही भरा पूरा है, और ऊपर से इतना पानी नदी आदि का जाता है। इतने जलके उसमें गिरने परभी, वह बिना किसी प्रकार की तब्दीली के अपनी सीमाओं के अन्दर ही रहता है। इसी तरह प्रकृति के नियमानुसार प्रारब्ध के भेजे हुए सब प्रकार के भोग, निष्काम ज्ञानी को आपसे आप आ मिलते हैं। वह ज्ञानी भोगों की इच्छा नहीं रखता। विषय भोगों के प्राप्त होने पर भी, उसमें समुद्र की भांति विकार उत्पन्न नहीं होता। इसी से उसे शान्ति प्राप्त होती है। लेकिन जो भोगों की इच्छा रखता है, उसका मन सदा मैला रहता है, और इसी से उसे शान्ति नहीं मिलती। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये—

(मू०) विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधि गच्छति ॥७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्त कालेऽपि ब्रह्मनिर्वाण मृच्छति ।७२।

[४३]

(भा०प०) जो पुरुष तजि आसक्ति यों निःस्पृह विचरते हैं यहीं।
सुख शान्ति पाते हैं वही जो गर्व तज देते सही ।७१।
हे पार्थ ? ब्राह्मी स्थिति यही है सुगम सीढ़ी मोक्ष की।
देती सदा मरणान्त पीछे ब्रह्म पद गति मोक्ष की ।७२।

अर्थ—जो सब प्रकार की कामनाओं इच्छाओं को त्यागकर ममता और अहंकार से रहित होकर निर्द्वन्द विचरता है, उसे शान्ति मिलती है।

हे पार्थ ? यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर किसी को मोह नहीं होता, अन्तकाल में भी, इस ब्राह्मी स्थिति में रहने से ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—जो सन्यासी अथवा त्यागी पुरुष सब प्रकार की कामनाओं को सर्वथा त्याग देता है, वह फिर शरीर रक्षा के लिये आवश्यक चीज की भी इच्छा नहीं रखता। यही नहीं, वह अपने शरीर के कायम रखने की भी इच्छा नहीं करता। प्रारब्ध वश अनेक प्रकार के पदार्थों को पाता है, किन्तु उनमें उसकी ममता नहीं होती, साथ ही उसमें अपने ज्ञान का अहंकार भी नहीं होता। वह स्थिर बुद्धि वाला ब्रह्मज्ञानी शान्त (निर्वाण) लाभ करता है। तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म ही होजाता है।

अर्जुन ने भगवान से स्थित प्रज्ञ स्थिर बुद्धि वाले के लक्षण पूछे थे, इसलिये उन्हीं लक्षणों का अबतक वर्णन हुआ। अब भगवान कर्म योग के फल स्वरूप ज्ञान निष्ठा (सांख्य निष्ठा) की महिमा वर्णन करते हुए इस अध्याय को समाप्त करते हैं।

हे पार्थ ? मैंने अबतक जिस अवस्था का वर्णन किया है, वह ब्राह्मी अवस्था है। जो इस अवस्था को पहुंच जाता है। वह माया मोह में नहीं फंसता। यदि कोई अवस्था के चौथे भाग अन्तसमय में भी इस अवस्था में रहता हो, तो उस को ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति होती है। जो विद्यार्थी

अवस्था में संन्यास ग्रहण करके इस ब्राह्मी स्थिति में रहते हैं उनको मोक्ष मिल जाती है इसके कहने की तो आवश्यकता ही नहीं।

हरिःओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योग शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।
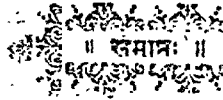
तीसरा अध्याय।

अर्जुन उवाच।

(मू०) ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मताबुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणिघोरेमां नियोजयसि केशव ॥१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

[१]

(आ०प०) तुमने बताया बुद्धि को ही श्रेष्ठतर जब कर्म्म से ।
केशव ? मुझे फिर चाहते हो बांधना क्यों कर्म्म से १
ऐसे करो भाषण न जिसमें बुद्धि में भ्रम व्याप्त हो।
यह मार्ग निश्चय कर कहो कल्याण जिससे प्राप्त हो २

अर्थ—हे कृष्ण ! अगर आप कर्म योग से ज्ञान योग को अच्छा समझते हैं, तो मुझे आप इस भयानक काम में क्यों लगाते हैं ॥१॥

आपकी पेचीली उलझनदार बातों के सुनने से मेरी बुद्धि चक्कर खा रही है, इसलिये निश्चय करके ऐसी एक राह बताइये कि जिस पर चलने से मेरी भलाई हो ॥२॥

भावार्थ—पहले कृष्ण ने ज्ञान योग का उपदेश दिया. पीछे कर्म योग का उपदेश दिया और सबसे पीछे निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया। इच्छाओं को छोड़ देने, यानी निष्काम हो जाने की बात सुनकर अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं। कि यदि आप की राय में कर्म करने से ज्ञान योग ही अच्छा है, तो आप मुझे इस घोर कर्म युद्ध में क्यों लगाते हैं ? जब मुझे राज पाट धन दौलत की इच्छा ही न करनी चाहिये, तब युद्ध करने की क्या आवश्यकता है ! आपके कथन का सरांश तो मुझे यही मालूम होता है कि अब मुझे युद्ध वगैरः कुछ भी न करना चाहिये। क्योंकि—

कभी आप कर्मको अच्छा बताते हैं, और कभी ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ बताते हैं। कभी इच्छाओं के छोड़ देने में मेरी भलाई कहते हैं, और कभी कहते हैं कि हे अर्जुन ? उठ और युद्ध कर। आप की ऐसी पेचदार, उलझन में डालने वाली बातों से मेरी बुद्धि और भी गुम होगई है। आपकी इन बातों ने मुझे ऐसा चक्कर में डाल दिया है कि मैं अभी यह निश्चय नहीं कर सका। कि अब मुझे क्या करना चाहिये। अतः अब कृपा करके ऐसी एक बात बताइये, जिसके अनुसार चलने से मेरा भला हो। अर्जुन की यह बात सुनकर कृष्ण भगवान कहते हैं।

श्री भगवानुवाच।

(मू०) लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

[२]

(भा०प०) हैं द्विविध निष्ठाएँ जगतमें अनघ ! तुम हो सुन चुके।
है ज्ञान सांख्यों के लिये अरु कर्म योग सु साधु के ३
होती नहीं नैष्कर्म्य प्राप्ति न कर्म यदि आरम्भ हो।
कैसे मिलेगी सिद्धि यदि नहिं कर्म का प्रारम्भ हो ४

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं पहले ही कह चुका हूं कि, इस जगत में दो प्रकार के मार्ग हैं। सांख्य वालों को ज्ञान योग का, और योगियों के लिये कर्म योगका ३

काम न करने से कोई कर्म के बन्धनों से छुट्टी नहीं पा सकता। और न केवल कर्मों के छोड़ देने से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥४॥

भावार्थ—इस का खुलासा मतलब यह है कि काम न करने से मनुष्य निष्काम तत्वज्ञान को नहीं पासकता, क्योंकि केवल सन्यास लेने से विना चित्त की वृत्तियों के शुद्ध किये कोई सिद्धि नहीं पा सकता।

(मू०) न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृति जैर्गुणैः ॥५॥

[३]

(भा०प०) कोई विना कुछ कर्म के क्षण भर रहे सम्भव नहीं।
हो प्रकृति के गुण से विवश है कौन कुछ करता नहीं॥
अतएव तजि आसक्ति को सब कर्म नित करता रहे।
इस कर्म योग सुयोग का पालन सदा करता रहे ॥५॥

अर्थ—असल में कोई क्षण भर भी विना काम किये नहीं रह सकता, क्यों कि प्रकृति के सत्व, रज, और तमोगुण के कारण से मनुष्य को लाचार हो काम करना ही पड़ता है ॥५॥

भावार्थ—यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार काम न करना चाहे तो यह बात मनुष्य की इच्छा अनुसार होही नहीं सकती। उसे प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण के कारण काम करना ही पड़ेगा, क्योंकि मनुष्य प्रकृति के उक्त तीनों गुणों के अधीन हैं। अगर मनुष्य बिलकुल काम करना छोड़ देना चाहे, तो प्रकृति के उपरोक्त गुण उसे कायिक, मानसिक, या वाचिक कर्म करने को लाचार करेंगे और उस से कोई न कोई काम अवश्य करायेंगे। सारांश यह है, कि काम छोड़ देना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है।

(मू०) कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्वि मूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥६॥

[४]

(भा०प०) हैं वे सदा ही मूढ जो कर्मेन्द्रियों को रोक के।
रहते अहर्निश सोचते मनसे विषय में भोग के॥
मन शुद्धि बिन है इन्द्रियों को रोकना अर्जुन! वृथा।
पाखण्ड जो इसको कहें तो उचित ही है, नहिं मृथा ६

अर्थ—जो मनुष्य इन्द्रियों को वश करके कुछ काम तो नहीं करता, किन्तु मन में इन्द्रियों के विषयों का ध्यान किया करता है, वह मनुष्य झूठा और पाखण्डी है।

भावार्थ—इसका खुलासा मतलब यह है कि, मनुष्य को हाथ, पांव, मुंह, गुदा, और लिङ्ग को वश में कर लेने और इनसे काम न लेने से कुछ भी लाभ नहीं है। इन इन्द्रियों से तो इनका काम लेना ही चाहिये किन्तु आंख, कान, नाक आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन्हीं को वश में

करना या इनको अपने अपने विषयों से रोकना आवश्यक है। साराश यह है कि, हाथ, पांव आदि कर्म इन्द्रियों के रोकने से कोई फायदा नहीं है। फायदा है आंख, कान, आदि ज्ञानेन्द्रियों के रोकने से।

बहुत से लोग दिखावट के लिये अथवा जाहिरा में सिद्ध बनने के लिये, हाथ, पांव, आदि कर्मेन्द्रियों से कर्म नहीं करते बिलकुल निकम्मे बैठे रहते हैं। किन्तु मन से भांति भांति के इन्द्रिय विषयों की इच्छा किया करते हैं। श्री कृष्ण भगवान कहते हैं कि जो ऐसा करते हैं, वह पाखण्डी हैं। वह लोगों में सिधाई फैलाने या अपने तईं पुजाने के लिये झूंठा ढोंग करते हैं। सब से अच्छा और सिद्ध पुरुष वही है, जो जाहिरा तो काम किया करता है, किन्तु अन्दर से अपने मन और ज्ञानेन्द्रियों को विषय वासना से रोकता है।

(मू०) यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

[५]

(भा०प०) पर योग्यतर अरु श्रेष्ठतर हैं व्यक्ति अर्जुन! वे सभी।
जिनकी हुई हों इन्द्रियां वश, डिग नहीं सकती कभी॥
कर्मेन्द्रियों से कर्म कर के जो न कर्मासक्त हैं।
अन्तःकरण वश होगया जो प्रभु चरण के भक्त हैं ७

अर्थ—हे अर्जुन! जो मनसे आंख, कान, नाक, मुंह, और त्वचा इन ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके और कर्मेन्द्रियों के विषयों में, मन लगाकर यानी कर्म करता हुआ कर्म में आसक्त नहीं है, वही श्रेष्ठ है॥७॥

भावार्थ—इस अध्याय के ६-७ वें श्लोकों में पिछले दूसरे अध्याय के ४६ वे श्लोक में जो यह बतलाया गया है कि, कर्म योग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है स्पष्टी करण किया गया है, यानी साफ किया गया है।

(मू०) नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायोह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥८॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

[६]

(भा०प०) है कर्म करना श्रेष्ठतर नहिं कर्म करते से कहीं।
तू कर्म कर जिसके बिना निर्वाह तन तक का नहीं ८
यज्ञार्थ कर्मों के सिवा अन्यान्य जितने कर्म हैं।
सबलोक बन्धन हैं, यही कहते हमारे धर्म हैं॥

[७]

अतएव तुम करते चलो यज्ञार्थ कर्म विधान से।
रखना फलाशा पर नहीं, यह याद रखना ध्यान से ६
विधि ने प्रजा को यज्ञ के ही साथ रचकर के कहा।
हो वृद्धि मद यह यज्ञ सबका नित करे मंगल महा १०

अर्थ—हे अर्जुन? तू अपना नियत कर्त्तव्य कर्म कर, क्योंकि काम न करने से काम करना अच्छा है। अगर तू काम करना छोड़ देगा तो यह तेरा शरीर भी कायम न रहेगा ॥८॥

भावार्थ—श्री कृष्ण भगवान के कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को हाथ पर हाथ धरे कदापि न रहना चाहिये। हाथ पांव आदि पांच कर्मेन्द्रियों से अवश्य ही काम लेना चाहिये। अगर मनुष्य इनसे कुछ भी काम न लेगा तो उसकी काया ही नाश होजायगी। जब कायाही नाश हो जागगी तब वह ज्ञान योग कैसे कर सकेगा। इसलिये मनुष्य को कर्मेन्द्रियों से काम लेना परमावश्यक है। परन्तु आसक्त न हो, निष्काम कर्म करो।

अर्थ—मनुष्य यज्ञ, अथवा भगवान के लिये जो कर्म करता है वह ठीक है। यज्ञ अथवा ईश्वर प्राप्ति के सिवाय जो कर्म किया जाता है, उससे मनुष्य कर्म बन्धन में बध जाता है. इसलिये हे अर्जुन ? तू निष्काम होकर मनमें कुछ इच्छा न रखकर यज्ञ के लिये कर्म कर ॥६॥

प्राचीन समय सृष्टि रचना काल में प्रजापति ने यज्ञ सहित प्रजाको पैदा करके कहा। इस से तुम्हारी बढ़ती हो और यह तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण करे १०॥

भावार्थ—इसका खुलासा यह है, कि सृष्टि रचना के आरम्भ काल में, ब्रह्मा ने मानव जाति को पैदा करके कहा कि तुम लोग यज्ञ करो, यज्ञ करने से तुम्हारी वृद्धि होगी और उस से तुम्हें मन चाहे पदार्थ मिलेंगे, यानी जिस तरह इन्द्र की कामधेनु गाय मांगने वाले को मन मांगे पदार्थ देती है। वैसे ही यह यज्ञ तुम्हारे लिये कामधेनु की तरह काम देगा।

(मू०) देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

[८]

(भा०प०) शुभ यज्ञ से करते रहो सन्तुष्ट देवों को सदा ।
वे देव गण जिससे करें सन्तुष्ट तुमको सर्वदा ॥

करते हुए सन्तुष्ट यों इक दूसरे को प्रेम से ।
कल्याण करलो प्राप्त दोनों यज्ञ के शुभ मेल से ॥११॥

अर्थ—यज्ञ से तुम देवताओं की पूजा करो और उन्हें मनाओ। देवता लोग तुम्हारी वृद्धि करेंगे। इस तरह आपस में एक दूसरे की वृद्धि करने से तुम्हारा सब का भला होगा ॥११॥

(मू०) इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

[६]

(भा०प०) सन्तुष्ट हो सुरगण करेंगे पूर्ण सबकी कामना ।
होगा नहीं करना तुम्हें कठिनाइयों का सामना ॥
पाकर उन्हीं से भोग उनको ही बिना अर्पण किये ।
जो भोगते हैं चोर हैं निश्चय समर्पण बिन किये १२

अर्थ—यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देवता तुमको तुम्हारे मनोवाञ्छित सुख देंगे। जो कोई उनके दिये हुए पदार्थों को उनके बिना दिये ही स्वयं भोग करता है वह निश्चय ही चोर है ॥१२॥

भावार्थ—मतलब यह है कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होते हैं और खुश होकर वर्षा करते हैं, जिस से अन्न पैदा होता है। अन्न से मनुष्य को जीवन रक्षा और वृद्धि होती है। किन्तु जो मनुष्य देवताओं से वर्षा द्वारा अन्न आदि पाकर फिर उनकी वृद्धि प्रसन्नता के लिये यज्ञ नहीं करता वह चोर है।

(मू०) यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

[१०]

(भा०प०) पर यज्ञ करने पर बचे जो कुछ उसे हैं भोगते।
वह मुक्त पापों से तुरत हो छूटते भव रोगते॥
निज पेट की ही पूर्त्ति हित जो हैं पकाते अन्न को।
हैं वे अघी खाते समझलो पाप रूपी अन्न को॥१३॥

अर्थ—जो यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाते हैं वह सारे पापों से छूट जाते हैं। किन्तु जो अपने लिये ही अन्न पकाते हैं वे पापी निश्चय ही पापों का भोजन करते हैं॥१३॥

भावार्थ—इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग बलिवैश्वदेव आदि पंच यज्ञ अर्थात्–ऋषियज्ञं, देवयज्ञं, भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं, पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत॥ (मनु०) इनको यथा शक्ति छोड़ना न चाहिये। उपरोक्त पंचयज्ञ करने के पीछे जो अन्न बच रहता हैं उसे जो खाते हैं। वे पापों से छुटकारा पाजाते हैं किन्तु जो विना यज्ञ किये आपही खालेते हैं व पाप रूपी कीचड़ में फंसकर घोर दुख उठाते हैं।

(मू०) अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न सम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

[११]

(भा०प०) हैं अन्न से उत्पन्न प्राणी मेघ देता अन्न है।
वह मेघ मख से और मख भी कर्म से उत्पन्न है १४

अतएव रहता यज्ञ में वह सर्वगत परब्रह्म है।
उस कर्म से ही ब्रह्म अक्षर से हुआ परब्रह्म है ॥१५॥

अर्थ—अन्न से सब प्राणी होते हैं, अन्न वर्षा से होता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है ॥१४॥

तथा उस कर्म को तूं ब्रह्म वेद अर्थात प्रकृति से पैदा हुआ जान और वेद प्रकृति की उत्पत्ति अविनाशी परमात्मा से हुई है। इसलिये सर्व व्यापी परम अक्षर परमात्मा ही सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥१५॥

भावार्थ—इसलिये साफ मतलब इसका यह है। कि अन्न खाने से मनुष्य की जीवन रक्षा होती है। अन्न जब पेट में पहुंचता है तब उसका रस खिचता है। रस से रक्त बनता है। रक्त से मांस, मेद, अस्थि, मज्जा आदि धातुएँ बनती हैं। यही सातों धातुएं शरीर को धारण करती हैं। इन सबकी वृद्धि से ही मनुष्य का जीवन कायम है और इनके नाश से मनुष्य का जीवन नाश हो जाता है। किन्तु इन सब धातुओं की पुष्टि और कमी को पूरा करने वाला अन्न है। अतः प्राणियों की प्राण रक्षा के लिये अन्न ही प्रधान चीज है। अन्न वर्षा होने से पैदा होता है। अगर मेह न बरसे तो अन्न पैदा ही न हो, इसलिये अन्न का पैदा होना मेह पर निर्भर है। मेह यज्ञ से होता है। अगर यज्ञ न किया जाय तो बादल न बनें और जब बादल ही न बनें तो वर्षा कहां से हो। मतलब यह है कि वर्षा होने के लिये यज्ञ करना आवश्यक है। लेकिन यज्ञ कर्म से होता है। अगर कर्म ही न किया जायतो यज्ञ कहां से हो ? इस विचार से यही तत्व निकलता है कि सब में कर्म प्रधान है। बिना कर्म के जगत में कोई काम नहीं चल सकता। कर्म किये बिना यह सृष्टि ही नहीं रह सकती।

श्री कृष्ण भगवान का यह उपदेश, हम भारत वासियों के लिये नहीं नहीं सब जगत के लिये ही कैसा अच्छा और सुखदाई है। आज कल

हमारे देश में, जो हर साल अकाल पर अकाल पड़ते हैं, लाखों जीव विना मौत काल के गाल में समा जाते हैं, वह सब दुख, कृष्ण भगवान् की आज्ञा पालन न करने से हम स्वदेश वासियों को भोगने पड़ते हैं। एक समय था कि जब इस आर्य भूमि के घर घर, बन बन में नित्य यज्ञ हुआ करते थे। जहां पर कभी अकाल देवता के दर्शन भी न होते थे। आज वह समय है, कि लोग यज्ञों का नाम भी नहीं लेते। मनु भगवान भी कहते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अर्थात्—अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह सूर्य्य तक पहुंचती है सूर्य्य से वृष्टि होती है, और वृष्टि से अन्न, और अन्न से प्रजा।

इसके सिवाय वायुकी शुद्धि होती है जिस से रोग भी नहीं होते। जब से हमारे देश में यज्ञ बन्द होगये, और इधर पाश्चिमी कल कारखानों और रेलके कारण वायु और भी अधिक दूषित होगई। तभी से इस देश में नाना प्रकार के रोग फैलगये। रोग निवृत्ति के अर्थ तो अब भी ग्रामीण लोग हवन इत्यादि किया करते हैं, और प्रायः उस से लाभ ही हुआ करता है। इससे अनुमान करलेना चाहिये, कि जिस समय इस देश में बड़े २ यज्ञ होते थे, उस समय इस देश में आरोग्यता और सुख समृद्धि कितनी होगी। भविष्यपुराण में लिखा है—

ग्रामे ग्रामे स्थितो देवः देशे देशे स्थितो मखः।
गेहे गेहे स्थितं द्रव्यम् धर्मश्चैव जने जने॥

अर्थात् गांव गांव में देवता स्थित हैं, देश देश में तथा भारत के प्रत्येक प्रान्त में यज्ञ होते रहते हैं, घर घर में द्रव्य मौजूद है, और प्रत्येक मनुष्यों में धर्म मौजूद है।

कुछ मूर्ख लोग कहा करते हैं कि, देश की इस दरिद्रावस्था में घृत, मेवा, औषधि तथा सुन्दर सुन्दर अन्न, खांड, हलुआ इत्यादि अग्नि में फूंक देना मूर्खता है। इन पदार्थों को यदि स्वयं खाजाय, तो मोटे ताजे और पुष्ट होंगे। इसी स्वार्थ भावने इस देश का सत्यानाश किया है। यह मूर्ख नहीं जानते, कि यज्ञ जनता के हितके लिये स्वार्थ त्याग करने के हेतु से ही होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है—

"यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते"।

ऐतरेय ब्राह्मण

अर्थात् यज्ञ कार्य्य परोपकार और जनता के हित किया जाता है। हमारा निज का हित भी उस से अलग नहीं है। यही बात श्री कृष्ण भगवान ने भी अर्जुन के प्रति कही है। फिर जो पदार्थ हम हवन करते हैं। वे कहीं नष्ट होकर लोप नहीं होजाते। जल वायु और अन्न के द्वारा हमारे ही उपयोग में आते हैं। मूर्ख लोग समझते हैं कि इनका नाश हो जाता है। पर वास्तव में जो चीज यथार्थ है उसका नाश तो हो ही नहीं सकता, और जो नहीं है वह होही नहीं सकती। श्री कृष्ण भगवान ने इस बात को गीता के दूसरे अध्याय के १६ वें श्लोक में अर्जुन को समझाया है कि—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। यानी जो चीज है उसका अभाव नहीं होता और जो नहीं है उसका भाव कहां से हो सकता।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं एक तो नैमित्तिक यज्ञ जो किसी निमित्त से किये जाते हैं; जैसे वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय आदि और दूसरे नित्य के यज्ञ जो प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये जिनको पंच महा यज्ञ कहते हैं। पंच महायज्ञ के अतिरिक्त पक्षयज्ञ, जो प्रत्येक पौर्णमासी और अमावश्या को किया जाता है। तथा नवस्येष्टि नवीन अन्नों के आने पर और संवत्सरेष्टि नवीन संवत् के प्रारम्भ में किया जाता है।

परन्तु हम लोगोंने यज्ञ करना छोड़ दिया, यही नहीं बल्कि हम में से अनेक सुशिक्षित कहलाने वाले स्वार्थी लोग तो यज्ञ की हंसी उड़ाते हैं। उनकी समझ में श्री कृष्ण भगवान की यह बात कि यज्ञ से वृष्टि होती है, समझ में नहीं आती। वे लोग कहते हैं कि सूर्य्य की गर्मी से जो भाफ समुद्रादि जलाशयों से उठती है, उसी से बादल बनकर वृष्टि होती है। यह तो ठीक है, परन्तु क्या कारण है कि किसी साल में अधिक, किसी साल में कम और किसी साल में कुछभी नहीं, अथवा किसी स्थान पर महा वृष्टि और कहीं अनावृष्टि एवं कहीं कुछभी नहीं होती इसके उत्तर में आप कहेंगे कि भाफ तो बराबर उठती है, किन्तु हवा बादलों को कहीं का कहीं उड़ा लेजाती है। परन्तु हवा ऐसा क्यों करती है, इसका कोई बुद्धि युक्त उत्तर नहीं दिया जा सकता है। यही तो भेद है। प्राचीन ऋषि मुनियों ने इस भेद का भलि भांति खुलासा दिया है। वे कहते हैं कि यथा विधि यज्ञ करने से मुख्य तो वायु की ही शुद्धि होती है। फिर पृथ्वी, जल, वायु, आकाश इत्यादि, सभी भूतों पर यज्ञ का असर पड़ता है, अग्नि में घृत आदि जो सुगन्धित और पुष्ट पदार्थ डाले जाते हैं वे वायु में मिलकर सूर्य तक पहुंचते हैं और वायु में मिलकर जलकी भी शुद्धि करते और रोग भी दूर होते हैं। इसपर भी भगवान कृष्ण कितने जोर दार शब्दों में यज्ञ की महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं—

(मू०) एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

[१२]

(भा०प०) आगे चलाते जो नहीं यों चक्र यज्ञ सुकर्म के ।
हे पार्थ ? जीवन कर्म उनके हैं वृथा बिन मर्म के १६
जो तृप्त अरु सन्तुष्ट रहते नित्य अपने आप में ।
रहता उन्हें करना न कुछ तपते न वे त्रय ताप में १७

अर्थ—हे अर्जुन ! जो इस चक्र के अनुसार नहीं चलता है, वह इन्द्रियों के विषयों में लगा हुआ, अपनी जिन्दगी खोता है । उसका जीना व्यर्थ है १६

जो मनुष्य आत्मा में ही मग्न रहता है; यानी आनन्द स्वरूप में ही आनन्द मानता है, आत्मा से ही तृप्त रहता है, और आत्मा से ही सन्तुष्ट रहता है उसके लिये, निस्सन्देह कुछभी काम नहीं करना है ॥१७॥

भावार्थ—जिस चक्र की ऊपर बात कहचुके हैं । जिसे हम पहले समझा चुके हैं । कि शरीर अन्न से, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से, यज्ञ कर्म से, और कर्म शरीर से होता है । यही ईश्वर का चक्र है । जो मनुष्य यज्ञ नहीं करता, किन्तु अपनी इन्द्रियों के सुख देने में ही लगा रहता है । उस का जीवन निष्फल है ; यह यज्ञ की महिमा बढ़ाते हुए भी कृष्ण भगवान "कर्म" की प्रधानता ही सिद्ध कर रहे हैं । अबतक श्री कृष्ण भगवान कर्म न करने वाले को दोषी कहते आये हैं आगे चलकर वह यह भी दिखा देते हैं, कि किसे कर्म न करने से दोष नहीं लगता । भगवान कहते हैं—

जिस मनुष्य की आत्मा से ही प्रीति है, जिसकी आत्मा से ही तृप्ति होजाती है यानी अन्न आदि की आवश्यकता नहीं होती, जो आत्मा से ही खुश रहता है। अर्थात जो सदा ईश्वर प्रेम में मग्न रहता है, और जिसे खाने पीने आदि की इच्छा नहीं रहती। वह कोई काम करने के लिये मजबूर नहीं है। अगर वह काम करे तो उसे पुण्य नहीं होता, अगर न करे तो कोई पाप नहीं लगता, उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, अतः उसे किसी प्रकार के मनुष्य का आश्रय टटोलने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(मू०) नैव तस्य कृते नार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्व भूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

[१३]

(भा०प०) चाहे करें वे कार्य कुछ चाहे करें कुछ भी नहीं।
होगा न उनको लाभ कुछ भी हानि भी होगी नहीं॥
रहता न उनका कार्य कुछ सब प्राणियों के बीच में
निर्द्वन्द हो रहते, कभी पड़ते नहीं भव कीच में।१८।

अर्थ—इस संसार में उस पुरुष का किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं और न किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है। अर्थात् उसका समस्त प्राणियों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है तो भी उसके द्वारा लोक हितार्थ कर्म किये जाते हैं।

(मू०) तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रह मेवापि सम्पश्यन्कर्तु मर्हसि ॥२०॥

[१४]

(भा०प०) अतएव तजि आसक्ति तुम कर्त्तव्य कर्म करो सदा ।
हो विरत करते कार्य जो पाते परम पद सर्वदा ।१९।
जनकादि ने भी सिद्धि पायी कर्म कर सोचो हिये ।
इस लोक संग्रह हेतु करना कर्म तुमको चाहिये ।२०।

अर्थ—हे अर्जुन ! तू इन्द्रियों के अधीन न होकर अपना कर्त्तव्य कर्म कर। इन्द्रियों को जीत कर, काम करने वाला परम पद को तथा परमात्मा तक पहुंचता है ॥२०॥

भावार्थ—यहां श्री कृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन ? आत्मानन्दी पुरुष सब काम छोड़ कर निर्दोष रह सकता है, परन्तु तू वैसा आत्मानन्दी या तत्वज्ञानी नहीं है। तू धन दौलत, राज पाट और कुटुम्ब परिवार में फसा हुआ है। तुझ से वैसा नहीं हो सकता और तुझे वैसा करना भी न चाहिये। अगर कोई मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों को अधीन करके या कर्मों में आसक्त न होकर अथवा फलेच्छा छोड़कर काम करे तो वह परम पद या परमात्मा को पासकता है तू भी उसी तरह इस युद्ध को कर। क्योंकि—

अर्थ—जनक आदि ज्ञानी लोग कर्म करते करते ही परम पद पागये हैं। इसलिये तुझे भी संसार की भलाई पर दृष्टि रखते हुए काम करना चाहिये २०

(मू०) यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नान वाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

[१५]

(भा०प०) जो श्रेष्ठ जन करते वही करते सदा अन्यान्य भी ।
उनके प्रदर्शित मार्ग का अनुकरण करते हैं सभी २१
करना मुझे त्रैलोक्य में हे पार्थ ! है कुछ भी नहीं ।
ऐसी अलभ्य न वस्तु है जो लभ्य है मुझको नहीं २२

अर्थ—बड़े लोग जिस चाल पर चलते हैं, दूसरे लोग भी उन्हीं की चाल पर चला करते हैं। बड़ा आदमी जिस बात को चला देता है, दुनियां उसी पर चलने लगती है ॥२१॥

हे अर्जुन ! तीन लोक में ऐसा कोई काम नहीं है, जो मुझे करना चाहिये, ऐसी कोई चीज नहीं है, जो मुझे नहीं मिल सकती और न मुझे किसी चीज के प्राप्त करने की इच्छा ही है, तथापि मैं काम करने में लगा रहता हूं ॥२२॥

(मू०) यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्य तन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

[१६]

(भा०प०) फिर भी भले मैं कर्म में रहता सदा ही निरत हूं ।
ऐसा न कर आलस्य में यदि मैं स्वयं ही रत रहूं ॥
हे पार्थ ! अनुगामी बनेंगे सकल जन मेरे तभी ।
तजि कर्म सब आलस्य मय जीवन बितावेंगे सभी २३

अर्थ—हे पृथा पुत्र अर्जुन ? यदि मैं निरालस्य होकर कामों में न लगा रहूं, तो सब लोग मेरी नकल करेंगे यानी काम करना छोड़ देंगे ॥२३॥

भावार्थ—अगर मैं कर्म न करूंगा तो दुनियां कहने लगेगी कि यदि कर्म श्रेष्ठ होता, तो श्री कृष्ण ही करते। काम करना अच्छा नहीं था तभी कृष्ण ने कर्म नहीं किया।

(मू०) उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

[१७]

(आ०प०) यह सृष्टि हो उत्पन्न यदि मैं ही स्वयं त्यागी बनूं।
निज हाथ से होवें प्रजाजन नष्ट मैं शङ्कर बनूं॥
आलस्य रत होकर सभी फिर कर्म करना छोड़ के।
सब बैठ जायेंगे निकम्मे कर्म से मुंह मोड़ के ॥२४॥

अर्थ—यदि मैं कर्म न करूं तो त्रिलोकी नष्ट होजायगी। मैं वर्णन सङ्कर करने वाला और इन प्रजाओं को नष्ट करने वाला ठहरूंगा ॥२४॥

भावार्थ—हे अर्जुन! मेरी ओर देखकर, प्रजा कर्म को तुच्छ समझने लगेंगी और बिल्कुल कर्म न करेगी। कर्म के लोप होने से धर्म नष्ट होजायगा। धर्म के नाश होने से तीनों लोक नष्ट हो जायगे। किसी को भय न रहेगा। सब मनमानी करने लगेंगे। 'जिस की लाठी उसकी भैंस' वाली कहनावत चरितार्थ होने लगेगी। मर्यादा नाश हो जायगी संसार में कुकर्म और दुराचार बढ़ जायँगे। दुराचार से वर्ण शङ्कर जन्म लेने लगेंगे। अपनी प्रजाका आपही नाश करने और वर्ण शङ्कर पैदा करने का दोष मेरे ही सिरपर रहेगा। इन्हीं दोषों से बचने और प्रजाको मर्यादा पर चलाने के लिये ही मैं कर्म करता हूं।

(मू०) सक्ताः कर्मण्यविद्वान्सो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

[१८]

(भा०प०) रहते निरत आसक्त अज्ञानी पुरुष ज्यों कर्म में ।

व्यापार में व्यवहार में संसार में गृह कर्म में ॥

हे पार्थ ! त्योंही ज्ञानियों को लोक संग्रह के लिये ।

आशक्ति तजि निर्द्वन्द होकर कर्म करना चाहिये ।२५।

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस भांति मूर्ख लोग, कर्म में आसक्त होकर काम करते हैं; उसी भांति विद्वान लोगों को भी लोगों की भलाई की इच्छा से कर्मों में आसक्त न होकर कम करना चाहिये ॥२५॥

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि अज्ञानी लोग तो सांसारिक व्यवहार के कामों में आसक्त होकर, यानी कामों में मोह रखकर काम करते हैं। किन्तु ज्ञानियों को कर्मों में मोह न रखकर लोगों को शिक्षा देने के लिये कर्म करना चाहिये जिस से धर्म मार्ग चलता रहे, और लोक मर्यादा बनी रहे ।

(मू०) न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहङ्कार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥

[१९]

(भा०प०) भ्रम हो नहीं अज्ञानियों को कर्म यदि ज्ञानी करें ।

आलस्य मोह प्रमाद होवें दूर विपदायें टरें ॥२६॥

प्रेरित गुणों से प्रकृति के सब कर्म होते आप हैं ।
'हमने किया' कह मूर्ख करते व्यर्थ गर्व प्रलाप हैं २७

अर्थ—हे अर्जुन ? जिन अज्ञानी लोगों का मन काम में फसा हुआ है, उन का मन ज्ञानवानों को काम से कदापि न फेरना चाहिये । उनको उचित है कि आप काम करें और उनको उपदेश देकर उनसे भी कर्म करावें ॥२६॥

क्योंकि सारे काम प्रकृति के सत्व, रज, और तम इन तीन गुणों द्वारा होते हैं । किन्तु जिसका आत्मा अहङ्कार से मूढ़ होगया है वह समझता है । "मैं करता हूं । "॥२७॥

भावार्थ—मतलब यह है कि ज्ञान योगी मनुष्यों को कर्मों में फसे हुए लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश देकर, उनका दिल काम से न फेरना चाहिये; बल्कि वह आप कर्मों में मोह न रख कर काम करे, और दूसरों से करावे । क्योंकि यदि कर्म में फसे हुए लोगों का दिल हट गया और उनको आत्मज्ञान न हुआ तो वही मसल होगी कि—"द्विविधा में दोनों गये, माया मिली न राम" । वे बेचारे धोबी के कुत्ते की तरह घर और घाट कहीं के न रहेंगे ।

(मू०) तत्ववित्तु महाबाहो गुण कर्म विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

[२०]

(भा०प०) मैं भिन्न हूं गुण कर्म से यह भेद जो हैं जानते ।
जो इन गुणों के खेल को सब भांति हैं पहचानते ॥
होते नहीं आसक्त वे इनमें भली विधि जानते ।
'गुण खेलते गुण साथ हैं' यह चाल वे पहचानते २८

अर्थ—लेकिन जो मनुष्य सत्व आदि गुण और उनके कर्मों के विभाग को जानता है, वह यही समझता है कि, सत्व आदि गुण स्वयं काम करारहे हैं, इसलिये वह उन में आसक्त नहीं होता।

भावार्थ—पहले भगवान ने कहाथा कि, जो अज्ञानी मनुष्य काम में आसक्त हैं, उन्हें ज्ञानी काम से बन्द न करें, और उनसे भी करावे।

इसपर यह विचार उठता है; कि यदि ज्ञानी भी अज्ञानी के समान काम करेगा, तो ज्ञानी और अज्ञानी में क्या अन्तर होगा? इसी सन्देह को निवारण करने के लिये, भगवान ने कहा है, कि प्रकृति इन्द्रियों के जरियों से आप काम करानी है। आत्मा कुछ नहीं करता, किन्तु जो मूर्ख हैं, जिनकी मति अहङ्कार से मारी गई है, वे समझते हैं, कि सब काम हमही करते हैं। किन्तु वास्तव में वे कुछ भी नहीं करते, प्रकृति ही सब कुछ कराती है। अज्ञानियों की इस भूल का कारण यही है, कि वे लोग इन्द्रियों को आत्मा समझते हैं। परन्तु ज्ञानी लोग इन्द्रियों से आत्मा को जुदा समझते हैं, और प्रकृति द्वारा इन्द्रियों से कराये हुए काम को अपना किया हुआ काम नहीं समझते। यानी अपने तई कर्मों से अलग समझते हैं। जो लोग इन्द्रियों और कर्म से अपने तई अलग समझ कर; तत्व को जानते हैं; वे ही तत्त्वज्ञानी हैं। सारांश यह है कि, तत्वज्ञानी प्रकृति द्वारा इन्द्रियों को कर्म करती हुइ समझते हैं। इन्द्रियों के किये हुए काम को अपना नहीं समझते। लेकिन अज्ञानी इन्द्रियों के किये हुए काम को अपना समझते हैं।

(मू०) प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नवित्र विचालयेत्॥२६॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याऽध्यात्म चेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

[२१]

(शा०प०) जो इन गुणों के फेर में पड कर्म गुण आसक्त हैं ।
विचलित न दे सर्वज्ञ उनको जो विषय अनुरक्त हैं ।२६।
अध्यात्म विधिसे कर समर्पण सकल कामों को मुझे ।
निश्चिन्त हो तजि मोह तू कर युद्ध मैं कहता तुझे ।३०।

अर्थ—जो प्रकृति के गुणों की भूल में पड़े हैं, वे सत्व, रज आदि गुणों के कामों में फसे रहते हैं, उन मूर्खों को ज्ञानी लोग कर्म मार्ग से न हटावें ॥२६॥

हे अर्जुन सब कर्मों को मुझ में समर्पण कर, आत्मा में चित्त लगा कर, आशा और अहङ्कार को त्याग कर, शोक और सन्ताप से रहित होकर, युद्ध कर ॥३०॥

भावार्थ—श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, कि तुम अपने क्षत्रिय स्वभाव के अनुसार युद्ध करो। मन में ऐसा मत समझो कि, मैं युद्ध करता हूं, बल्कि यह समझो कि मैं भगवान के अधीन होकर जो वह कराते हैं सो करता हूं। न मेरा यह काम है और न मैं इसका करने वाला हूं। साथ ही यह आशा भी मत करो कि, मुझे इस से यह फल मिलेगा। न अपने भाई बन्धु, इष्ट मित्र और सम्बन्धियों के मरने का शोक सन्ताप ही मन में रखो।

(मू०) ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्तेतेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञान विमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

[३२]

(भा०प०) श्रद्धालु जन जो नित्य चलते इस बताये मार्गपर ।
वे कर्म बन्धन मुक्त हो रखते न दृष्टि कुमार्गपर ।३१।
पर भ्रमित दोष दृष्टि से जो होगये पथ भ्रष्ट है ।
वे मूढ़ बुद्धि विवेक हीन अवश्य होते नष्ट हैं ॥३२॥

अर्थ—जो मनुष्य मेरे इस उपदेश पर, सदा विश्वास रख कर, चलते हैं, इस में दोष नहीं निकालते हैं, वे कर्म बन्धन से छुटकारा पाजाते हैं ॥३१॥

और जो मेरे उपदेश की बुराई करते हैं, और मेरी शिक्षानुसार नहीं चलते, उन हृदय के अन्धों, यानी अज्ञानियों को नष्ट हुए समझो ॥३२।

भावार्थ—उपरोक्त दोनों श्लोकों में श्रीकृष्ण ने उपदेश, मानने और न मानने वालों के हानि लाभ बताये हैं। उन्होंने कहा है कि जो मनुष्य मेरे उपदेश पर सदा विश्वास और श्रद्धा से चलेंगे और उसमें कोई दोष न निकालेंगे वे कर्म करते करते ही कुछ दिनों में कर्म मुक्त हो जायँगे, किन्तु जो मेरे मत में दोष निकालेंगे, और उनके अनुसार न चलेंगे, वे अज्ञानी, महा मन्दमति, अज्ञानता के गढ़े में पड़े पड़े किसी कामके न रहेंगे, और सदा कर्मकी बेड़ियों में जकड़े रहेंगे।

(मू०) सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परि पन्थिनौ ॥३४॥

[२३]

(भा०प०) चलते सभी प्राणी, पुरुष ज्ञानी प्रकृति अनुसार हैं ।
हठ बल न करते इन्द्रियों को वश, सभी बेकार हैं ३३,
सब इन्द्रियों को प्रकृति से ही प्राप्त राग द्वेष हैं ।
होना न इनके वश कभी, ये शत्रु देते क्लेश हैं ॥३४॥

अर्थ—ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृति, स्वभाव के अनुसार चलता है । समस्त प्राणी प्रकृति के अनुसार चलते हैं । इन्द्रियों के रोकने से क्या होगा ? ॥३३॥

क्योंकि हर एक इन्द्रियों को अपने अपने विषय से प्रेम, और प्रतिकूल, विषयों से द्वेष है । रागद्वेष के वशीभूत होना ठीक नहीं है । क्योंकि राग और द्वेष ही मोक्ष में विघ्न करने वाले हैं ॥३४॥

भावार्थ—अगर कोई शंका करे, कि जब इन्द्रियों के वश करने और इच्छा के त्यागने से ही सिद्धि होती है । तब सब संसार ही ऐसा क्यों न करे ? इस शंका के दूर करने के लिये भगवान कहते हैं, कि ज्ञानी से ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार काम करता है । प्रकृति बलवान है । जब ज्ञानी का ही प्रकृति स्वभाव पर वश नहीं चलता, तब बेचारे अज्ञानियों को क्या दोष है ! समस्त जगतको ही अपनी प्रकृति के अनुसार चलना पड़ता है । स्वभाव या प्रकृति के सामने कोई इन्द्रियों को रोक नहीं सकता ।

अब कि कोई इन्द्रिय किसी को चाहती है, और किसी को नहीं मतलब यह है कि हरएक इन्द्रियां अपनी अपनी अनुकूल वस्तु से प्रेम करती है, और प्रतिकूल से वैर करती हैं। इन्द्रियों का राग और द्वेष के अधीन होना, अथवा किसी चीज से प्रेम और किसी से वैर करना मोक्ष के रास्ते में विघ्न कारक है। यद्यपि राग और द्वेष स्वभाव सिद्ध हैं। तथापि इनके वशीभूत न होना ही भला है। हे अर्जुन ! तुझमें जो इस समय दया भाव पैदा होगया है, उसे छोडो और युद्ध करो।

(मू०) श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मेनिधनंश्रेयः परधर्मोभयावहः ॥३५॥

[२४]

(भा०प०) हो दोष युत निज धर्म पर! पर धर्म से उत्तम महा।
दुःखद स्वधर्म भला, भला परधर्म करता है कहा।
निजधर्म प्रथकी मृत्यु भी कल्याण कर होती सदा।
परधर्म है होता भयङ्कर प्रखर काँटों से लदा ॥३५॥

अर्थ—पराये सर्व गुण सपन्न धर्म अपना गुण हीन धर्म भी अच्छा है। अपने ही धर्म में मरना अच्छा है क्योंकि पराया धर्म भयकारी है ॥३५॥

भावार्थ—तात्पर्य्य यह है कि मनुष्य के चित्त में जब राग द्वेष पैदा होता है, तब उसे अपना धर्म बुरा, और पराया धर्म भला लगता है।

अर्जुन ने जब अपने कुटम्बी और रिस्तेदारों को देखा, तब उसे उन की ओर से मोह हुआ, अथवा यों कहसकते हैं कि, नेत्र इन्द्रिय को राग उत्पन्न हुआ। तब अर्जुन कहने लगा कि मैं अपना क्षत्रिय धर्म छोड़ दूंगा; और भीख मांग खाऊंगा; पर युद्ध न करूंगा; इसी पर श्री कृष्ण ऊपर

कह आये हैं कि इन्द्रियों का राग द्वेष के वश में होना अनुचित है। फिर कहते हैं कि, राग द्वेष के अधीन होकर अपना धर्म छोड़ना और पराया धर्म ग्रहण करना ठीक नहीं है। तुम क्षत्रिय हो। युद्ध करना तुम्हारा धर्म है। अगर तुम अपने क्षत्रियोचित धर्म को छोड़ दोगे, तो निस्सन्देह नरक में जाओगे, और जो अपने ही धर्म का काम करते हुए प्राण त्याग करोगे, तो मोक्ष पद पाओगे। यहां श्री कृष्ण अर्जुन को इन्द्रियों के दोष, राग द्वेष से हटाकर उनके क्षत्रिय धर्म में लगाते हैं। श्री कृष्ण के कहे हुए उपरोक्त वचनों को सुनकर पुनः अर्जुन पूछने लगा।

(मू०) अथकेनप्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपिवार्ष्णेय बलादिवनियोजितः ॥३६॥

भगवान ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

[२५]

(भा०प०) "इच्छा रहित भी मनुज करते पाप, को प्रेरक कहो।
है जान पड़ता कर रहे हैं पाप सब लाचार हो" ।३६।

भगवान ने कहा—

है क्रोध एवं काम ही पापी महा पेटू महा।
उत्पत्ति इनकी है रजोगुण से; कराते पाप हां? ।३७।

अर्थ—हे कृष्ण? यह मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, तोभी किस के जोर देने से किसकी प्रेरणा से पाप कर्म करने लगता है! ऐसा मालूम होता है, मानों कोई इस से जोर देकर पाप कराता है। तब भगवान कहने लगे ॥३६॥

हे अर्जुन ? वह काम है, वह क्रोध है। जो रजोगुण से पैदा हुआ है। काम सब कुछ खाजाने परभी नहीं अघाता। वह बड़ा पापी है। इस जगत में काम ही हमारा शत्रु है ॥३७॥

भावार्थ—अर्जुन श्री कृष्ण की बात को सुनकर कहने लगा, कि आप कहचुके हैं कि, राग द्वेष के अधीन न होना चाहिये। परन्तु आप से मैं यह पूछता हूं, कि ज्ञानी आदमी जो इन सब बातों को जानता समझता है। और ज्ञान बलसे काम, क्रोध को रोककर भी विषयों में फंसजाता है, और पाप करने लगता है। इससे ऐसा जान पड़ता है, कि मनुष्य से कोई, उसकी इच्छा पाप कर्मों में न होने पर भी जबरदस्ती पाप कराता है। हे कृष्ण ! वह पाप कर्मों में प्रेरणा करने वाला, विषयासक्त होने के लिये मनुष्य को उकसाने वाला, कौन है ?

इस के जवाब में भगवान कहने लगे कि, हे अर्जुन ! मनुष्य को पापों में लगाने वाला तथा जबरदस्ती विषयों में फसाने वाला "काम" है। काम का सरल और सीधा अर्थ "इच्छा" है। यह इच्छा जगतको अपने अधीन रखती है। जब इस इच्छा के विरुद्ध काम होता है या इच्छानुसार काम नहीं बनता अथवा इच्छानुसार पदार्थ या भोग की वस्तुएँ नहीं मिलतीं, तब यह इच्छा "क्रोध" में बदल जाती है। इस इच्छा के पेट की कुछ थाह नहीं है। इसके पेट में चाहे जितना भरेजाओ, यह कभी नहीं अघाती अर्थात इसे ज्यों ज्यों भोग भोगने को मिलते हैं, त्यों त्यों इसकी भूख बढ़ती ही जाती है। हम देखते हैं कि, जिस मनुष्य को पेट भर भोजन नहीं मिलता, तो वह पहले पेट भर भोजन चाहता है, जब उसकी इच्छानुसार रूखा सूखा भोजन मिलने लगता है, तब वह अच्छे अच्छे स्वादिष्ट पदार्थों की इच्छा करता है। जब वहभी मिलजाते हैं तो वह महल मकान, गाड़ी घोड़े आदि की इच्छा करता है, और जब वह इच्छा भी पूरी होजाती है

तब वह राज्य की इच्छा करता है। राज्य मिल जाने पर चक्रवर्ती राजा होना चाहता है। चक्रवर्ती होने पर स्वर्ग का राज्य चाहता है। मतलब यह है कि ज्यों ज्यों इच्छानुसार भोग मिलते हैं, त्यों त्यों इच्छा बढ़ती जाती है। यही इच्छा जब पूरी नहीं होती, तब इच्छा पूर्ण करने के लिये मनुष्य पाप करने लगता है। जिसके ऊपर इच्छा का राज्य नहीं है और इच्छा के आधीन नहीं है वही ज्ञानी है वही श्रेष्ठ है। खूब सोच विचार कर देखओ कि इच्छा ही मनुष्य की परम शत्रु है, यही मनुष्य को मोक्ष की राह में कण्टक स्वरूप है। श्री कृष्ण का कहने का मतलब केवल यही है, कि कामना यानी इच्छा ही मनुष्य पर जोर देकर पाप कराती है।

(मू०) धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथादर्शोमलेन च ।
यथोल्वे नावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञान मेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

[३६]

(भा०प०) ज्यों धूम से पावक ढका, ज्यों धूल से दर्पण ढके ।
ज्यों गर्भ झिल्ली से ढका, इनसे सभी त्यों हैं ढके ३८
यह काम रूपी नित्य अरु अतृप्त वैरी अग्नि है ।
है ज्ञान ज्ञाता का ढका कौन्तेय यह वह वन्हि है ३९

अर्थ—जिस तरह धुएँ से आग ढकी रहती है, धूल से दर्पण ढका रहता है, और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, उसी तरह ज्ञान भी कामना इच्छा से ढका रहता है ॥३८॥

हे कुन्ती पुत्र ! इस "काम" ने ज्ञानियों की बुद्धि पर परदा डाल रक्खा है। यह उनका सदा दुश्मन है। यह अग्नि की तरह कभी नहीं अघाता ॥३९॥

भावार्थ—उपरोक्त दोनों श्लोकों से श्रीकृष्ण अपनी पहली बात की पुष्टि करते हैं। और कहते हैं कि सब अनर्थों की मूल "कामना" हीं है। जिस तरह आग में चाहे जितना ईंधन डालो, उतना ही वह भस्म करती जायगी, जितना ही ईंधन उसे मिलता जायगा उतनीही शक्ति बढ़ती जायगी। यही हाल इच्छा का है। एक इच्छा पूरी नहीं हुई जबतक दस इच्छाओं ने और घेरलिया। मनुष्य चाहे कितना ही बिषय भोग भोगले उसकी इच्छा भोगोंकी ओरसे कदापि कम न होगी, बरन बढ़ती ही जायगी। अगर इच्छा पूर्ण नहीं होती तो दिल में दुःख होता है। और घोर पाप करने पर उतारू होजाता है। इच्छा ही की प्रेरणा से मनुष्य बन्धन में फसजाता है। अगर मनुष्य इच्छा के अधीन न रहें तो सहज में मोक्ष मिल जावे। यह इच्छा ही मनुष्य के ज्ञान पर परदा डालदेती है। मगर मनुष्य इच्छा रूपी धूल-माटी को झाड़ पोंछकर साफ करदे, तो उसे ज्ञानका प्रकाश दीखने लगे, और वह ज्ञानरूपी उंजियाले में सत और असत कर्म को देखकर अपनी भलाई करसके।

(मू०) इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञान विज्ञान नाशनम् ॥४१॥

[२७]

(भा०प०) मन, बुद्धि अरुसब इन्द्रियां घरतुल्य हैं इसकेलिये।
इनके सहारे ज्ञान ढक कर मनुज को फिरतालिये ॥४०॥

अतएव भारत ? काम का ही प्रथम तुम संयम करो।
इस ज्ञान अरु विज्ञान का पतित का जीवन हरो। ॥४१॥

अर्थ—इन्द्रियां, मन और बुद्धि—ये तीनों इच्छा के रहने के स्थान हैं। इच्छा इन्हीं तीनों के द्वारा बुद्धि को ढककर शरीर के भीतर रहने वाले प्राणी को भुलावे में डालती है ॥ ४० ॥

इसलिये हे अर्जुन ? सब से पहले तू इन्द्रियों को रोक, और इस ज्ञान और विज्ञान के नाशक, पापी "काम" को मारडाल ॥ ४१ ॥

भावार्थ—अबतक श्री कृष्ण ने अर्जुन को वह शत्रु बताया था। जो मनुष्य की इच्छा न होनेपरभी उसे लाचार करके उस से पाप कर्म कराता है। जब किसी शत्रु को जीतना होताहै, । तब उसके रहने के मकान का पता लगाना होताहै। इसलिये पहले "कामना के" शत्रु के रहने का स्थान बताते हैं। और आगेके श्लोक से उसके जीतने का उपाय बतावेंगे। भगवान् कहते हैं कि मनुष्य इन्द्रियों से भोगता है। मनसे सङ्कल्प करता है, बुद्धि से निश्चय करता है, कि मैं अमुक काम करूंगा। इसलिये कामना, इन तीनों के सहारे से ही काम करती है। यहां तीनों इच्छा यानी कामना के रहने की जगह हैं। इन्हीं तीनों के बलसे कामना, ज्ञान को ढक लेती है और मोहित करती है।

इसलिये ही भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! पहले तू इन्द्रियों को जीत, जब किले पर अपना अधिकार जमा लेगा तो फिर वैरी भी गिरफ्तार होजायगा।

(मू०) इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

[२८]

(भा०प०) देहादिके तो इन्द्रियां, उनके परे मन को कहा ।
उसके परे है बुद्धि जिसके है परे आत्मा महा ॥४२॥
पहंचान आत्मा एक, अपने आप को मानो यही ।
उस काम रूपी शत्रु को मारो महाबाहो सही ॥४३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! शरीर से इन्द्रियां श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, और बुद्धि से भी परे और श्रेष्ठ आत्मा है ॥४२॥

हे महाबाहु अर्जुन ! इस भांति आत्मा को बुद्धि से भी परे जान कर और मन को निश्चल कर के इस कामना रूपी शत्रु का नाश कर डाल ॥४३॥

भावार्थ—श्लोक ४२ में श्रीकृष्ण यह दिखाते हैं कि, इन्द्रियां मन, बुद्धि इनसे आत्मा परे है यानी, जुदा है । इन्द्रियां तो प्रबल हैं ही मन उन से भी जोरावर है । बिना मन चले, इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकती । और मन से भी बुद्धि बलवान है, क्योंकि वह मन के विचारों को रोकना चाहे तो रोक सकती है । आत्मा इन सब से अलग है । इसी आत्मा को "काम" भुलावे में डालता है ।

४३ वे श्लोक में कहते हैं कि बुद्धि तो इन्द्रियों और उनके विषयों से विकार युक्त होजाती है; किन्तु आत्मा निर्विकार है । और वह बुद्धि से अलग है । मनुष्य बुद्धि से इस बात का निश्चय करले, कि आत्मा सब से

श्रेष्ठ है और सब से अलग है फिर मनको चलाय मान न करे और बड़ी कठिनता से जीते जाने योग्य काम यानी इच्छा को नाश कर डाले।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योग शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे

कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्याय।

॥ समाप्तः ॥

चतुर्थोऽध्याय ।
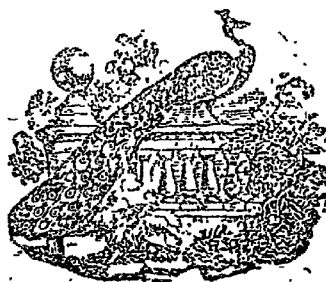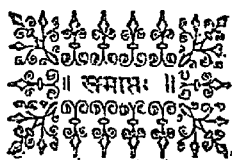
श्री भगवानुवाच ।

(मू०) इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥

[१]

(भा०पु०) इस नित्य योग सनातनी को सूर्य्य से मैंने कहा ।
उनसे सुना मनुने तथा इक्ष्वाकुसे मनुने कहा ॥१॥
राजर्षियों ने प्राप्त कर वह योग जो पर्याप्त था ।
सो काल वश जाता रहा जो योग लोकव्याप्त था ।२।

अर्थ—श्री कृष्ण बोले यह कर्म योग मैंने पहले सूर्य्य से कहा था; सूर्य्य ने मनु से कहा; मनु ने इक्ष्वाकु से कहा ॥१॥

यह कर्म योग इसी तरह पीढ़ी दर पीढ़ी चला आया। इसे राजर्षि जानते थे। हे परन्तप! वही कर्म योग बहुत समय बीत जाने पर संसार से नष्ट होगया ॥२।

(मू०) स एवाऽयं मयातेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येत दुत्तमम् ॥३॥

[३]

(भा०प०) मैंने पुरातन योग कर्म सुयोग को तुझ से कहा ।
यह है विचित्र रहस्य इसको जान तू उत्तम महा ॥
इस गूढ़ गुप्त रहस्य को मैंने बताया है तुझे ।
प्रिय भक्त मेरे प्रिय सखा हो उचित था कहना मुझे ३

अर्थ—वही पुराना योग आज मैंने तुझ से कहा है। क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय मित्र है। यह बड़ा भारी रहस्य है ॥३॥

भावार्थ—इन तीनों श्लोकों में श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि, हे अर्जुन! तू यह मत समझना, कि यह योग मैंने तेरे उत्साह बढ़ाने या तुझे युद्ध में लगाने के लिये आजही कहा है। यह योग बहुत प्राचीन काल से चला आरहा है। मैंने इसे पहले कल्प के आदि में सूर्यवंश के मूल पुरुष सूर्य्य से कहा था। सूर्य्य ने अपने पुत्र मनु को सिखाया और मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बताया। इसी तरह यह योग एक से दूसरे ने और दूसरे से तीसरे ने सीखा। अब बहुत काल बीत जाने से इसे संसार में जानने वाला कोई न रहा। उसी पुराने योग को मैंने आज तुझसे कहा, और तुझसे इसलिये कहा कि तू मेरा प्रेमी भक्त और प्रिय मित्र है।

अर्जुन उवाच ।

(मू०) अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

श्री भगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

अर्जुन ने कहा ।

[३]

(भा०प०) तुमने लिया है जन्म अब, है सूर्य पहले से यहाँ ।
कैसे भला विश्वास हो तुमने कहा था कब कहाँ ॥४॥

भगवान ने कहा ।

हम तुम अनेकों जन्म धारण कर चुके अर्जुन ! यहीं ।
मैं जानता हूं सब परन्तप ! जानते तुम हो नहीं ॥५॥

अर्थ—हे कृष्ण ! सूर्य का जन्म पहले हुआ था और आपका जन्म अब हुआ है; कहिये मैं किस तरह समझूं कि, आपने यह कर्म-योग शुरू में सूर्य से कहा था ? ॥४॥

हे अर्जुन ? मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं । मैं उन सब जन्मों की बातें जानता हूं लेकिन तू नहीं जानता ॥५॥

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि, जब श्री कृष्ण ने कहा कि मैंने यह कर्म योग आदि काल में सूर्य्य से कहा था । तब अर्जुन के मन में सन्देह

हुआ कि कृष्ण ने तो इस समय जन्म लिया है और सूर्य्य को जन्म लिये हुए तो लाखों वर्ष बीत गये, यह किस तरह सम्भव है कि आज के कृष्ण ने लाखों वर्ष पहले जन्म लेने वाले सूर्य्य को कर्म योग का उपदेश दिया हो? अर्जुन की समझ में यह बात असम्भव सी जान पड़ी; अतः उसने कृष्ण से अपना शक दूर करने के लिये प्रश्न किया। तब अर्जुन का सन्देह दूर करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण कहने लगे।

हे अर्जुन! मैंने और तूने अनेक बार जन्म लिये और देह छोड़ी! मेरी ज्ञान शक्ति सदा बनी रहती है; इसलिये मुझे अपने जन्मों की बातें याद हैं। लेकिन तेरी ज्ञान शक्ति मेरी तरह अखण्ड नहीं है; तुझपर अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है इससे तू अपने जन्मों की बात भूल गया है।

श्रीकृष्ण के उपरोक्त वचनों से दो बात सिद्ध होती हैं?

(१) यह कि जीव अविनाशी है और वह बारम्बार चोला बदलता है भूतल पर शरीर बदल कर जीव के आने से ही माया लिपट कर अज्ञान अथवा अविद्या का पर्दा पड़ जाता है; इसलिये उसे अपने पहले जन्म की बातें याद नहीं रहती।

(२) भगवान भी अनेक बार जन्म लेते हैं।

अब यहां प्रश्न उठता है कि भगवान तो अजन्मे या जन्म मरण से रहित अविनाशी हैं। उनका जन्म बारम्बार कैसे हो सकता है। और उन्हें जन्म लेने की क्या आवश्यकता है? इन शंकाओं का उत्तर स्वयं भगवान आगेके श्लोक में देते हैं।

(मू०) अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

(मू०) यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

[४]

(भा०प०) मैं प्राणियों का ईश, अविकारी, अजन्मा हूं सदा ।
हूं जन्म माया से स्वयं निज प्रकृति में लेता सदा ६
हो क्षीण जब जब धर्म, भार-अधर्म है बढ़ाता यहां ।
तब तब स्वयं मैं जन्म ले अवतीर्ण होता हूं यहां ।७।

अर्थ—यद्यपि मैं अजन्मा हूं, अविनाशी हूं; और सब प्राणियों का स्वामी हूं। तथापि मैं प्रकृति का सहारा लेकर; जो मेरी ही है; अपनी ही माया शक्ति से जन्म लेता हूं ॥६॥

हे अर्जुन ? जब जब धर्म की घटती होती है और अधर्म की बढ़ती होती है, तब तब मैं जन्म लेता हूं ॥७॥

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि मैं जन्म रहित और अविनाशी स्वभाव हूं तथा कर्म के अधीन नहीं हूं मैं सब का ईश्वर हूं तथापि लोक रचना के लिये अपनी ही सात्वकी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी ही इच्छा से धर्मा धर्म का जब विचार नहीं रहता और समस्त प्राणी विवेक हीन अधर्म रत होजाते हैं तब तब मैं जन्म धारण करता हूं ।

(मू०) परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

[५]

(गी०प०) मैं दुष्ट, दानव, दल दलन अरु साधु जन रक्षार्थ ही ।
युग युग यहां अवतीर्ण होता हूं स्वयं धर्मार्थ ही। ।८।
इस दिव्य जन्म रहस्य को जो जानते, कहता तुझे।
देहान्त पीछे जन्म बन्धन मुक्त हो मिलते मुझे ॥९॥

अर्थ—सज्जन लोगों के बचाने दुष्ट लोगों के नाश करने और धर्म की मर्यादा रखने के लिये ही, मैं युग युग में जन्म लेता हूं ॥८॥

हे अर्जुन? जो मेरे अलौकिक जन्म और कर्म के तत्व को जानते हैं, वह देह छोड़ने पर, फिर जन्म नहीं लेता, और मुझही में मिल जाता है ॥९॥

भावार्थ—मतलब यह है कि, जो लोग अपने धर्म पर चलते हैं, उन की रक्षा करने के लिये, और जो अपना धर्म छोड़ कर अधर्म के मार्ग पर चलते हैं, उनके मार डालने के लिये, तथा बढ़े हुए अधर्म का नाश करके फिर से प्रजाको धर्म मार्ग पर चलाने के लिये मैं जन्म लेता हूं। मैं सब सृष्टि का पिता हूं। पिता का काम है कि अपनी सन्तान को कुराह से हटा कर सुराह पर लावे। और जो उसके बताये हुए सन्मार्ग पर न चले तो उसे दण्ड दे। यों तो मैं अपनी सारी सृष्टि अपनी बुरी भली सन्तानों को एक ही नजर से देखता हूं। परन्तु कुराह पर चलने वालों को सुराह पर न लाना, उनको खड्डे में पड़े रहने देना, एक नज़र से देखना नहीं है। मेरी किसी से शत्रुता और किसी से मित्रता नहीं है, तथापि पिता की भांति भलों की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड आदि देकर सुराह पर लाना मेरा काम है।

और जो मनुष्य मेरे ईश्वरीय जन्म के तत्व को भली भांति जानता है, उसको शरीर का अभिमान नहीं रहता, इसी से वह फिर जन्म मरण

के झगड़े से छूट कर मोक्ष पाजाता है। और जिन्हों ने इस परम गोपनीय तत्व को नहीं जाना है, वही इस त्रिगुणात्मक चक्र में पड़े रहते हैं।

(मू०) वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

[६]

(भा०प०) भय प्रीति क्रोध विहीन आश्रित हो मुझी में चित लगा।
हैं मिल गये मुझ में अनेकों जान कर अपना सगा १०
भजते मुझे जिस भाँति फल अनुकूल देता हूं उन्हें।
आवें किसी भी ओर से, पर पार्थ! मिलता हूं उन्हें ११

अर्थ—प्रीति, भय और क्रोध को छोड़ कर, मुझमें ही सबतरह से मन लगाकर, मेरे ही आश्रय रहकर और ज्ञान रूपी तपसे शुद्ध होकर अनेक लोग मुझ में मिलगये हैं ॥१०॥

और मुझे जो लोग जिसतरह भजते हैं, मैं उनको उसी तरह फल देता हूं। मनुष्य कोई सा मार्ग क्यों न पकड़े सब मेरे ही मार्ग हैं ॥११॥

भावार्थ—मतलब यह है कि जो मनुष्य किसी पदार्थ में मोह नहीं रखता, किसी से भय नहीं रखता, किसी पर गुस्सा नहीं होता और जो मुझ में ही मग्न रहता है। सब जगह और सब प्राणियों में मुझे ही देखता है। हर तरह मेरे ही आश्रय और भरोसे पर रहता है। तथा ज्ञान रूपी तपसे पवित्र होजाता है वह मुझसे ही मिल जाता है यानी फिर उसे जन्म मरण के झंझट में नहीं पड़ना होता।

अगर कोई शङ्का करे कि भगवान क्यों अपने आश्रय रहने वालों को ही अपने रूप में मिलाते हैं; दूसरों को क्यों नहीं मिलाते। इसी के लिये भगवान ने कहदिया है कि मनुष्य चाहे मुझे इच्छा रखकर भजे और चाहे इच्छा त्याग कर, मैं दोनों तरह फल देता हूं। जो मुझे सकाम यानी मन में इच्छा रख कर भजते हैं उन्हें धन, पुत्र आदि फल देता हूं, और जो मुझे निष्काम होकर यानी किसी भांति फलकी इच्छा न रखकर भजते हैं, उन्हें मैं अपने स्वरूप में मिला लेता हूं। उनको जनम मरण के बन्धन से छुडा देता हूं। फलाशा रखने वालों से वह पुरुष महान् श्रेष्ठ हैं जो फल की कुछभी आशा नहीं रखते। सारांश यह है कि मनुष्य टेढी, सीधी चाहे जिस राह से पहुंचने का उद्योग करे मैं उन्हें अवश्य मिलता हूं और वैसा ही उनको फल देता हू क्योंकि सब मनुष्य मेरी ही राह पर चलते हैं।

(मू०) कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तार मव्ययम् ॥१३॥

[७]

(भा०प०) हैं सुरगणों को पूजते जो चाहते फल लोक में ॥
हैं कर्म फल ये प्राप्त होते शीघ्र इस नर लोक में।१२।
गुण कर्म के अनुकूल वर्ण विभाग मैंने हैं किये।
कर्ता अकर्त्ता हूं स्वयं सोचो विचारो तुम हिये॥१३॥

अर्थ—इस दुनियां में जो लोग कर्म सिद्धि चाहते हैं, वे देवताओं की पूजा किया करते हैं। क्योंकि इस मनुष्य लोक में कर्मों की सिद्धि जल्दी होती है ॥१२॥

हे अर्जुन ! मैंने "गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार" चार वर्ण पैदा किये हैं, यद्यपि मैं उनका कर्ता हूं, तथापि मुझे अकर्ता और अविनाशी समझ ॥१३॥

भावार्थ—यहां एक शंका पैदा होती है कि जो "मोक्ष" परमपद है सबसे ऊंचा स्थान है, सभी लोग उस जनम मरण के फन्दे से छुटाने वाली "मोक्ष" के लिये परमेश्वर की ही पूजा यानी आराधना क्यों नहीं करते ? देवताओं की पूजा करने की क्या आवश्यकता है ॥

संसार में दो तरह के आदमी हैं, (१) सकाम; (२) निष्काम। जो फलकी चाहना रखते हैं उन्हें "सकाम" कहते हैं, और जो फलों की चाहना नहीं रखते उन्हें "निष्काम" कहते हैं ॥

पूजा का फल चाहने वालों की संख्या अधिक है, और किसी तरह का फल न चाहने वालों की संख्या बहुत ही कम है। देवताओं के संतुष्ट करने से स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक अनित्य यानी हमेशा न रहने वाले पदार्थ जल्दी ही मिल जाते हैं, किन्तु साक्षात् पूर्ण ब्रह्म शुद्ध सच्चि-दानन्द परमात्मा की पूजा करने से जो ज्ञान का उदय होता है, उस ज्ञान का "फल मोक्ष" बड़ी कठिनता से और देर में मिलता है। दूसरे साधारण मनुष्यों का मन ज्ञान में कम लगता है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान के लिये बहुत ही विद्या, बुद्धि और विचार शक्ति की आवश्यकता है। इस लिये साधारण मनुष्य क्षुद्र बुद्धि के लोग हाथों हाथ फल पाने की इच्छा से परमात्मा की आराधना छोड़ कर इन्द्र, अग्नि और सूर्य आदि देवताओं

की आराधना किया करते हैं। ऐसे फलों की इच्छा रखने वाले, लोग साकार देवताओं की पूजा करके अनित्य हमेशा न रहने वाले स्त्री, पुत्र और धन वगैरः की चाहना रखते हैं, और उन्हें वह शीघ्रही कर्मानुसार मिलभी जाते हैं। इसी लिये वह ब्रह्मज्ञान को जिनसे नित्य सदा रहने वाला परमपद मिलता है। उसे अच्छा नहीं समझते। एकबात औरभी है कि "मोक्ष" चाहने वालों को धन, स्त्री, पुत्रों से जो क्षण भंगुर सुख मिलता है उसे छोड़ कर वैराग्य लेना पड़ता है।

और देवताओं की पूजा करने वालों को सांसारिक सुख जो कि नित्य न रहने वाले उनको भोगते हुए फल प्राप्त होजाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो जैसी भावना से पूजा करता है देवता उनको वैसाही फल कर्मानुसार जिसको जितना अधिकार है दे देता है। वास्तव में मोक्ष ही सबसे ऊंचा और सबसे श्रेष्ठ फल है किन्तु उसके पाने का मार्ग कठिन है, कठिन है लेकिन किनके लिये? उनके लिये जो अनित्य नाश होने वाले पदार्थों को नित्य तथा कभी नाश न होने वाले समझकर बन्धन में पड़े हुए हैं।

भगवान कृष्ण कहते हैं कि मैंने जिस जीव में जैसा गुण देखा, उसी गुणके अनुसार उसके कर्म नियत कर दिये और उसका वैसाही नाम रख दिया। मैंने जिस जीव में सतोगुण की प्रधानता देखी, उसके शम, दम आदि कर्म नियत करदिये और उनका नाम "ब्राह्मण" रखदिया। जिस में सतोगुण गौड़ रूपसे और रजोगुण प्रधान रूपसे देखा उसके प्रजापालन पृथ्वी रक्षा युद्ध करना आदि कर्म नियत कर दिये और उनका नाम "क्षत्रिय" रख दिया जिस में सतोगुण थोड़ा रजोगुण गौड़ रूप से और तमोगुण प्रधान रूप से देखा, उसके खेती, पशु पालन, व्यापार आदि कर्म नियत कर दिये और उसका नाम "वैश्य" रख दिया और जिस में केवल

तमोगुण की प्रधानता देखी उनको इन तीनो वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की सेवा करने का काम नियत किया और उनका नाम शूद्र रख दिया।

अगर कोई शंका करे कि भगवान ने चार वर्ण चार तरह के बना कर पक्ष पात किया, किसी को ऊंचा बनाया किसी को नीचा किसी को सकाम और किसी को निष्काम बनाया। अगर भगवान को पक्षपात नहीं था तो वह सबको एकही नजर से देखते, फिर उन्हों ने चार वर्ण चार तरह के क्यों बनाये। सबको समान न बनाने का दोष भगवान पर ही है। मनुष्यों के सकाम और निष्काम होने का कारण भगवान ही हैं। भगवान इस शंका का निवारण करने के लिये काफ़ी उत्तर ऊपर दे चुके हैं कि मैंने जिस में जैसा गुण देखा वैसे ही उसके कर्म नियत किये। यद्यपि मैं चार वर्ण करने वाला हूं, तथापि मैं कुछभी कर्म करने वाला नहीं हूं क्योंकि मैं अविनाशी हूं मुझ में किसी तरह का विकार नहीं होता। मैं सब कुछ करके भी अकर्त्ता और निर्विकार हूं।

(मू०) न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

[८]

(भा०प०) मैं कर्म फल इच्छा रहित हूं कर्म बन्धन मुक्त हूं।
वे मुक्त हों जो जान लें मैं इन गुणों से युक्त हूं ॥१४॥

यह जान कर ही कर्म पूर्व मुमुक्षुओं तक ने किया ।
अतएव कर्म करो जिन्हें था पूर्वजों ने भी किया ।१५।

अर्थ—न तो कर्म ही मुझपर असर करते हैं और न मुझे कर्म फल की इच्छा ही होती है। जो मुझे इस तरह समझता है वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता ॥१४॥

हे अर्जुन ? ऐसा समझ कर ही पहले मोक्ष चाहने वालों ने कर्म किये, इस वास्ते तुम भी पूर्व पुरुषों की तरह कर्म करो ॥१५॥

भावार्थ—सभी जानते हैं कि ईश्वर अकर्त्ता निर्विकार है, अर्थात् ईश्वर कुछ नहीं करता। ईश्वर पूर्ण काम है, उसे कर्म फल की इच्छा नहीं होती। लेकिन केवल ईश्वर को अकर्त्ता कर्मों में लिप्त न होने वाला और कर्म फल न चाहने वाला, समझने से मनुष्य को मोक्ष नहीं मिल सकती। मनुष्य को मोक्ष उसी हालत में मिल सकती है, जब वह स्वयं अपनी आत्मा को "अकर्त्ता" निर्विकार समझे। मतलब यह है कि जो मनुष्य यह समझता है कि मुझे कर्म नहीं बांधते, मैं कुछ नहीं करता, मुझे कर्मों के फल की अभिलाषा नहीं है। वह मनुष्य कर्म वन्धन में नहीं फसता, उसको जनम-मरण का झञ्झट नहीं भोगना पड़ता यानी उसकी मोक्ष होजाती है।

हे अर्जुन द्वापर में राजा ययाति और यदु आदि हुए वे सब मोक्ष की इच्छा रखते थे। त्रेता में जनक आदि राजा हुए वेभी मोक्ष की अभिलाषा रखते थे। उनसे पहले सतयुग में जो राजा हुए वेभी मोक्ष लाभ करना चाहते थे। उन सबनें सन्यास नहीं छोड़ा तौ भी मोक्ष पागये। इसका कारण यह है कि पूर्वोक्त राजा लोग अपने वर्णाश्रम धर्म के सब कर्म तो करते थे। किन्तु वे अपने तईं उन कर्मों का करने वाला और भोगने वाला

नहीं समझते थे। जो मनुष्य कर्म करके भी अपने तईं कर्मों का करने वाला और भोगने वाला नहीं समझता वह कर्मों के बन्धन में नहीं बंधता।

इस लिये पूर्वोक्त राजा कर्म बन्धन में न फसे और परम पद पागये। कर्म किये बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। उन पूर्वोक्त राजाओं ने अन्तःकरण शुद्ध करने के लिये या दुनियां की भलाई के लिये काम किया। हे अर्जुन! उनकी ओर देखकर तुम भी कर्म करो। अगर तुम को ब्रह्म ज्ञान होगया हैं तो दुनियां की भलाई के लिये कर्म करो। यदि ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ है तो अन्तःकरण की शुद्धी के लिये कर्म करो। हे अर्जुन मेरे कहने का सारांश यह है कि तुम पहले मोक्ष चाहने वालों को देखकर कर्म अवश्य करो। यदि तुम अपने को कर्त्ता और भोक्ता न समझोगे तो कर्म करने पर भी तुम्हारी मोक्ष होजायगी।

(मू०) किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

[६]

(श्लो० प०) क्या कर्म और अकर्म हैं रहते सुबुध भ्रम युक्त हो।
सुन कर्म यह तुम जान जिसको पाप बन्धन मुक्त हो १६
है कर्म गति अति गहन फिर भी जानलो है कर्म क्या।
कहते विकर्म किसे, समझ, हे पार्थ! और अकर्म क्या १७

अर्थ—क्या कर्म है और क्या अकर्म है यानी कौनसा काम करना चाहिये और कौनसा न करना चाहिये। इस विषय में बुद्धिमानों की भी बुद्धि चकर

खाती है, इसवास्ते मैं तुझ से उस कर्म को कहता हूं, जिसके जानने से तू दु:ख से छुट जायगा ॥१६॥

कर्म को जानना, विकर्म को जानना, और अकर्म को जानना आवश्यक है, क्योंकि कर्म मार्ग बड़ा कठिन है १७॥

भावार्थ—क्या कर्म और क्या अकर्म है, इसका जानना वास्तव में कठिन है। कितने लोग कहते हैं, कि जिस काम के करने की आज्ञा वेद और धर्म शास्त्र में है वही "कर्म" है। और जिस की आज्ञा उनमे नहीं है, वह "अकर्म" है। बहुत से यह कहतेहैं कि धर्म शास्त्रों में जिस कामके करने की आज्ञा है, वही "कर्म" है। और शास्त्रों में लिखेहुए कर्मों के नकरने यानी छोड़देने को "अकर्म" कहते हैं। और कोई कोई कहते हैं कि शरीर और इन्द्रियों का जो व्यापार है, यानी शरीर और इन्द्रिया जो कुछ करती हैं उसीको "कर्म" कहते हैं। इन्द्रियों का सब व्यपार बन्द करके यानी किसी इन्द्रिय से कोई काम न कर चुप चाप बैठ रहने को 'अकर्म" कहते हैं मतलब यह है कि कर्म और अकर्म के विषय में बड़े बडे पण्डित और ज्ञानियों में भी मत भेद है। क्योंकि कर्म और अकर्म का जानलेना कठिन है। अब श्रीकृष्ण भगवान स्वयं अर्जुन को कर्म और अकर्म का खुलासा भेद समझाते हैं। कहते हैं कि—

हे अर्जुन! शास्त्र में जिस काम के करने की आज्ञा है उसे "कर्म" कहते हैं। लेकिन उनका जानना भी आवश्यक है, क्योंकि बिना जाने मनुष्य शास्त्रानुसार कर्म कर नहीं सकता। और धर्मशास्त्र में जिस काम के करने की मनाही है, उसे "विकर्म" कहते हैं। लेकिन उनका भी जानना आवश्यक है, क्योंकि बिना जाने मनुष्य जो न करने के योग्य कर्म हैं कैसे छोड़ेगा। तत्व ज्ञान होजाने पर सब इन्द्रियों के व्यापार को बन्द करके चुप चाप बैठ जाने को "अकर्म" कहते हैं। परन्तु अकर्म को भी अच्छी

तरह जानना आवश्यक है। ये तीन भांति के कर्म हुए। इन तीनों का असली मतलब जानना कठिन है। इसलिये भगवान आगे तीनों तरह के कर्मों का भेद समझाते हैं।

(मू०) कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ॥१८॥
यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

[१०]

(भा०प०) जो कर्म बीच अकर्म और अकर्म में जो कर्म को ।
हैं देखते करते वही ज्ञानी सुबुध सब कर्म को ॥१८॥
उद्योग फल इच्छा रहित हो कर्म जो करते वही ।
हैं सुबुध जो ज्ञानाग्नि से देते जला सब कर्म ही १९

अर्थ—जो कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह सब कार्य्य करता हुआ भी युक्त योगी है ॥१८।

जिसके काम, इच्छा और संकल्प बिना आरम्भ होते हैं, और जिसके काम, ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म होगये हैं, उसी को विद्वान लोग पण्डित कहते हैं ॥१९॥

भावार्थ—पहले लिख आये हैं कि प्रकृति के, सत्व, रज और तमोगुण के कारण इन्द्रियां अपना अपना कर्म करती ही रहती हैं, इन्द्रियों के कामों को कोई रोक नहीं सकता, इन्द्रियों का काम चलता ही रहता है। जो मनुष्य इन्द्रियों के कामों को आत्मा का काम नहीं समझता, यानी

इन्द्रियां के कामको इन्द्रियों का ही समझता है, अथवा यों समझता है कि यह जो कर्म इन्द्रियां कर रही हैं यह आत्मा का नहीं है, वही कर्म में अकर्म देखने वाला है, यह पहली अवस्था की बात है सिद्धान्त यह है कि आत्मा कुछ नहीं करता। यही बात दूसरे अध्याय के २० वें और २४ वें श्लोक में समझादी गई है, और आगे फिर समझायी जायगी। मनका स्वभाव पड़गया है कि वह कुछ कर्म न करने वाले आत्मा को भी काम करने वाला समझता है, लेकिन काम करना आत्मा के स्वभाव के विरुद्ध है, यानी आत्मा का स्वभाव ही कर्म करने का नहीं है। काम का सम्बन्ध देहसे है, लेकिन मनुष्य आत्मा को काम में वृथा लपेटता और समझता है। "मैं अमुक काम का करने वाला हूं यह मेरा किया हुआ काम है, उस कर्म का फल मुझे मिलेगा"। इसी तरह जब मनुष्य को ज्ञान होजाता है, और वह कर्म करना छोड़ देता है तब कहता है कि मुझ "आत्मा" ने अब कर्म करना छोड़ दिया है, मैं कुछ नहीं करता मैं शान्त और सुखी हूं, अथवा यों कहता है कि मैं अब काम नहीं करूंगा, ताकि बिना कष्ट उठाये काम करने के सुख मिले। लेकिन ऐसी बात कहने या मनमें विचारने वाले का यह ख्याल झूंठा है। वास्तव में आत्मा ने न तो कर्म करना छोड़ा और न सुख भोगा। अगर कर्मों का त्याग किया है, तो देह और इन्द्रियों ने किया है। आत्मा ने तो पहले कर्म करवाई था और न उसने अब कर्म छोड़े ही हैं। जिस तरह मनुष्य कर्म करने का दोष आत्मा पर वृथा ही लगाता है उसी तरह कर्म छोड़ने का भी दोष आत्मा पर लगाता है। मतलब यह है कि आत्मा न तो कभी कर्म करता ही है और न कभी छोड़ता ही है। देह और इन्द्रियां ही कर्म करती हैं और कुछ ज्ञान होने पर वही कर्म छोड़ देती हैं। काम करते हुए आत्मा को कामों का कर्ता न समझना ही "कर्म में अकर्म" देखना है। काम छोड़ देने की हालत में आत्मा को

कर्म त्याग करने वाला न समझना ही "अकर्म में कर्म" देखता है।

यों तो कर्म सभी के लिये कर्म है। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म कौन देख सकता है? कर्म कभी अकर्म नहीं होसकता, और न अकर्म ही कर्म होसकता है। कर्म सदा कर्म ही है वह किसी को भी किसी और तरह नहीं दीख सकता, ऐसे विचार मनमें उठते हैं। किन्तु मनुष्य को बहुत ही जल्दी भ्रम होता है उसे और का और दीखने लगता है। जहाज़ में सवार मनुष्य, चलते हुए जहाज़ या नाव से, किनारे के वृक्षों को चलते हुए देखता है। किन्तु वास्तव में यह उसकी भ्रान्ति या भूल है, चलता जहाज़ है और समझता है कि वृक्ष चलते हैं। इसी तरह मनुष्य की देह और इन्द्रियां तो काम करती हैं, किन्तु वह भूल से आत्मा को काम करता हुआ समझता है। मनुष्य की नज़र में बहुत दूर के मनुष्य या जीव जन्तु चलते हुए भी ठहरे हुए मालूम पड़ते हैं, यह भी उसकी भूल और भ्रान्ति है। कि वह दूर होने की वजह से अपनी दृष्टि न पहुंचने के कारण वह चलते हुए मनुष्य या जीव जन्तुओं को ठहरे हुए समझता है, वास्तव में वे चल रहे हैं। इसी झूंठे खयाल को दूर करने के लिये ही कृष्ण भगवान् कहते हैं; "जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है इत्यादि।

हमारी समझ में हमारे पाठक श्री गीता के प्रेमी श्रोतागण इस श्लोक के भीतरी आशय को भली भांति समझ गये होंगे। दूसरे एक भारी विद्वान ने लिखा है कि जो वर्णाश्रम धर्म का पालन करता हुआ यानी अपने वर्ण के अनुसार कार्य करता हुआ यह समझता है कि मैं कुछ नहीं करता; मैं स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं हूं, परमेश्वर ही स्वतन्त्र करता है, मेरे समस्त कर्म उसी (ईश्वर) के आधीन हैं, वह कर्म में अकर्म देखने वाला है।

जो मनुष्य निद्रा अवस्था में या बिलकुल कर्म छोड़ देने की हालत में भी ऐसा विचारता है कि ईश्वर का काम बराबर लगातार चलताही रहता है, वह अकर्म में कर्म देखता है। मनुष्य जागता हुआ तो ईश्वर के काम और सृष्टि को देखता ही है, किन्तु सोता हुआ, स्वप्नावस्था में भी, हाथी, घोड़े अनेक भांति की अलौकिक चीजें देखता है। इस से साफ मालूम होता है कि ईश्वर का काम हमेशा चलता रहता है, ईश्वर का काम किसी पर निर्भर नहीं है, किंतु जीव ईश्वर के आश्रय से काम करता है, अतः मनुष्य को अपने वर्ण के अनुसार काम करने ही उचित हैं।

मनुष्य को किसी हालत में भी अहङ्कार न रखना चाहिये। शरीर और इन्द्रियों के काम करने पर आत्मा को काम करता हुआ समझना और देह तथा इन्द्रियों के कर्म त्याग देने पर यह समझना कि मैंने कर्म त्याग दिये, मुझे सुख शान्ति मिलेगी यह भी आत्मा पर वृथा दोष लगाना है। यह अहङ्कार ठीक नहीं है। किसी हालत में भी आत्मा को कर्ता न समझना ही बुद्धिमानी है। जिस मनुष्य के कर्मों से इच्छा संकल्प का सम्बन्ध नहीं है, जो बिना इच्छा और संकल्प के काम करता है जिसके कर्म ज्ञान रूपी अग्निसे नाश होगये हैं जो पहले कहेहुए कर्म और अकर्म के तत्व को समझ गया है, उसे ज्ञानी विद्वान लोग "पण्डित" कहते हैं।

ज्ञानी आदमी किसी काम के आरम्भ करने के पहले किसी तरह का संकल्प नहीं करता, और न उस काम से किसी प्रकार का फल भोगने की इच्छा करता है। ज्ञानी जो कर्म करता है वह स्वाभाविक तौर से याता दुनियां की भलाई के लिये करता है या केवल अपनी देह कायम रखने के लिये करता है। वह किये हुए कामों को आत्मा का काम नहीं समझता और छोड़े हुए कामों से भी आत्माका सम्बन्ध नहीं समझता, ऐसे मनुष्य सच मुच ही "पण्डित" हैं।

(मू०) त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

[११]

(भा०प०) तजि कर्म फल की आश, जो रहते सदा ही तृप्त हैं ।
वे कर्म रत रहते यद्यपि फिर भी सदा निर्लिप्त हैं २०
निष्काम इन्द्रिय निग्रही जो मुक्त राग स्नेह से ।
बनते न भागी पाप के वे कर्म करके देह से ॥२१॥

अर्थ—जो कर्म फलों की इच्छा नहीं रखता सदा सन्तुष्ट रहता है, किसी के आश्रय नहीं रहता, वह चाहे कामों में भी लगा रहे; तथापि वह कुछ भी कर्म नहीं करता ॥२०॥

और जीत लिया है अन्तःकरण और शरीर जिसने तथा त्याग दी है संपूर्ण भोगों की सामग्री जिसने, ऐसा आशा रहित पुरुष, केवल शरीर सम्बन्धी कर्मों को करता हुआ भी पाप को नहीं प्राप्त होता है ॥२१॥

भावार्थ—जिसने कर्मोंसे सब तरहका सम्बन्ध छोड़ दिया है, जो देह और इन्द्रियों के कर्मों को आत्मा का कर्म नहीं समझता, जिसने कर्मों के फलों की इच्छा; त्याग दीहै, जो हमेशा सन्तुष्ट रहते है, जिसे इन्द्रियों के विषयों के भोगने की इच्छा नहीं है, जिसे इस जन्म या अगले जन्म के लिये किसी तरहकी अभिलाषा नहीं है, जिसे अपनी आत्मा में ही आनन्द मालूम होता है, जो आत्मा के सिवाय और किसी का आश्रय नहीं पकड़ता, जो संसार की भलाई या देहके कायम रखने के लिये ही काम करता है ।

वह काम करता हुआ भी बिलकुल काम नहीं करता । क्योंकि उसे ज्ञान है, कि आत्मा कुछ नहीं करता । संसार में बिना कर्म किये देहको कायम रखनां भी असम्भव है और सब कर्मों को त्याग देना भी असम्भव है, अतः उपरोक्त विधि से काम करना, काम न करने के ही समान है । इस तरह काम करने वाला सच्चा सन्यासी है ।

जिसे इस लोक और पर लोक के किसी पदार्थ की इच्छा नहीं है जिसे स्वर्ग आदि की भी इच्छा नहीं है । जिसने कर्म को बिलकुल त्याग दिया है, जिसने मन इन्द्रियों को अपने वश में करलिया है; जिसने विषय भोगों के साधन धन दौलत, महल, मकान, जमीन-जायदाद, स्त्री-पुत्र आदि को छोड़ दिया है, अगर ऐसा मनुष्य केवल शरीर कायम रखने के लिये कर्म करे, तो कर सकता है; ऐसे मनुष्य को शरीर निर्वाह मात्र के लिये कर्म करने स पाप नहीं लगता । क्योकि अगर मनुष्य रूखा-सूखा अन्न न खायगा, फटे पुराने कपड़ों से सरीर न ढकेगा तो उसकी कायाही न रहेगी, उस की विचार शक्ति, घट जायगी, या नष्ट होजायगी, अतः ब्रह्म विचार में विघ्न न होने देने के लिये शरीर को कायम रखना जरूरी है । इस लिये भगवान आज्ञादेते है कि सब विषय भोगों को छोड़कर साथ ही शरीर निर्वाह के लिये आवश्यक काम करने में कोइ हानि नहीं है ।

(मू०) यदृच्छा लाभ सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥२२॥

[१२]

(भा०प०) जो हो यदृच्छा प्राप्ति में सन्तुष्ट निर्मत्सर तथा ।
निर्द्वन्द्व सिद्धि असद्धि को सम मानते जो सर्वथा ॥

वे पुरुष करके कर्म भी होते न बाधित कर्म से ।
होते नहीं वे कर्म फल से बद्ध धर्म अधर्म से ॥२२॥

अर्थ—बिना परिश्रम के मिली हुई चीज पर सन्तोष कर लेने वाला सुख दुःख, हर्ष विषाद, गर्मी सर्दी, मान अपमान को समान समझने वाला, किसी से ईर्षा द्वेष न रखने वाला, कार्य की सिद्धि असिद्धि में समान रहने वाला मनुष्य कार्य करता हुआ भी कर्म बन्धन में नहीं पड़ता ॥२२॥

भावार्थ—वह मनुष्य जो दैव योग से मिली हुई, या बिना मांगे अथवा बिना उद्योग के मिली हुई चीज से राजी रहता है, जिसपर गर्मी सर्दी, मान अपमान और सुख दुःख आदि द्वन्दों का असर नहीं पड़ता; जो किसी से वैर भाव या ईर्षा द्वेष नहीं रखता जो काम के सिद्ध होजाने या न होजाने में एक सा रहता है, जो शरीर रक्षार्थ भोजन मिलने पर दुखी नहीं होता जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है जो आत्मा को कर्त्ता नहीं समझता जो यह समझता है कि आत्मा कुछ नहीं करता, जो शरीर निर्वाह के लिये भिक्षा भी नहीं मांगता वह शरीर आदि निर्वाह के लिये भिक्षा कर्म करता हुआ भी बिल कुल कर्म नहीं करता इसी से वह कर्म पाश में नहीं फंसता ।

(मू०) गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

[१३]

(भा०प०) भय राग द्वेष विहीन हो इस योग से जो युक्त हैं ।
जो कर्म सब यज्ञार्थ करते कर्म बन्धन मुक्त हैं ॥
वे कर्म कर भी कर्म बन्धन मुक्त रहते हैं सदा ।
वे मोक्ष पद हैं प्राप्त करते यज्ञ करके सर्वदा ॥२३॥

अर्थ—जिस मनुष्य की आसक्ति दूर हो गई है जो बन्धन के कारण धर्म अधर्म से छुटकारा पा गया है जिस का चित्त ब्रह्मज्ञान में लगा हुआ है, जो यज्ञ परमेश्वर के लिये ही कर्म करता है, उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन होजाते हैं ॥२३॥

भावार्थ—जिसका धन, पुत्र, स्त्री आदि में प्रेम नहीं रहा है, जो धर्म अधर्म के झगड़े से छूट गया है, जिसका चित्त हर समय ब्रह्म ज्ञान में ही लगा रहता है, जो नारायण के लिये अथवा यज्ञ के लिये ही कर्म करता है उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन हो जाते हैं यानी बिलकुल नाश होजाते हैं, धर्म रक्षा अथवा यज्ञके लिये किये हुए कर्म ज्ञानी को बन्धन में नहीं जकड़ते।

(मू०) ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

[२४]

(भा० प०) अर्पण किया है ब्रह्म हवि का हव्य भी है ब्रह्म ही ।
ब्रह्माग्नि में है हवन करता जानता जो ब्रह्म ही ॥
हैं ब्रह्म मय सब कर्म, जिसकी बुद्धि में यह आगया।
पाया उसी ने ब्रह्म को समझो परमपद पागया ।२४।

अर्थ—जो यह समझता है कि श्रुवा जिस से हवन किया जाता है ब्रह्म है, घी वगैरः हवन की सामग्री भी ब्रह्म है, जिस अग्नि में हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म है, हवन करने वाला भी ब्रह्म है, और जिसके लिये हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है, तथा जो कर्म में सारा ब्रह्म को देखता है, वह अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होगा ।२४।

भावार्थ—जिसे ब्रह्म ज्ञान होगया है वह समझता है, कि श्रुवा जिस से हवन की सामग्री घी वगैरः अग्नि में डाला जाता है, ब्रह्म है, यानी वह ब्रह्म से उसी तरह जुदा नहीं है जिस तरह सीपी चांदी से अलग नहीं है, भ्रांति से सीपी चांदी सी जान पड़ती है, किन्तु वास्तव में वह सीपी ही है। लोग जिस श्रुवे को अग्नि में हवन सामग्री डालने का यत्न समझते हैं वह ब्रह्मज्ञानी की समझ में ब्रह्म है। घी वगैरः हवन के पदार्थ भी ब्रह्मज्ञानी की समझ में ब्रह्म हैं इसी तरह अग्नि जिस में घी आदि सामग्री डाली जाती है ब्रह्मज्ञानी की समझ में वह भी ब्रह्म है, हवन करने वाला भी ब्रह्मज्ञानी के लिये ब्रह्म है हवन करने का काम भी ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है। जो मनुष्य हर काम में ब्रह्म को देखता है, उस को काम का फल भी ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है।

अगर कोई यह शङ्का करे कि कर्म फल तो बिना भोगे नाश नहीं होता, यानी कर्म फल तो भोगना ही पड़ता है उसे समझना चाहिये कि, जिसके ये, क्रिया, कर्त्ता, कर्म, करण और अधि करण सबही ब्रह्म हैं, जिसके लिये ऐसा ज्ञान है, उस के सारे कर्म ब्रह्म में ही लय होजाने हैं। ऐसे ज्ञानी को कर्म फल नहीं भोगना पड़ता। अगर यह कहा जाय कि कर्म फल है, तो वह फल सिवाय ब्रह्म प्राप्ति के और कुछ नहीं है।

(मू०) दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

[१५]

(आ०प०) देवार्थ हैं कुछ कर्म योगी यज्ञ करते यज्ञ का ।
ब्रह्माग्नि में कुछ यज्ञ से ही यजन करते यज्ञ का २५.
कुछ लोग करते होम संयम अग्नि में श्रोत्रादिका ।
कुछ लोग करते होम इन्द्रिय अग्नि में शब्दादिका २६.

अर्थ—कितने ही कर्म योगी देवताओं के लिये देव यज्ञ करते हैं, कितने ही तत्व ज्ञानी अग्नि में आत्मा को आत्मा द्वारा हवन करते हैं ॥२५॥

कितने ही योगी अपनी आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को संयम रूपी अग्नि में होम देते हैं, और कितने ही, इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नि में होम देते हैं ॥२६॥

भावार्थ—इस श्लोक से पहले भगवान ने ज्ञान यज्ञ कहा था और यह भगवान ने उस ज्ञान यज्ञ को, उपरोक्त देव यज्ञ के साथ ज्ञान यज्ञ की प्रशंसा करने की वजह से कहा है, ज्ञान यज्ञ की महिमा बढ़ाने के लिये तथा और यज्ञों से उसकी श्रेष्ठता दिखाने के लिये भगवान और ग्यारह यज्ञों का जिक्र करते हैं। इन ग्यारह यज्ञों से (जिस में से एक ऊपर कहा गया है और दश आगे कहेंगे) ज्ञान यज्ञ की प्राप्ति होती है। ज्ञान यज्ञ ही मुख्य यज्ञ है ज्ञान यज्ञ से ही मोक्ष होती है।

मतलब यह है कि ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्म रूपी अग्नि में आत्मा को ब्रह्म ज्ञान के सहारे से हवन करते हैं। यह तो ज्ञान यज्ञ की बात हुई। कुछ लोग ऐसे हैं जो ज्ञान यज्ञ नहीं करते, किन्तु हमेशा देव यज्ञ करते हैं, यानी इन्द्र वरुण सूर्य राम आदि साकार देवताओं की उपासना करते हैं। जिस यज्ञ में साकार देवताओं की उपासना की जाती है। उसे देव यज्ञ कहते हैं। ज्ञानी और उपासकों में यही फर्क है। कि उपासक तो

सब देवताओं को असल में मूर्तिमान समझाते हैं, वे देवताओं को निराकार निर्विकार नहीं समझते, किन्तु ज्ञानी लोग सब देवताओं को निराकार निर्विकार समझते हैं, और मूर्तियों को कल्पित समझते हैं॥

सारांश भगवान यह समझाते हैं कि ऊपर बयान किये हुये दोनों यज्ञों में ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञान यज्ञ और देव यज्ञ की मुकाबिला करके यह दिखाते हैं कि जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है।

उपरोक्त श्लोकों में भगवान श्री कृष्ण चन्द्रजी ने दो यज्ञ कहे थे और अब इस जगह दो यज्ञ फिर कहे हैं तीसरा यज्ञ उन्हों ने इन्द्रियों का संयम अर्थात जीतना कहा है और चौथा शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्श इन इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन करना कहा है। मतलब यह है कि इन्द्रियों को जीत लेना उनको अपने विषय की ओर न झुकने देना तीसरा यज्ञ है, और वेदोक्त विषयों का भोगना अथवा शास्त्रों में जिन विषयों के भोगने की आज्ञा दीगयी है, उनको भोगना चौथा यज्ञ कहा है। सारांश यह है कि जो वेद या शास्त्र की आज्ञा अनुसार चलते हैं यानी नियमानुसार इन्द्रियों के विषयों को भोगते हैं उनका ऐसा करना भी इन्द्रिय दमन अथवा "यज्ञ" ही है॥

(मू०) सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

[१३]

(भा०प०) कुछ लोग इन्द्रिय प्राण कर्मों को जलाते ज्ञान से।
कर आत्म संयम अग्निको प्रज्वलित ईंधन ध्यानसे २७
भीषम व्रती यति नित्य प्रति करते विविध विधि यज्ञ हैं।
तप योग ज्ञान सुद्रव्य अरु स्वाध्याय रूपी यज्ञ हैं २८

अर्थ—कितने ही योगी सारी इन्द्रियों के कर्मों और प्राण अपान आदि वायुओं के कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित, आत्म संयम योगाग्नि में हवन करते हैं।२७॥

कितने ही धन से यज्ञ करते हैं, कितने ही तपस्या से यज्ञ करते हैं, कितने ही योगसे यज्ञ करते हैं, कितने ही वेद शास्त्र के पढ़ने से यज्ञ करते हैं, और कितने ही ज्ञानकी प्राप्ति से यज्ञ करते हैं, वे यज्ञ करने वाले बड़े दृढ़ व्रती हैं २८

भावार्थ—इस स्थान में छः यज्ञ कहे हैं यानी कुछ योगी ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियों को रोक कर तथा कर्मेन्द्रियों और प्राण अपान आदि दस वायुओं को अपने अपने कर्मों से रोक कर आत्मा के ध्यान में लीन होजाते हैं। और भी स्पष्ट मतलब यह है कि कुछ योगी संसार की विषय वासनाओं से अपना मन हटाकर केवल आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म में लीन होजाते हैं। इसे योंभी कहसकते हैं कि जब योगी सब जगह से अपना मन हटा कर आत्मस्वरूप ब्रह्म में लीन होजाता है, तब इन्द्रियें और प्राण अपान आदि के कर्म एक दम नष्ट होजाते हैं। यह पांचवां यज्ञ कहा गया।

अब आगे इस एक ही श्लोक में भगवान पांच यज्ञ कह गये हैं। यानी कुछ लोग उनको धन दान करते हैं, जिनको कि उसकी आवश्यकता है, अर्थात् अपने धनसे दीन दुखियों का दुःख दूर करते हैं, तथा सुमार्ग में धन को लगाते हैं। कुछ लोग चन्द्रायण व्रत आदि करते हैं अथवा मौन

व्रत धारण करते हैं। कुछ लोग अष्टांग योग का साधन करते हैं, अर्थात् प्राणायाम और प्रत्याहार वगैरः करते हैं, यानी प्राण वायु आदिको रोकते हैं और बाहरी चीजों से मनको हटा लेते हैं। कुछ लोग नियमानुसार वेद पाठ करते हैं। और कुछ लोग शास्त्रों के विचार में निमग्न रह कर ज्ञान उपार्जन करते हैं तथा वेद पाठ करते हैं। सारांश यह है कि धन दान करना, तपस्या करना, योग साधन करना, वेद पढना और शास्त्र विचार से ज्ञान प्राप्त करना ये पांच भी यज्ञ ही हैं।

(मू०) अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

[१७]

(भा०प०) कुछ रोक प्राणायाम में द्रुत वेग प्राण अपान का।
हैं होम करते प्राण बीच अपान, उस में प्रान का २९
कुछ लोग नियता हार हो हैं होमकी करते क्रिया।
हैं होम प्राणों बीच प्राणों का सदा करते किया ॥३०॥

अर्थ—कितनेही प्राण को अपान में होमते हैं और अपान को प्राण में होमते हैं। प्राण और अपान की गति रोक कर प्राणायाम में तत्पर होजाते हैं ॥ २९ ॥

कुछ नियमित आहार करके प्राणों को प्राणों में होमते हैं। ये सब यज्ञ के जाननेवाले हैं। इनके पाप यज्ञ से ही नाश होजाते हैं।

इस जगह यह ग्यारह वां यज्ञ कहा है। मतलब यह है कि कितनेही योगी अपान में प्राण वायु को मिलाते हैं यानी पूरक (अन्दर भरना)

करते हैं, और कितने ही प्राणवायु को अपानवायु में होमते या मिलाते यानी रेचक (खाली करना) करते हैं, इसी भांति कुछ प्राण और अपान वायु की चालको रोक कर प्राणों को प्राण में होमने, यानी कुम्भक प्राणायाम (सांस रोकना) करते हैं। इसीको साफ़ करके योंभी कहसकते हैं कि कुछ लोग अपान वायुको प्राण वायु में मिलाकर पूरक करते हैं और कुछ प्राण वायु में अपान वायु मिलाकर रेचक करते हैं, और कुछ लोग नाक और मुंह को बन्द करके हवाके बाहरी रास्तों को रोक देते हैं और ऊपर सिमटने से हवाको अन्दरूनी रास्तों कोभी बन्द करके कुम्भक प्राणायाम करते हैं।

और बहुतही साफ़ मतलब यह है कि प्राणकीगति रोकने से मनकीगति तुरन्त ही रुकजाती है इसीलिये सिद्ध योगीलोग प्राणायाम में तत्पर रहते हैं।

यहां आधेश्लोक में बारहवां यज्ञ कहाहै और आधे में यज्ञ करनेवालों के लिये यज्ञ का फल कहाहै।

मतलब यहहै कि कुछ लोग थोड़ा खाकर प्राणों में प्राणों को होमते हैं थोड़ा भोजन करने यानी कम खानेसे प्राण की गति कम होजाती है और प्राणकी चाल कम होने से मन रुकता है। इसी से रेचक, पूरक और कुम्भक करनेवाले अल्प भोजन करते हैं। जोलोग नाक तक ठूंस लेतेहैं जिनके पेट में हवा जाने की भी जगह नहीं रहती, उनसे किसी प्रकार का प्राणायाम हो नहीं सकता। और प्राणायाम न हो सकने से मनभी नहीं रुक सकता। मनकी गती न रुकने से मनुष्य आत्मस्वरूप ब्रह्म में लीन नहीं हो सकता ब्रह्मज्ञान में लवलीन होने वालों के लिये थोड़ा खाना ही उचित है, क्योंकि अल्प भोजी ही प्राण की गति को कम कर सकेगा और प्राण की गति रुकनेसे ही मनकी चाल बन्द होगी।

(मू०) यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

[१८]

(भा०प०) जोयज्ञ वेत्ता हैं तथा जिनके कटे अघ-रोग हैं।
जो यज्ञ के अवशिष्ट अमृत-भोग करते भोग हैं॥
कुरुश्रेष्ठ ! होते लीन हैं वे ब्रह्म में संशय नहीं।
विन यज्ञतो परलोक क्या, इह लोकतक बनता नहीं ३१

अर्थ—जो यज्ञ से बचे हुए अमृतरूपी अन्न का भोजन करते हैं, वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त होजाते हैं। हे अर्जुन ? जो यज्ञ नहीं करते उनको न तो इहलोक है और न परलोक ॥३१॥

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि जो लोग पहले वर्णन कियेहुये यज्ञ करते हैं, तथा समयपर, पहले वर्णन की हुई रीति से भोजन करते हैं यानी यज्ञके अन्त में बची हुई अमृत रूपी सामिग्री खाते हैं वे उचित समय यदि मोक्ष चाहते हैं तो ब्रह्म में पहुच जाते हैं। लेकिन जो पहले कहे हुए यज्ञों में से किसी को नहीं करते, उन के लिये यह दुनियांभी नहीहै, तब दूसरी दुनियां की तो चातही क्या है, जो कि बड़े कठिन उपाय करने पर कर्मद्वारा मिलती है।

(मू०) एवं वहुविधा यज्ञावितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्म जान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

[१९]

(भा० प०) यों ब्रह्म मुख में पार्थ ! होते नित्य कितने यज्ञ हैं।
तुम जानलो ये कर्म से उत्पन्न होते सर्व हैं॥

निष्कर्म यज्ञ-विधानको जब जानलोगे तुम सभी ।
तब मुक्त होंगे कर्म-बन्धन छूट जायेंगे सभी ॥३२॥

अर्थ—वेद में इसतरह के बहुत से यज्ञों का वर्णन है, उन सब की उत्पत्ति कर्म से समझ। ऐसा समझने से तेरी मुक्ति होजायगी ॥३२॥

भावार्थ—तात्पर्य्य यह है कि भगवान अर्जुनसे कहनेलगे कि हे अर्जुन ! वेद में बहुत तरह के यज्ञ कहेगये हैं। उन सब की पैदायश शरीर मन और वाणी से है। आत्मा से उनका कुछ भी सरोकार नहीं है। क्योंकि आत्मा कर्म रहित है यानी आत्मा कुछ काम नहीं करता। अगर तू यह समझेगा कि ये मेरे कर्म नहीं हैं मैं कर्म रहित हूं, मेरा कर्मों से कुछ सरोकार नहीं है तो इस श्रेष्ठ ज्ञान के बल से तू दुःखों से छुटकारा पाकर संसार बन्धन से छूट जायगा। क्योंकि सब यज्ञोंसे ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है।

(मू०) श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलंपार्थ ज्ञानेपरिसमाप्यते ॥३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

[१६]

(भा०प०) है द्रव्य-मय-मखसेपरन्तप ! ज्ञान-मख उत्तम कहीं ।
सब कर्म होते ज्ञान-हित जिसके परे कुछ है नहीं ॥३३॥
प्रणिपात, प्रश्न, सुश्रुषासे प्राप्त करलो तुम उसे ।
देंगे तुम्हें उपदेश गुरुजन ज्ञानका समझो उसे ॥३४॥

अर्थ—हे अर्जुन सब प्रकारके द्रव्य यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। फल सहित सब कर्म ज्ञान में ही सम्मिलित हैं ॥३३॥

हे अर्जुन? जब तू तत्व ज्ञानी लोगों के पास जाकर उनको प्रणाम करेगा, उनसे पूछेगा और उनकी सेवाकरेगा, तब वे लोग तुझे तत्वज्ञान सिखावेंगे ३४

भावार्थ—मतलब यह है कि सब प्रकार के द्रव्य द्वारा कियेहुऐ यज्ञोंसे ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठहै, क्योंकि सबका निचोड़ "ज्ञान" है। जो यज्ञ द्रव्य आदि से कियाजाता है उनका फल भीवही है किन्तु ज्ञान का फल वह नहीं है, ज्ञान का फल मोक्ष है। अतएव ज्ञान यज्ञ सब से ऊंचा है और उस में सारे कर्म्म समाप्त होजाते हैं, यानी ब्रह्म-ज्ञान से ही दुःख रूपी कर्म नाश होते है, और किसी उपाय से कर्म्मों की जड़ नाश नहीं होसकती।

(तत्व ज्ञानकी प्राप्ति किन से और किसतरह होसकती है)

हे अर्जुन ! जिन्हें सर्व श्रेष्ठ ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा लेनी हो उन्हें पूर्ण तत्व ज्ञानी पण्डित और विरक्त सन्यासियों के पास जाना चाहिये। उन को जाकरसाष्टाङ्ग दण्डवत, प्रणाम करना चाहिये, उन की तन मनसे सेवा करना चाहिये। जब वह लोग सेवा टहल और आदर सत्कार से प्रसन्न हो जाय, तब उन से ऐसे प्रश्न करने चाहिये। तथा बन्धन का कारण क्या है? बन्धन से छुट कारा पाने का उपाय क्या है? विद्या क्या है? अविद्या क्याहै? जब महात्मा लोग प्रसन्न होंगे तब अपने अनुभव किये हुये तत्व ज्ञान का उपदेश करेंगे।

याद रखना चाहिये ब्रह्म ज्ञान सहज में नहीं मिलता। ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति के लिये ऐसे गुरु की तलाश करनी चाहिये, जो सर्व शास्त्रों के जानने और उन के समझाने वाला हो और साथ ही जो ब्रह्म को भी

अर्थ में जानता हो। क्योंकि जो मनुष्य ब्रह्म ज्ञान रहित होगा, वह अनुभव सहित उपदेश न कर सकेगा। और जो केवल ब्रह्म ज्ञानी होगा। और शास्त्रों को न जानता होगा वह दृष्टान्त, युक्तियों और प्रमाणों सहित उपदेश न कर सकेगा।

वह शास्त्र ज्ञान न होने से पूछने वाले की शंकाओं का समाधान न कर सकेगा। अतः ब्रह्म ज्ञान उपार्जन करने के लिये ऐसा गुरु तलाश करना चाहिये जो शास्त्र में पारदर्शी हो एवं ब्रह्म ज्ञान का पूर्ण अनुभवी हो।

(मू०) यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्य शेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप कृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

[२०]

(भा०प०) जिस ज्ञान को पाकर न होगा मोह पाण्डव फिर कभी।
तुझमें तथा मुझमें दिखाई एक सम देंगे सभी ॥३५॥
यदि पापियों में भी महापापी किसीको मानलो।
तो ज्ञानसे ही पाप-सागर पार होगा जानलो ॥३६॥

अर्थ—उस तत्वज्ञान के मालूम होजानेपर, तू ऐसी भूल न करेगा। उसी ज्ञान से समस्त जीवोंको अपने आत्मा में और मुझ में देखेगा ॥३५॥

अगर तू सारे पापियों से भी अधिक पापी होजायगा। तो भी तू इस ज्ञानरूपी नावसे पाप समुद्रके पार होजायगा ॥३६॥

तात्पर्य्य यह है कि तत्वज्ञानी लोगों से तत्व ज्ञान पाकर तुझे अब की भांति मोह न होगा, तेरी घबराहट जाती रहेगी। उसज्ञान के बल से तू ब्रह्म से लेकर चींटीतक को अपने आत्मा में देखेगा। तब तू समझेगा कि यह सारा संसार मुझ में मौजूद हैं। पीछे तू सबजीवों को मुझ वासुदेव में देखेगा, और इसतरह आत्मा और परमात्मा की एकता समझेगा यह विषय सभी उपनिषदों में भलीभांति समझाया है।

हे अर्जुन! यह संसार समुद्र की भांति अथाह पापरूपी जल से भरा हुआ है। इस पाप सागर को पार करजाना सहज नहीं है। किन्तु जो मनुष्य तत्व ज्ञानको जान जाता है, वह अपने ज्ञानबल से बिना प्रयासही पापसागर से पार होजाता है। परन्तु ज्ञान से पापोंका नाश किसतरह होता है सुन!

(मू०) यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

[२१]

(भा०प०) प्रज्वलित अग्नि प्रचण्ड करती भस्म ईंधनको यथा।
त्यों ज्ञानरूपी अग्निसे सब कर्म जलते सर्वथा ॥३७॥
इस विश्व में शुचि ज्ञान सम है कुछ नहीं, यह सत्यही।
है योग जिनका सिद्ध, पाते ज्ञान वे हैं आपही ॥३८॥

अर्थ—हे अर्जुन! जिस तरह जलती हुई अग्नि सूखी लकड़ियों को जला कर राख कर देती है, उसी तरह ज्ञान रूपी अग्नि सारे कर्मों को जलाकर खाक कर देती है।३७।—

इसलिये इस जगत में ज्ञान के बराबर पवित्र वस्तु और कोई नहीं है। कर्म योगी निपुण पुरुष में, कुछ समय में ही यह ज्ञान अपने आप आजाता है ॥३८।

भावार्थ—तात्पर्य्य यह है कि ज्ञान के सिवाय चित्त को शुद्ध करने वाला और दूसरा उपाय कोई नहीं है। मोक्ष के लिये ब्रह्म ज्ञान ही सब से श्रेष्ठ है। जिसने कर्म योग और समाधि योग का भली भांति अभ्यास किया है उसे थोड़े समय में ही अभ्यास करते करते अपने आप वह ज्ञान होजाता है। वह ज्ञान प्राप्त करने के निश्चित उपाय सुन।

(मू०) श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

[२३]

(भा०पा०) जिसने किया वश इन्द्रियों को ज्ञान जिसका ध्येय है ।
श्रद्धालु जन वह ज्ञान पाता शान्ति पाता श्रेय है ॥३९॥
पर ज्ञान-श्रद्धा शून्य संशय-ग्रस्त होते नष्ट हैं ।
परलोक-विहीन हो होते सभी विधि भ्रष्ट हैं ॥४०॥

अर्थ—जिस में श्रद्धा है, जिसे ज्ञान की चाह है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, उसे ज्ञान मिलता है। जिसे ज्ञान हो जाता है, उसे परम शान्ति जल्दी ही मिलती है ॥ ३९ ॥

जो अज्ञानी है, श्रद्धा रहित है और जिसे आत्मा में सन्देह है वह नाश हो जाता है। उसको इस लोक में और परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिलता।

भावार्थ—जिसमें श्रद्धा और विश्वास हैं, उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता हैं; किन्तु यदि वह आलसी हो तो कुछ नहीं हो सकता, इसी से यह कहा गया है। कि उसे हमेशा ज्ञान की चाह होनी चाहिये; अर्थात उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने गुरुजनों के पास हरदम डटा रहना और उन के उपदेश ध्यान पूर्वक सुनने चाहिये। लेकिन जिसमें श्रद्धा है और जो रात दिन ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है, यदि उस ने अपनी इन्द्रियों पर अधिकार न जमाया हो यानी अपनी इन्द्रियों को अपने वश न किया हो तो ज्ञान प्राप्त हो नहीं सकता। इसीसे कहा गया है कि उसे अपनी इन्द्रियां अपने वश में कर लेनी चाहिये। मतलब यह है कि जिस में विश्वास या श्रद्धा है, जिसे ज्ञान पाने की इच्छा है और जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन कर लिया है उसे निश्चय ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञान प्राप्त करने के ये तीन साधन हैं जिसमें इन तीनों में से एक भी नहीं है, उसे ज्ञान मिल नहीं सकता। इसी अध्याय के ३४ वें श्लोक में दण्डवत, प्रणाम गुरु सेवा आदि जो उपाय बताये हैं वे सब बाहरी साधन हैं। सम्भव है कि उन से ज्ञान प्राप्ति न हो। क्योंकि उनको पाखण्डी लोग भी कर सकते हैं। लेकिन जिसमें श्रद्धा आदि ऊपर कहे हुए तीन साधन हों। उस से कपट नहीं होसकता। इस से उपरोक्त तीन साधन ज्ञान प्राप्त करने के निश्चित उपाय हैं। ज्ञान प्राप्त करने का फल क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है:—मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होनेपर शीघ्रही परम शान्ति मोक्ष मिलजाती है, शुद्ध ज्ञान से मोक्ष होजाती है, यह बिलकुल सच है। यही बात शास्त्रों में खोल खोल कर समझायी गयी है।

जिसपर अज्ञान का पर्दा पड़ा है यानी जो आत्मा को नहीं पहचानता वह, जिसे अपने गुरुओं के उपदेशों या वेदान्त शास्त्रपर विश्वास नहीं है वह, तथा जो सन्देहों में डूबा रहता है वह, यह तीनोंही नष्ट होजाते हैं।

अज्ञानी और श्रद्धा हीन निस्सन्देह नष्ट होजाते हैं; किन्तु उतने नहीं, जितना कि संशयों में डूबा रहने वाला नष्ट होता है। सारांश यह है कि अज्ञानी और श्रद्धाहीनों को ज्ञान नहीं होता। तथापि सम्भव है मूर्ख बुद्धिमान होजायं और अविश्वासी विश्वासी होजाय; लेकिन सन्देह में डूबा रहने वाला नष्ट हुए बिना न रहेगा। मतलब यह है कि जो मूर्ख होता है उसको गुरु उपदेश और शास्त्रों में विश्वास होजाता है, वह समय पाकर सुधर सकता है। इसी भांति श्रद्धा रहित और मूर्ख भी समय पाकर श्रद्धावान और बुद्धिमान होसकता है; लेकिन जो जान बूझ कर सन्देह और तर्क किया करता है वह कभी सुधर नहीं सकता; इसी से उसे कभी सुख न होगा। भगवान अर्जुन को समझाते हैं कि तू सन्देह न कर क्योंकि सन्देह बड़ा भारी पाप है।

(मू०) योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

[२७]

(भा०प०) सब योग बल से कर्म, जिनके ज्ञान से भ्रम दूर है !
उस आत्मज्ञानी के धनञ्जय ! कर्म बन्धन चूर हैं४१
हृदयस्थ भ्रम अज्ञान जनित समूल भारत ! काट दो।
असि ज्ञान होती तीक्ष्ण,योगी बनो उठो रण पाट दो ४२

अर्थ—हे धनंजय ! जिसने योग रीति से कर्मों को छोड़ दिया है; जिसके सब संशय ज्ञानसे छिन्न भिन्न होगये हैं, जो आत्म निष्ठ है वह कर्म बन्धन में नहीं फसता ॥४१॥

हे अर्जुन ? तेरे दिल में अज्ञान से जो सन्देह आत्मा के विषय में उठ खड़ा हुआ है, उसे ज्ञान रूपी तलवार से काट डाल और योग का सहारा लेकर उठ खड़ा हो ॥४२॥

भावार्थ—वह मनुष्य जो परमात्मा को समझता है, योगरीति अथवा परमात्मा के ज्ञानसे, तमाम कर्म्म-धर्म-अधर्म को त्याग देता है। मनुष्य इस दर्जेपर उस वक्त पहुंचता है, जब उसके सन्देह आत्मा और परमातमा की एकता समझनेसे छिन्न-भिन्न होजाते हैं। जब वह यह समझने लगता है कि समस्त कर्म सतोगुण आदि गुणों के कारण से होते हैं। मैं कोई कर्म्म नहीकरता, तब कर्म उसे बन्धन में नहींबांधते। जो सब कार्यों का त्यागदेताहै, और सदा अपने आत्मा में मग्न रहता है। उसपर उस के योगाभ्यास के कारण कर्म्मों का बुरा या भलाप्रभाव नहीं पड़ता।

भगवान कृष्णचन्द्र अर्जुन से कहते हैं:—सन्देह करना सब से भारी पाप है, सन्देह मूरखता अथवा अज्ञान से पैदाहोता है, और बुद्धि में रहताहै, बुद्धि और आत्मा के शुद्ध ज्ञानसे सन्देह को नष्टकरदे।

ज्ञान ही अज्ञान और शोकादि का नाशक है। हे अर्जुन तेरे नाश का कारण सन्देह है तू उस सन्देह का नाश करके कर्म योग में लगजा, जिस के सहारे से शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। अब उठ युद्ध कर।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योग शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे ज्ञान कर्म
सन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्याय।

अर्जुन उवाच ।
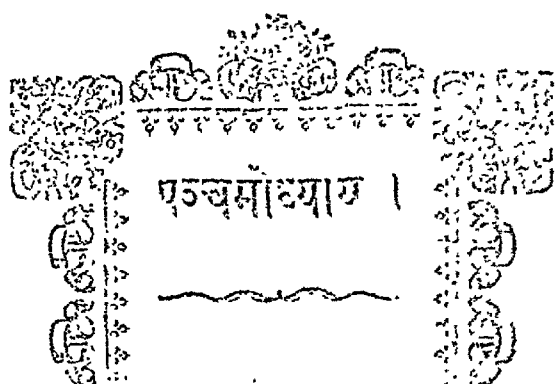
(मू०) संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

भगवानुवाच ।

संन्यासः कर्म योगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

[१]

(भा०प०) "संन्यास को उत्तम बता पुनि कर्म योग बखानते ।
इक मार्ग निश्चय कर कहो तुम शुभ जिसे हो मानते"१

भगवान ने कहा—

हैं मोक्ष प्रद शुभ मार्ग दोनों योग अरु संन्यास के ।
पर श्रेष्ठतर है कर्म योग कहीं न पथ संन्यास के ॥२॥

अर्थ—हे कृष्ण ? आप कर्मों के छोड़ने को अच्छा कहते हैं, फिर कर्मों के करने को अच्छा कहते हैं, मुझ निश्चय करके यह बताइये कि इन दोनों में कौन अच्छा है ॥१॥

हे अर्जुन सन्यास और कर्म योग दोनों में संन्यास से कर्म योग श्रेष्ट है ।२।

भावार्थ—अर्जुन ने कहा. हे कृष्ण ! आप कर्म सन्यास, यानी कर्म छोड़ने की भी तारीफ करते हैं और साथ ही यह भी उपदेश करते हैं कि कर्मों का करना आवश्यकीय और अच्छा है। आप की दो बातें कहने से मेरे मन में सन्देह उठ खड़ा हुआ है, कि उन दोनों में कौन अच्छा है। कर्म सन्यास या कर्म योग। परन्तु ये दोनों यानी कर्मों का त्याग और कर्मों का करना एक दूसरे के विरुद्ध हैं। अतः एकही समय में एकही आदमी से कर्म त्याग और कर्म करना, नहीं हो सकते। अत एव कृपा करके मुझे एकही बताइये, अगर आप कर्म संन्यास को उत्तम समझे तब तो उसी की सलाह दीजिये और अगर कर्म योग को अच्छा समझे तो उसकी सलाह दीजिये। मतलब यह है कि इन दोनों में जो श्रेष्ठ समझो उसी को बताइये।

भगवान अर्जुन का सन्देह दूर करने के लिये कहते हैं कि "सन्यास और कर्म योग" यानी कामों का छोड़ना और कामों का करना ये दोनों ही मोक्ष के देने वाले हैं क्योंकि दोनों से ही ब्रह्मज्ञान होता है। यद्यपि दोनों ही से मोक्ष होती है तथापि मोक्ष प्राप्ति के लिये केवल कर्म संन्यास है किन्तु ज्ञान रहित कर्म संन्यास से कर्म योग ही श्रेष्ठ है।

यद्यपि भगवान ने कर्म संन्यास से कर्म योग अच्छा बताया है, तथापि भगवान श्री कृष्ण का यह आशय नहीं है कि सच्चे कर्म संन्यास से कर्म योग श्रेष्ठ है। उनका आशय यह है कि जो ज्ञान से रहित कर्म संन्यास है

कर्म योग से बहुत ऊंचे दर्जे पर है। यानी उनका मुख्य उद्देश्य तो यह है कि कर्म योग, कर्म संन्यास से आसान है। इसी लिये ज्ञान रहित कर्म संन्यास से अच्छा है।

कर्म करते करते चित्त के शुद्ध होने से संन्यास होता है बिना चित्त के शुद्ध हुए संन्यास अच्छा नहीं है। जिनको शोक मोह नहीं है जिनको ज्ञान होगया है, उनके लिये तो कर्म संन्यास यानी कामों का छोड़ना ही अच्छा है। किन्तु रजोगुणी तमोगुणी पुरुषों को ज्ञान प्राप्त करने के लिये कर्म योग यानी कामों का करना ही अच्छा है। कारण यह है कि अज्ञानी के लिये ज्ञान प्राप्त करने को कर्म योग ही अच्छा है। हे अर्जुन! तू क्षत्रिय है। क्षत्रियों का धर्म युद्ध करना है। अतः तुझे युद्ध करना ही अच्छा है, क्योंकि बिना कर्म योग के तेरा अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा। भगवान संन्यासी के लक्षण बताते हैं।

(मू०) ज्ञेयः सनित्यसंन्यासीयोन द्वेष्टिन कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो महाबाहो सुखंबन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥
सांख्ययोगौपृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

[२]

(आ०प०) जो द्वेष-इच्छा-रहित हैं संन्यास से वे युक्त हैं ।
सुख दुःख-द्वन्द्व-विहीन होते कर्म बन्धन मुक्त हैं ॥३॥
"है सांख्य-मत से योग-मत कुछ भिन्न, कहता अज्ञ है।
है लक्ष्य इनका एक ही यह जानता तत्वज्ञ है ॥४॥

अर्थ—हे अर्जुन ? जो न किसी से घृणा करता है, । न किसी चीज़ की इच्छा करता है, वही पक्का संन्यासी है । वह सुख दुःख से रहित संन्यासी सहज ही में संसारी बन्धनों से छुटकारा पाजाता है ॥३॥

सांख्य और कर्म-योग को बालक ही अलग अलग कहते है, किन्तु बुद्धिमानों की राय में ऐसी बात नहीं है । जो इन दोनों में से एक का भी साधन अच्छी तरह करता है उसे दोनों का फल मिलजाता है ॥४॥

भावार्थ—जो कर्म योगी किसी से नफरत नहीं करता और किसी से प्रेम नहीं करता, किसी वस्तु की चाहना नहीं रखता, सुख और दुःख को समान भाव से देखता है, वह चाहे काम करता रहे, तथापि वह पक्का संन्यासी है । सारांश यह है कि राग द्वेष छोड़ कर जो निष्काम कर्म करता है वह संन्यासी ही है । इसलिये सांख्य और योग में भेद नहीं है ।

(शंका) संन्यास और कर्म योग जो दो तरह के लोगों को बताये गये हैं और जो आपस में एक दूसरे के विरुद्ध है, अगर ठीक ठीक विचार किया जाय, तो दोनों के फलभी जुदे जुदे होने चाहिये । उन दोनों के ही अनुष्ठान से मोक्ष का मिलना सम्भव नहीं जान पड़ता । इस शंका का उत्तर भगवान आगे देते हैं ।

हे अर्जुन ! बालक यानी मूर्ख लोग ही 'सांख्य और योग' को दो चीज और उनके फलों को जुदा जुदा समझते हैं । लेकिन बुद्धिमान तथा ज्ञानी समझते हैं कि उन दोनों से एक ही फल निकलता है । यानी सांख्य (जान बूझ कर कर्मों का त्याग) और कर्म-योग (कर्मों का करना) दोनों से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । भगवान कहते हैं कि जो अच्छी तरह से सांख्य (सन्यास) अथवा कर्म-योग दोनों में से एक का भी आश्रय लेते

हैं उनको दोनों के ही फल मिलते हैं। दोनों का फल एक ही "मोक्ष" है। अतः सांख्य (संन्यास) और कर्म-योग दोनों में कुछ अन्तर नहीं है।

(शंका) अभीतक तो "संन्यास" और "कर्म-योग" शब्दों से ही सिलसिला चल रहा था। अब "सांख्य" और "योग" जिनसे हमारा अभी कुछ मतलब नहीं है क्यों एकही फल के देने वाले कहे गये हैं?

(उत्तर) इस में कुछभी भूल नहीं है। अर्जुन ने वास्तव में साधारणतया, संन्यास और कर्म-योग के विषय में ही प्रश्न किया था। भगवान, संन्यास और कर्म-योग को बिना छोड़े ही, उनमें अपने अन्यान्य विचार मिला कर, सांख्य ज्ञान' और योग दूसरे नामों से उत्तर देते हैं। भगवान की राय में संन्यास और कर्म योग ही, सांख्य और योग हैं, जब कि उन में क्रमसे आत्मा का ज्ञान और सम बुद्धित्व मिला दिये जांय। अतएव यह प्रसङ्ग बे मेल नहीं है। अब यह सवाल पैदा होता है कि संन्यास और कर्म योग दोनों में से केवल एक का भली भांति साधन करने से दोनों का फल किस तरह मिल सकता है? इसका जवाब भगवान श्री कृष्ण आगे देते हैं।

(मू०) यत्सांख्यैः प्राप्यतेस्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तु मयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधि गच्छति ॥६॥

[३]

(भा०प०) मत सांख्य पहुंचाता जहां रर योग पहुंचाता वही।
ज्ञानी वही है जानता जो भेद दोनों में नहीं ॥५॥

संन्यास का पाना कठिन है योग बिन अर्जुन महा।
मुनि योग-युत होकर पहुँचते ब्रह्म के ही पास हा।।६।

अर्थ—जो फल सांख्य वालों को मिलता है, वही योगियों को मिलता है। जो सांख्य और योग को एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।।५।।

हे महाबाहो अर्जुन! बिना कर्म योग के संन्यास का मिलना कठिन है योग-युक्त मुनि ब्रह्म (यहां पर ब्रह्म शब्द संन्यास के लिये कहा गया है) यानी संन्यास को बहुत जल्द पाजाता है।।६।।

भावार्थ—सांख्य लोग वे हैं; जिनका ध्यान और प्रेम ज्ञान की ओर है, और जिन्होंने संसार को त्याग दिया है। वे उस स्थान को पहुंचते हैं, जो "मोक्ष" कहलाता है। योगी भी उसी स्थान को पहुंचते हैं लेकिन जरा चक्कर खाकर यानी शुद्ध ज्ञान प्राप्त करके और कर्मों को त्याग कर। मतलब यह है कि जो योगी शास्त्रानुसार ज्ञान प्राप्त करने के लिये कर्म करते हैं, और अपने कर्मों को ईश्वर के समर्पण कर देते हैं एवं अपने स्वार्थ के लिये किसी फल की आशा नहीं रखते वे शुद्ध ज्ञान के बल से मोक्ष पाजाते हैं।

(प्रश्न) अगर यही बात है तो "संन्यास" योग की अपेक्षा श्रेष्ठ और ऊंचा है। फिर यह बात क्यों कही गयी है कि कर्म-योग कर्म संन्यास से अच्छा है।

(उत्तर) भगवान कहते हैं, अर्जुन! तुमने मुझसे प्रश्न किया था कि कर्म-योग और कर्म संन्यास इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है। तुम्हारा वह प्रश्न साधारण कर्म-योग और साधारण कर्म संन्यास के विषय में था। जैसा तुम्हारा प्रश्न था, वैसे ही मैं ने उत्तर भी दिया मैं ने जो कर्म योग को कर्म संन्यास से अच्छा कहा है वहां "ज्ञान" का लिहाज नहीं रखा है।

लेकिन वह संन्यास जिसकी नींव "ज्ञान" पर है मेरी समझ में सांख्य है और सांख्य ही तथा योग अथवा पर्यायार्थ है। वेदरीति से काम करने वाला कर्मयोगी ज्ञान प्राप्त करके सच्चा योगी (सांख्य) होजाता है यानी कर्म योग ही मनुष्य को सच्चा योगी या सन्यासी बनाता है। इसी लिये कर्म योग को कर्म सन्यास से अच्छा कहा है। फिर सवाल पैदा होता है कि कर्म योग सन्यास मिलने का वसीला किस तरह है? इस के जवाब में भगवान कहते हैं कि बिना कर्म योग किये संन्यास होना कठिन है। जब तक राग द्वेष आदि न हटेंगे। जबतक चित्त शुद्ध न होगा, तबतक संन्यास होना कठिन है। कर्म-योग करते करते जब अन्तःकरण शुद्ध होजायगा, तभी कर्मों का सन्यास ज्ञान होगा। इसी से भगवान ने कर्म योग को श्रेष्ठ ठहराया है और संन्यास मिलने का द्वारा या वसीला कहा है। जिसने कर्म योग का दरवाजा पार करके मनको शुद्ध कर लिया है। ऐसा ज्ञानी कर्म बन्धनों से अलग रहता है। तथा—

(मू०) योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्म भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

[४]

(भा०पा०) जो योगयुत अन्तः करणका शुद्ध इन्द्रियजीत है।
सबप्राणियों में मिलगया जिसने लियामनजीत है॥
वह कर्म करकेभी सदा रहता न उनमें लिप्त है।
वह कर्म फल कीचाह तजि रहता सदाही तृप्त है॥७॥

अर्थ—जोकर्म योगी है, जिसका चित्त बिलकुल शुद्ध है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीतलिया है, जो अपनी आत्मा को समस्त प्राणियों से अलग

नहीं मानता, वह कर्म करता हुआ भी कर्म बन्धनों से अलग रहता है। यानी उनके बन्धन में नहीं आता। ७

भावार्थ—अगर कोई यह संका करे कि कर्म योगी कर्म-बन्धन में फस जाता है। तो उस की संका दूर करने को भगवान कहते हैं कि शास्त्रानुसार कर्म करनेवाले का चित्त शुद्ध होजाता है। फिर वह अपने तई अपने अधीन करलेता है, और सब जीवोंको अपने समान समझता है, यानी ब्रह्मसे लेकर घासके मुन्छे तकको अपनी आत्मा के समान समझता है। ऐसी दशा में वह लोक रक्षा के लिये काम करता हुआ अथवा स्वभाव से काम करता हुआ कर्मों के बन्धनों में नहीं बंधता भगवान कहते हैं कि ज्ञान के कर्म वास्तव में कर्म नहीं हैं। तथाः—

(मू०) नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्॥९॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा॥१०॥

[५]

(भा०प०) योगी तथा सब तत्व ज्ञानी ज्ञान में रक्खें यही।
'करता नहीं मैं कुछ स्वयं' सब प्रकृति करवाती सही॥
यह देखने सुनने तथा छूने विसर्जन की क्रिया।
सब सूंघने खाने, पलक अरु सांस की सारी क्रिया॥८॥

[६]

या बोलने सोने तथा कर पांव के जो कर्म हैं।
वे हो रहे हैं इन्द्रियों से ये इन्हीं के धर्म हैं ॥९॥
जो ब्रह्म-अर्पण-हेतु करते कार्य अपने हित नहीं।
लगता न उनको पाप ज्यों जल जलज पत्ते को नहीं १०

अर्थ—कर्म करने वाला तत्व ज्ञानी देखता है, सुनता है, छूता है, सूंघता है, खाता है, चलता है, सोता है, सांस लेता है, ।८।

बोलता है, छोड़ता है, पकड़ता है और आंखों को खोलता तथा बन्द करता है मगर वह यही समझता है कि "मैं कुछ भी नहीं करता" वह समझता है कि इन्द्रियां ही अपने अपने विषय में लगी हुई हैं ॥९॥

जो मनुष्य कर्म करता है, अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर देता है, और अपने कर्म फलों की इच्छा नहीं रखता, उस पुरुष को पाप इस तरह नहीं छूते, जिस तरह कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता ।१०॥

भावार्थ—ऊपर के तीनों श्लोकों का मतलब यह है कि तत्वज्ञानी लोग देखना, सुनना, खाना, पीना आदि सब कामतो करते हैं, किन्तु अपने तईं इन कर्मों का करने वाला नहीं समझते। वे सब इन कामों को इन्द्रियों का काम समझते हैं। उनका खयाल है कि देखना "आंखों" का 'धर्म' है आत्मा का नहीं। चलना "पैरों" का धर्म है आत्मा का नहीं। सुनना 'कानों' का धर्म है आत्मा का नहीं। इसी तरह मल त्यागना "गुदा" का धर्म है आत्मा का नहीं। मतलब यह है कि वे सारे कामों को आंख, कान, नाक, जीभ आदि इन्द्रियों का काम समझते हैं। आत्मा को वे किसी काम का करने वाला नहीं समझते इसी से वे कर्म फांस में नहीं फंसते। किन्तु अज्ञानी लोग सब कर्मों को अपनी आत्मा का काम समझते हैं, इसी से वे कर्म बन्धन में फसते हैं।

काम तो अज्ञानी भी करते हैं और ज्ञानी भी लेकिन ज्ञानी लोग आत्मा का सच्चा स्वभाव जानने उसे अकर्त्ता, असंग, निर्विकार और शुद्ध समझने से कर्मों के बन्धन में नहीं फसते। किन्तु मूर्ख लोग इस असल तत्व के न समझने से ही कर्म बन्धन में बंधते और जनम मरण के दुःख बारम्बार भोगते हैं।

अब यह शंका पैदा होती है कि जो पुरुष कर्म तो करता है किन्तु तत्व ज्ञानी नहीं है उसका भला कैसे होगा ! तत्व ज्ञान न होने से उस के दिल में अभिमान रहता है। वह अपने तईं सब कामों का कर्त्ता समझता है वह आत्मा को कुछ भी न करने वाला और इन्द्रियों को काम करने वाला नहीं समझता, ऐसा ब्रह्म ज्ञान रहित पुरुष कर्म बन्धन में फसता है। क्योंकि उसको ब्रह्म ज्ञान न होने से अशुद्ध अन्तःकरण रहता है ऐसी दशा में वह कर्मों के संन्यास का अधिकारी नहीं है। ऐसे ही पुरुष के लिये १० वें श्लोक में भगवान तरकीब बताते हैं। जिस से उसके कर्म फल (पाप और पुन्य) उस पर अपना प्रभाव न डाल सके। कहते हैं—

कि वह तमाम कामों को ईश्वर के अर्पण करता है, उस का विश्वास है कि जिसभांति नौकर अपने मालिक के लिये काम करताहै उसीतरह मैं अपने मालिक ईश्वर के लिये करताहूं। वह अपने किये कामोंके फल की इच्छा नहीं रखता, यहां तक कि मोक्षको भी नहीं चाहता। इसभांति जो कर्म कियेजातेहैं, उन का फल अन्तःकरण की शुद्धि है। इस के सिवा और कुछ नहीं। क्योंकि:—

(मू०) कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गंत्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

युक्तः कर्म फलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः काम कारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

[७]

(अ०प०) मन, बुद्धि, तन से नित्य योगी इन्द्रियों से भी तथा।
हैं कर्म करते आत्म-शुद्धि-विचार से जो सर्वथा ॥११॥
योगी फलाशा त्याग, हो निर्द्वन्द्व रहता शान्त है।
बिन योग विषयासक्त होता बुद्धि रहती भ्रान्त है ॥१२॥

अर्थ—शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से योगी लोग कर्म फल की इच्छा छोडकर, आत्मा की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं ॥११॥

और जो स्थिर चित्त पुरुष कर्म फल की चाहना छोड कर काम करता है, उसे परम शान्ति मिलजाती है। लेकिन जो स्थिर चित्त नहीं है। और फल की कामना में मन लगा कर काम करता है, वह कर्म बन्धन में बंध जाता है ॥१२॥

भावार्थ—योगी लोग केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से काम करते हैं और उनके मन में यह अटल विश्वास होता है, कि हम सब कर्म अपने मालिक ईश्वर के लिये करते हैं। वह अपने लिये नहीं समझते, और उनके फलों की चाहना नहीं रखते। वे अन्तःकरण की शुद्धि के लिये ही काम करते हैं। इस के सिवाय और किसी कर्म फल की इच्छा करने से बन्धन में फसना पडता है।

यहां यह शंका होती है, कि कर्म तो एक ही है, फिर यह क्या वजह है कि कोई कर्म करने वाला तो मोक्ष पाजाता है, और कोई कर्म बन्धन में

बंध जाता है। इसी शंका के उत्तर में भगवान ने ऊपर जो वचन कहा है, उसका आशय यह है।

जो लोग ऐसा दृढ़ विचार रखते हैं कि जो कुछ हम करते हैं वह सब ईश्वर के लिये करते हैं, अपने लिये कुछ नहीं करते, और साथही कर्मों के फल स्वरूप स्वर्ग, धन, पुत्र, स्त्री आदि की वासना नहीं रखते, वह मोक्ष रूपी शान्ति को पाजाते हैं। उन को ईश्वर की भक्ति में रहते रहते परम शान्ति क्रमशः इस भांति मिलती है। पहले अन्तःकरण की शुद्धि होती है, उसके बाद उनको नित्य, अनित्य वस्तु का ज्ञान होता है, इस के भी पीछे तीसरे दर्जे पर उन्हें पूर्ण वैराग्य होजाता है, इसके पीछे उन्हें परम शान्ति रूपी मोक्ष मिल जाती है। किन्तु जो अस्थिर चित्त हैं, जो अपने कर्मों को ईश्वर के लिये नहीं समझते, जो अपने कर्मों को अपने लिये समझते हैं और अपने कर्मों के फलों की चाहना रखते हैं, यानी जिनके खयाल ऐसे हैं कि हम ये कर्म अपने फ़ायदे के लिये करते हैं, इन कर्मों से हमें धन, पुत्र, स्वर्ग, आदि मिलेंगे, वह लोग कर्म बन्धन में मज़बूती से जकड जाते हैं, उनको जनम मरण के दुःख सुख भोगने पड़ते हैं क्योंकि उनकी मोक्ष नहीं होती।

मतलब यह है कि मनुष्य को कर्म छोडने से कुछ लाभ नहीं है। उसे कर्म करके, अपने कर्मों के फलकी इच्छा न रखकर, सब कर्म ईश्वर के लिये समझने में लाभ है। इस रीति से कर्म करने वाला उपरोक्त विधि से क्रमशः मोक्ष पाजाता है।

यहांतक भगवान ने यह कहा है कि जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसे कर्म योग अच्छा है, आगे वह जिसका अन्तःकरण शुद्ध है उसके लिये कर्म सन्यास अच्छा बतावेंगे।

(मू०) सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

[८]

(भा०पा०) तज कर्म को मन से सुखी देही विचरता है यहीं
नवद्वार पुर तन धाम में करता कराता कुछ नहीं ॥१३॥
प्रभु कर्म कर्ता, कर्म फल संयोग करता है नहीं।
सब प्रकृति करवाती विवश हो कौन क्या करता नहीं ॥१४

अर्थ—शुद्ध अन्तःकरण वाला देह का मालिक जीव मनसे सारे कर्म का त्याग कर, न तो कुछ करता हुआ न कुछ कराता हुआ नौ द्वारके नगर शरीरमें सुख-से रहता है ॥१३॥

ईश्वर न कर्त्तापनको उत्पन्न करता है न कर्मों को उत्पन्न करता है और न कर्म फल के सम्बन्ध को उत्पन्न करता है किन्तु प्रकृति ही सब कुछ करता है ॥१४॥

भावार्थ—कर्म चार प्रकार के होते हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्ध। वह पुरुष जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, मन वाणी और कर्म से सारे कर्मों को त्याग देता है और विवेक बुद्धि से कर्म में अकर्म देखता हुआ सुखसे रहता है। उसके सुख से रहने का कारण यह है कि उसने मन वाणी और कर्म से सारे कर्म त्याग दिये हैं। उसने किसी प्रकार का झञ्झट अपने साथ नहीं रक्खा है। उसका चित्त शान्त है। उसने आत्मा के सिवाय सब से अपना सरोकार छोड़ दिया है।

सब झंझटों से दूर हुआ संन्यासी शरीर में रहता है। शरीर में नौ सुराख हैं यानी आंख, कान, नाक, में दो दो सुराख और एक मुख है। इस तरह सात छिद्र सिर में हैं और २ सुराख मल, मूत्र त्यागने वाले हैं। इस तरह कुल नौ छेद हुए। इन्हीं नौ छिद्रों को नौ द्वार और शरीर को नगर कहते हैं। शरीर रूपी नगर में ही संन्यासी का निवास है।

(शंका) संन्यासी, असन्यासी सभी शरीर में रहते हैं। केवल संन्यासी ही तो शरीर में नहीं रहता। फिर भगवान केवल संन्यासी को ही नौ द्वार के नगर रूपी शहर में रहने वाला क्यों कहते हैं।

(उत्तर) भगवान अर्जुन की उपरोक्त शंका निवारण के लिये कहते हैं कि विद्वान संन्यासी इस शरीर में रहता हुआ भी अपनी आत्मा से देह को अलग समझता है। वह अपनी देह को आत्मा नहीं मानता, इसी से कहते हैं कि वह शरीर में निवास करता है, किन्तु मूर्ख बिल्कुल उल्टा समझता है, वह अपनी देह को आत्मा मानता है इसी से समझता है कि मैं घर में रहता हूं जमीन पर आराम करता हूं, अथवा चौकी पर बैठता हूं, वास्तव में आत्मा देह में रहता है। यह शरीर ही जमीन पर सोता, बैठता और चलता फिरता है, आत्मा तो उसके अन्दर जैसा सदा से है वैसा ही रहता है।

(शंका) जब ज्ञानी पुरुष सब कर्म छोड़ देता है, तो काम करने अथवा कराने की शक्ति तो उस के आत्मा में रहती होगी।

(उत्तर) भगवान कहते हैं वह न तो स्वयं काम करता है और न शरीर तथा इन्द्रियों से काम कराता है।

(प्रश्न) क्या आपका यह आशय है कि काम करने और काम कराने की शक्ति आत्मा में है, और वह कामों के छोड़देने यानी संन्यासी होजाने पर बन्द होजाती है? अथवा यह मतलब है कि आत्मा में कर्म करने और करानेकी शक्ति ही नहीं है?

(उत्तर) काम करने या कराने की शक्ति आत्मा में नहीं है, क्योंकि भगवानने (२ अध्याय के २५ वें श्लोकमें) उपदेश दिया है कि आत्मा निर्विकार और अपरिवर्त्तनीय है। यद्यपि वह देह में बैठा है, तथापि वह कुछ काम नहीं करता, और न वह कर्म फल में लिप्त होता है।

आत्मा–शरीर का ईश्वर, कर्त्ता पन को उत्पन्न नहीं करता अर्थात् वह स्वयं किसी को काम करने की सलाह नहीं देता यानी यह नहीं कहता, "यह करो" न आत्मा स्वयं महल, मकान, गाड़ी घोड़े आदि आवश्यकीय पदार्थों को तैयार करता, है और न आत्मा उनसे सम्बन्ध रखता है, जो महल मकान, गाड़ी, घोड़े आदि बनाता है।

(प्रश्न) अगर शरीर में रहने वाला आत्मा न कुछ कर्म करता है और न किसी से कराता है तो वह क्या है जो काम करता है और दूसरों से कराता है?

(उत्तर) वह प्रकृति है जो काम करती कराती है। इस प्रकृति को ईश्वरी माया भी कहते हैं। यह सत, रज आदि गुणों से बनी हुई है जैसा कि सातवें अध्याय के १४ वें श्लोक में कहा गया है।

एक बात और समझने की है कि इस श्लोक से पहले जीव निर्विकार ठहराया जाचुका है। यहां ईश्वर भी निर्विकार ठहराया गया है। परमार्थ में जीव और ईश्वर दोनों निर्विकार हैं। ईश्वर और जीव नाम से दो हैं। असल में दोनों एकही है।

असल मतलब यह है कि ईश्वर न तो कुछ करता है और न किसी से कुछ कराता है, न किसी को फल भुगाता है, और न आप भोगता है। अज्ञान या अविद्या रूपी दैवी माया, जिसे प्रकृति कहते हैं, कार्य करती और कराती है। ईश्वर सूर्य्य की तरह चमकने वाला है। किसी से कुछ कराता नहीं। जिस चीज का जैसा स्वभाव है, वह अपने स्वभाव अनुसार ही काम करती है। सूर्य एक है। उसके उदय होने पर कमल खिलजाते हैं और कुमुद सुकुड़ जाते हैं सूर्य्य न किसी को खिलाता और न संकुचित करता है, इसी तरह ईश्वर किसी से कुछ नहीं कराता। अनेक पदार्थ तो चेष्टा नहीं करते। किन्तु मनुष्य आदि अनेक प्रकारकी चेष्टा करते हैं। कहचुके हैं कि ईश्वर और जीव में अन्तर नहीं है। जिस तरह ईश्वर कुछ नहीं करता और किसी से कुछ कराता भी नहीं, उसी तरह शरीर में रहने वाला आत्मा भी कुछ नहीं करता और न कराता है। किन्तु शरीर और इन्द्रियां प्रकृति के अधीन होकर यानी स्वभाव से ही सब प्रकार की चेष्टाएँ करती हैं। इसी से कहते हैं कि आत्माका शरीर और इन्द्रियों के कामों और कर्मों के फल से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(मू०) नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवद्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

[८]

(भा०प०) लेता न विभु है पुण्य प्राणी का न लेता पाप ही ।
प्राणी भ्रमित अज्ञान से हो दुःख पाते आप ही।१५।

अज्ञान जिनका हट गया है आत्म-ज्ञान विकाश से।
वे परम तत्व प्रकाश पाते ज्ञान सूर्य प्रकाश से ॥१६॥

अर्थ—हे अर्जुन? ईश्वर न किसी के पाप को ग्रहण करता है। और न पुण्य को ग्रहण करता है। इस जीव के ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा है। इसी से प्राणी मोहको प्राप्त होता है ॥१५॥

हे अर्जुन! जिनका अज्ञान आत्मज्ञान से नष्ट होगया है, उनका आत्मज्ञान उनके लिये सूर्य की भांति परब्रह्म को प्रकाशित करता है ॥१६॥

भावार्थ—मतलब यह है कि ईश्वर न किसी के पापों से सरोकार रखता है और न पुण्य से। आशय यह है कि वह अपने भक्तों के पाप पुण्य से सरोकार नहीं रखता।

(प्रश्न) तब भक्त लोग हवन, पूजा, यज्ञ और अन्यान्य पुण्य कर्म किस लिये करते हैं?

(उत्तर) इसके उत्तर में भगवान कहते हैं ज्ञान को अज्ञान ने ढक रक्खा है इसी से अज्ञानी लोग संसार में धोखा खाते हैं; और समझते हैं कि "मैं करताहूं, मैं भोगताहूं, मैं भुगाताहूं" इत्यादि।

जब कि पहले कहा हुआ अज्ञान जिसने जीवों के ज्ञान पर परदा डाल रक्खा है, और जिस से लोग धोखा खाते हैं, आत्मज्ञान से नाश होजाता है तब वही आत्मज्ञान परब्रह्म को उसी भांति दिखा देता है, जिस भांति सूर्य्य अन्धकार को नाश करके दीखने योग्य चीजों को दिखा देता है।

यहां अर्जुन के मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि उस आत्मज्ञान द्वारा परब्रह्म के दीखने पर क्या फल मिलता है। उसी का जवाब भगवान नीचे देते हैं।

(मू०) तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्ति पुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

[१०]

(भा०प०) उसमें लगी है बुद्धि जिनकी चित्त भी उसमें लगा ।
जो समझते सर्वस्व उसको ही तथा अपना सगा ॥
जो शुद्ध हैं अघ पाप जिनके ज्ञान जल से धुलगये ।
होता न उनका जन्म फिर सब कर्म बन्धन खुलगये १७

अर्थ—उस परब्रह्म ही में जिनकी बुद्धि है, उस में ही जिनका आत्मा है, उस में ही जिन की निष्ठा है, उस में ही जो तत्पर रहते हैं, वहीं जिनका परम आश्रय है, जिनके पाप ज्ञान से नाश होगये हैं, वे जाकर फिर नहीं आते १७

भावार्थ—ऊपर आत्म तत्त्व के जानने वाले के लक्षण और उनके ज्ञान का फल कहा गया है।

जो ब्रह्मज्ञान में लगे रहते हैं, जो अपने आत्मा को ही परब्रह्म समझते हैं, वे तमाम कर्मों को त्याग देते हैं, और एकान्त ब्रह्म में ही निवास करते हैं। उस समय परब्रह्म ही उन का परम आश्रय होता है। और वे अपने आत्मा में ही मग्न रहते हैं ऐसी दशा में उनके समस्त पाप और संसार में आने यानी जन्म लेने के कारण ऊपर कहे हुए ज्ञान से नाश होजाते हैं। वे इस चोले को त्याग कर फिर देह धारण नहीं करते, अर्थात् जन्म नहीं लेते। फिर जन्म न लेने से ही उनको सुख दुःख से छुटकारा मिल जाता है। क्योंकि जन्म मरण के साथ ही सुख दुःख का मेल है। आत्मा से सुख दुःख का कुछ भी सरोकार नहीं है।

अब यह सवाल पैदा होता है कि जिनके आत्मा के विषयका अज्ञान नाश होजाता है यानी जो आत्मा की असलियत को समझ जाते हैं। उन ज्ञानियों की समझ कैसी होजाती है। इस विषय में भगवान कहते हैं।

(मू०) विद्याविनयसम्पन्ने ब्रह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

[९१]

(भा०प०) विद्या विनय युत विप्र हस्ती, गाय, कुत्ते आदिपर।
रखते सदा समदृष्टि पण्डितजन सभी श्वपचादिपर १८
सम बुद्धि जिनकी होगई थिर चित्त जिनने है किया।
रहते हुए जग में जगत को जीत उनने है लिया १९

अर्थ—ज्ञानी लोग विद्या और नम्रतासे युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, तथा कुत्ते और चाण्डाल में समान भाव से देखते हैं ॥१८॥

जिनका मन समानता पर डटा हुआ है, अर्थात् जो सबको सम दृष्टि से देखते हैं उन्हों ने अपने जीते जी ही संसार जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म दोष रहित और समान है, इसी कारण से वे ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं ॥१९॥

भावार्थ—कारण यह है कि वे ब्राह्मण को जिसने अच्छी शिक्षा पाई है, जो संसकारों से शुद्ध है, और जिस में सतोगुण प्रधान है अपने आत्मा के समान समझते हैं, अथवा यों कहिये कि उसमें वे परमात्मा को देखते हैं, दूसरे दर्जेपर गायको, जो न तो संस्कारों से शुद्ध है और जिस में रजोगुण

की प्रधानता है अपने आत्मा के समान देखते हैं यानी उसमें भी परब्रह्म को देखते हैं; तीसरे दर्जे पर हाथी को लीजिये, जिसमें तमोगुण प्रधान है वे लोग हाथी को भी अपने आत्मा के समान देखते हैं यानी उस में भी एक परमात्मा को देखते हैं।

यद्यपि संसार दोषों से भरा हुआ और विषम है, किन्तु ब्रह्म निर्दोष और सम है। बस इसी कारण से वे ब्रह्म स्थिर रहते हैं, ब्रह्म में स्थित होने के कारण से ही उन्हों ने जगत जीतलिया है। जगत सदोष है और ब्रह्म निर्दोष है। निर्दोष ब्रह्म में रहकर ही ज्ञानी इसी देह से संसार को जीत लेते हैं।

और भी साफ़ करके यों कह सकते हैं, कि जिन ज्ञानियों की सब में एक परब्रह्म है, और जो समस्त प्राणियों में एक ब्रह्म मानते हैं, यानी सब प्राणियों के ब्रह्म को चाहे वह ब्राह्मण हो चाहे चाण्डाल, समान भाव से देखते हैं, किसी ब्राह्मण या स्वपचादि को पवित्र या अपवित्र, ऊंचा या नीचा नहीं समझते, वे जीवित दशा में ही जन्म लेने के झंझट से छुटकारा पाजाते हैं। जब इन्होंने जीते हुए ही दो भाव नहीं रक्खे, यानी जीते हुए ही सब प्राणियों को समान भाव समझ लिया तब वे शरीर छोड़ने पर क्यों दो भाव समझेंगे? क्योंकि परब्रह्म निर्दोष और सम है। वह जन्म मरण आदि विकारों से रहित अद्वितीय रूप है तथा सदा एकसा रहने वाला है; इसी से समदर्शी विद्वान उस अद्वितीय ब्रह्म में कुछ अन्तर न समझ कर निश्चल भाव से उस में स्थिर रहते हैं।

लेकिन मूर्ख अथवा अज्ञानी लोगों का विचार है कि कुत्ता और चाण्डाल आदि प्राणियों के अपवित्र शरीर में जो ब्रह्म है वह उनकी अपवित्रता से दूषित होजाता है लेकिन वास्तव में ब्रह्म तो निर्विकार है। उस में

उस चाण्डाल आदि की अपवित्रता से कुछ दोष नहीं लग सकता। ब्रह्म अनादि काल से है। वह आरम्भ से जैसा है सदा वैसाही रहता है। उस में कुछभी अन्तर नहीं पड़ता। भगवान ने जो इच्छा आदि के विषय में कहा है, उनका सम्बन्ध केवल शरीर से है। आत्मा से इच्छा आदि का कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने इसी गीता के १३ वें अध्याय के ३१ वें श्लोक में कहा है। यह परब्रह्म अनादि है, गुण रहित है, अविनाशी है, हे अर्जुन! यह शरीर में रहता हुआ भी न तो कुछ कर्म करता है और न कर्म फलों से दूषित है।

चीजों में अपवित्रता दो भांति की होती है, स्वभाव से ही जो चीजें पवित्र होती हैं वे अपवित्र चीजों के साथ मिलने से अपवित्र हो जाती हैं, जैसे "गङ्गाजल"। मतलब यह है कि गङ्गाजल पवित्र है; किन्तु एक मैले कुण्ड में डाल देने से अपवित्र हो जायगा। लेकिन कुछ चीजें स्वभाव से ही अपवित्र होती हैं जैसे "मैला कुण्ड" किन्तु ब्रह्म के विषय में यह बात नहीं है। मूर्खों का खयाल है कि कुत्ते और चाण्डाल वगैरः अपवित्र प्राणियों के संसर्ग से ब्रह्म भी अपवित्र होजाता है। परन्तु ब्रह्म के विषय में उनका ऐसा खयाल करना उनकी अज्ञानता है। ब्रह्म तो आकाश की भांति असंग है। उस असंग ब्रह्म को किसी प्रकार का दोष नहीं लग सकता।

(मू०) न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

[१२]

(भा०प०) हैं ब्रह्म सम निर्दोष, इससे ये पुरुष जाकर वहीं।
हैं ब्रह्म स्थित होते न जिनको विषमता लगती कहीं।

जो ब्रह्म-स्थित हैं ब्रह्मवेत्ता विषमता जिसमें नहीं ।
वह खिन्न अप्रिय पाय हर्षित पाय प्रिय होता नहीं २०

अर्थ—मोह हीन, सन्देह रहित ब्रह्म को जानने वाला और ब्रह्म में स्थित रहने वाला प्यारी चीज़ को पाकर खुश नहीं होता और अप्यारी अथवा बुरी चीज को पाकर रंज नहीं करता ॥२०॥

भावार्थ—कारण यह है कि जो पुरुष अच्छी वस्तु के मिलने से खुश नहीं होता और बुरी वस्तु के मिलने से दुखी नहीं होता, वही ब्रह्मज्ञानी है, और वही मोह रहित स्थिर बुद्धि वाला है ।

और भी साफ़ मतलब यह है कि चित्त को प्रसन्न करने वाली चीजें उसी पुरुष के चित्त को प्रसन्न और अप्रसन्न करती हैं जो शरीर को ही आत्मा समझता है किन्तु जो शरीर से आत्मा को जुदा समझता है उसे भली और बुरी चीजें सुख दुःख नहीं दे सकतीं जो सब के आत्मा को एक और एकसा तथा निर्दोष समझता है वह भ्रम रहित है । वह उपरोक्त विधि से ब्रह्म में स्थित रहता है । यानी वह कर्म करता है, उसने सारे कर्म छोड़ दिये हैं, यही कारण है कि ऐसे ज्ञानी को रंज और खुशी नहीं होती ।

(मू०) बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

[१३]

(मा०प०) रहता न जो आसक्त बाह्य पदार्थ के संयोग में।
वह ब्रह्मयोगी सुख उठाता अक्षय सुख के भोग में ॥२१॥
जो भोग मिलते इन्द्रियों के स्पर्श से वे रोग हैं।
कौन्तेय ? पण्डित जन कभी करते न उनका भोग हैं २२

अर्थ—जो अपनी बाह्य इन्द्रियाँ आँख, कान आदि को अपने अधीन कर के, इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस आदि में मोह नहीं रखते वे अपने अन्तः करण में शान्ति रूप सुख का अनुभव करते है, इस शान्ति से तृष्णा रहित होकर ब्रह्म में ध्यान लगाकर वे अक्षय सुख पाते हैं ।२१॥

क्यों कि इन्द्रियों के विषयों से जो सुख होते हैं, केवल दुःख के पैदा करनेवाले हैं। हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ? उन सुखों का आदि और अन्त है। इसी से ज्ञानी लोग विषयों में सुख नहीं समझते ॥२२॥

भावार्थ—जब कि मनुष्य का अन्तःकरण इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस आदि से प्रेम नहीं रखता और उन इन्द्रियों के विषय से दूषित नहीं होता तब उस के अन्तःकरण में सुख होता है, चित्त एक दम शान्त होजाता है। इस प्रकार की शान्ति होजाने के बाद, जब वह योग द्वारा समाधि लगाकर ब्रह्म के ध्यान में लवलीन होजाता है, तब उसे अक्षय सुख मिलता है। अतः जिसे आत्मा के अनन्त आनन्द की इच्छा हो वह क्षणिक सुख देनेवाले इन्द्रियों को विषयों से हटाले। और इस दूसरे कारण से भी मनुष्य को अपनी इन्द्रियां विषयों से रोक लेना चाहिये।

इन्द्रियों के संयोग और उनके विषयों से जो सुख मिलते हैं वे केवल दुःख के पैदा करने वाले हैं। वास्तव में, उनमें सुख नहीं है। अविद्या

अज्ञान से उनमें सुख जान पड़ते हैं । खूब छान बीन और खोज करने से मालूम होता है, कि जितने दुःख हमें इस काया में उठाने पड़ते हैं, । उन सब का कारण वही एक मात्र विषयों से उत्पन्न हुये सुख हैं । यह देख कर कि संसार में सुखका लेशभी नहीं है, ज्ञानी लोग अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से हटा लेते हैं । एक बात और भी है कि उन सुखों से दुःख नहीं होता बल्कि उनमें एक दोष और भी है । वह दोष यह है कि उनको आदि और अन्तभी है । यानी वह सुख पैदा और नाश होते हैं । इन्द्रियों के साथ विषयों का संयोग होनेसे सुख का आरम्भ होता है, और जब विषय और इन्द्रियों की जुदाई होजाती है तब सुख का अन्त होजाता है । जिस सुखका इस तरह आरम्भ और अन्त होता है वह क्षणस्थायी है । वह पुरुष जिसे विचार बुद्धि है, और जिसने आत्मा के तत्व को समझ लिया है, वह ऐसे चन्द रोजा- क्षणस्थायी- सुखों में सुख नहीं समझता । वे बिलकुल अज्ञानी पशुके तुल्य है जो इन्द्रियों के विषय भोगों में सुख समझते है ।

(मू०) शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखीनरः ॥२३॥
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधि गच्छति ॥२४॥

[१४]

(भा०प०) जो मृत्यु पल तक काम क्रोध कुवेग को सहता यहीं ।
होता वही है युक्त पाता सुख न जो मिलता कहीं २३

अन्तः सुखी जो आत्मरमणी आत्मज्योतिर्मय हुआ।
वह कर्म-योगी ब्रह्म हो निर्वाण-पद भागी हुआ।२४।

अर्थ—जो महा पुरुष जीते जी, शरीर छूटने के समय तक काम और क्रोध के वेगों को सह सकता है वही योगी और वही सुखी है ॥२३।

जिसे अपने आत्मा में ही प्रसन्नता है, जो अपने आत्मा में ही विहार करता है और जिसकी दृष्टि अपने आत्मा पर ही है वही योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म के निर्वाण पद को पाजाता है ॥२४॥

भावार्थ—मौत के समय तक की हद बांध कर भगवान उपदेश देते हैं कि काम और क्रोध का वेग जीवन में अनिवार्य या दुर्निवार्य्य है, क्योंकि काम और क्रोध के "कारण" अनगिन्ती है, उन के वेगों को मृत्यु के ठीक समय तक टालना चाहिये। काम का अर्थ 'इच्छा' है। दिल खुश करने वाली चीज़ की चाहना या इच्छा को "काम" कहते हैं। यह इच्छा हमें उस समय होती है, जब हमारी अनुभव की हुई प्यारी चीज़ हमारी इन्द्रियों के सामने आती है अथवा हम उनके विषय में सुनते या याद करते हैं। क्रोध अप्रिय चीज़ को घृणा करने को कहते हैं। जब कोई ऐसी चीज़ हमारे सामने आती है जो हमारे मनके अनुकूल नहीं है अथवा हमारी इन्द्रियां उसको पसन्द नहीं करती तब दुःख होता है। इसी तरह अप्रिय बात को सुनने या याद करने से दुःख होता है, उस दुःख से क्रोध होता है।

काम का वेग अन्तःकरण की उत्तेजना है। जिस समय यह वेग आता है तब मनुष्य के रोएँ खडे होजाते हैं और चहरे पर प्रसन्नता झलकने लगती है। क्रोध का वेग मनकी उत्तेजना है, क्रोध का वेग होने से मनुष्य का शरीर कांपने लगता है, पसीना आजाता है आंखें सुर्ख होजाती हैं

और वह होट काटने लगता है इत्यादि। वह मनुष्य जो काम और क्रोध के धक्के यानी वेग को सहलेता है यानी न तो किसी चीज़ की इच्छा रखता है और न कभी अप्रिय वस्तु के देखने आदि से दुःखी होकर क्रोध करता है वह मनुष्य योगी है और वही इसलोक में सुखी है।

बुरे भले इसलोक सम्बन्धी या परलोक सम्बन्धी सभी पदार्थों की कामना अनर्थों की जड़ है। कामना से क्रोध की पैदायश है। मनुष्य को चाहिये कि अपनी कामना और क्रोधके झटकों को सहे। उन्हें अपने सिरपर न आनेदे उन्हें सदा दबाता रहे। कुछदिन इसी तरह इन दोनों के दबाने का अभ्यास करने से ऐसी आदत पड़ जायगी कि फिर किसी चीज की न तो इच्छा ही होगी और न क्रोध ही आवेगा। अधिकारी पुरुष काम क्रोध के झटके सहने से ही मोक्ष नहीं पाजाता इसके सिवाय उसका कुछ और भी कर्त्तव्य है भगवान आगे बताते हैं।

काम क्रोध के त्यागने से मनुष्य को अखण्ड अन्तः सुख मिलता है तब वह अपने आत्मा में ही सुखी रहता है। जब वह अपने आत्मा में ही सुखी रहता है, तब उसे विषय भोगों से घृणा होजाती है। यानी विषयों के सुख को सुख नहीं समझता, इसी से वह अपनी आत्मा में ही विहार करता है और बाहरी पदार्थों में विहार नहीं करता। उसकी दृष्टि भीतर अपने आत्मा पर ही रहती है।

इसीसे उसकी नजर गाने बजाने वगैरः पर नहीं पड़ती। इस तरह अपने आत्मा में ही सुख मानता हुआ, उस में विहार करताहुआ उसीपर नजर रखता हुआ महात्मा ब्रह्ममें लौलीन होकर ब्रह्म के निर्वाण पद यानी मोक्ष को पाजाता है।

(मू०) लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण मृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूत हिते रताः ॥२५॥

[१५]

(भा०प०) ऋषि मोक्ष पाते हैं वही भ्रम पाप जिनके नष्ट हैं।
जो हों न इन्द्रिय वश, नहीं देते किसी को कष्ट हैं॥
करते सदा सब प्राणियों का ये महा कल्याण हैं।
पाते सहज वे देव दुर्लभ विमल पद निर्वाण हैं॥२५॥

अर्थ—जिनके पाप नाश होगये हैं, जिनके सन्देह छिन्न भिन्न होगये हैं, जिन्हों ने अपने अन्तःकरण को जीत लिया है, जो सब जीवों की भलाई चाहते हैं वे ऋषि ब्रह्म निर्वाण को पाते हैं ॥२५।

भावार्थ—जिन्हों ने शुद्ध ज्ञान प्राप्त करलियाहै, जिन्हो ने सब कर्म्म त्यागदिये हैं, ऐसे ऋषि लोग सारे पापोंके नाश होजानेपर, उनके सारे सन्देहों की निवृत्ति होजानेपर, आत्मा के वशीभूत होनेपर, सारे प्राणियों की भलाई चाहतेहुए, किसी की बुराई न करतेहुए ब्रह्म निर्वाण मोक्ष पाजाताहै।

(मू०) काम क्रोध वियुक्तानां यतीनांयत चेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ ॥२७॥

[१६]

(भा०प०) है काम क्रोध विहीन जो, है आत्मज्ञान जिसे हुआ।
समझो सदा सर्वत्रही वह मोक्ष पद भागी हुआ ॥२६॥

तज वासनायें उभय भौंके मध्य आँख रोक कर।
सम नासिका से चलित प्राण अपानकी गति रोककर २७

अर्थ—जो काम और क्रोध को पास नहीं आने देते, जिन्होंने अपने मन या अन्तःकरण को अपने आधीन करलिया है, और जो आत्मा को पहचान गये हैं, उनके लिये सब जगह ब्रह्म निर्वाण मौजूद है ॥२६॥

इन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध आदि बाहरी विषयों को बाहर करके, नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में ठहराकर, प्राण अपान वायु को समान करके ॥२७॥

भावार्थ—जिन्होंने समस्त कर्म त्याग दिये हैं, जिन्होंने शुद्ध ज्ञान प्राप्त करलिया है उनके लिये जीते हुए या मरकर हर हालत में मोक्ष रूपी परमानन्द ही परमानन्द है। क्योंकि ध्यान योग से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है।

यह पहले कहा गया है कि जो तमाम कर्मों को छोड़ कर शुद्ध ज्ञान में स्थिर चित्त होते हैं उन्हें शीघ्र ही मोक्ष मिलती है।

यहभी कहा गया है कि कर्म-योग जो ईश्वर में भक्ति रख कर किया जाता है और जो उसी के अर्पण कर दिया जाता है, उस से क्रमशः मोक्ष मिल जाती है। पहले अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब ज्ञान होता है, पुनः कर्मों का संन्यास होता है, और अन्त में मोक्ष मिलती है। अब भगवान ध्यान-योग की कुछ विधि संक्षेप से उदाहरण की भांति आगे के दो श्लोकों में कहते हैं क्योंकि ध्यानयोग शुद्ध ज्ञान निकट तम उपाय है ध्यान-योग का विस्तार पूर्वक वर्णन छठे अध्याय में किया जायगा।

शब्द, रूप, रस आदि इन्द्रियों के विषय हैं। ये विषय बाहरी हैं। ये अपनी अपनी इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण में घुसते हैं, जैसे शब्द या आवाज़ कान के द्वारा भीतर जाती है और रूप आंख के द्वारा अन्तःकरण में पहुंचता है जब मनुष्य इन विषयों की ओर ध्यान नहीं देता, इनका खयाल नहीं करता, तब यह विषय बाहर ही रहते हैं, भीतर नहीं घुस सकते।

नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंओं के बीच में रखने की बात इसलिये कही गयी है कि आंखों के बहुत खुले रहने से रूप आदि बाहरी विषयों पर मन चलता है और बन्द करलेने से नींद आजाने का भय रहता है इसलिये आंखें न बहुत खोलने और न बहुत बन्द करने की बात कही गयी है।

प्राण और अपान वायु को समान करने से यह मतलब है कि बाहर निकलने वाले सांस और भीतर जाने वाले सांस को जो नाक के भीतर आते जाते हैं समान कर के कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये।

(मू०) यतेन्द्रिय मनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्ष परायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम् ।
सुहृदं सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति॥२६॥

[१७]

(भा०प०) मन बुद्धि इन्द्रिय जीत जो भय क्रोध इच्छा मुक्त है।
यों मोक्ष पथ पर आगया फिर वह सदाही मुक्त है २८

तप यज्ञ का भोक्ता सुहृद सब का मुझे ही जान कर।
वह शान्ति करता प्राप्त है मुझको महेश्वर मान कर २६

अर्थ--मन, बुद्धि और इन्द्रियों को वश में कर के मोक्ष को परम आश्रय समझने वाला और काम, भय तथा क्रोध से दूर रहने वाला ऋषि निश्चय ही मुक्त होजाता है ॥२८॥

सब यज्ञ और तपों के स्वामी, सब लोकों के परमेश्वर सब प्राणियों के मित्र "मुझे" जान लेने से शान्ति मिलती है ॥२६॥

भावार्थ—मतलब यह है कि इन्द्रियों के बाहरी विषयों को बाहर रख कर दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में ठहरा कर और प्राण अपान वायुओं को समान रख कर कुम्भक प्राणायाम करने वाला मोक्ष को परम आश्रय समझ कर उस में चित्त रखे। जो मुनि सब कर्म त्याग कर इस दशा में शरीर को रखता है और जीवन भर इसी तरह का साधन रखता है वह निस्सन्देह मोक्ष पा जाता है।

कुम्भक करने की विधि किसी सिद्ध योगी से सीखनी चाहिये। किताबी ज्ञान से ऐसे विषय आ नहीं सकते। जो मनुष्य ऊपर वर्णन की हुई रीति से शरीर साध कर प्राणायाम करता है, उसे ध्यान योग में किस के जानने या ध्यान करने की आवश्यकता है। वही भगवान आगे बताते हैं—

मैं नारायण हूं, मैं ही सारे यज्ञ और तपों का कर्त्ता और भोक्ता हूं, मैं सब जीवों का मित्र हूं, मैं सब जीवों के साथ भलाई करता हूं, और बदले में कुछ नहीं चाहता। सब प्राणियों के अन्दर मैं ही हूं, मैं ही सब

कर्म-फलों का देने वाला हूं। मुझे जान लेने पर उसे शान्ति मिलती है यानी संसार में आना और यहां से जाना (जनम-मरण) बन्द होजाता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ-तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे कर्म संन्यास योगो नाम पञ्चमोऽध्याय।

षष्ठोऽध्यायः ।

श्री भगवानुवाच ।

(मू०) अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

[१]

(भा०प०) जो कर्म-फल की आश तजि कर्त्तव्य-पथ पर दृढ़ रहैं ।
योगी सुसंन्यासी वही है कर्म जो करते रहैं ॥
तजि अग्नि-होम सुकर्म जो करते न कुछ भी कर्म हैं ।
वे जानते नहिं योग या संन्यास के ही मर्म हैं ॥१॥

अर्थ—जो पुरुष कर्म फलों की इच्छा त्याग कर अपने करने लायक कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है, न कि वह जो अग्नि-होत्र और अपने कर्त्तव्य कर्म नहीं करता ॥१॥

भावार्थ—संसार में दो प्रकार के काम करने वाले हैं। एक तो वह जो अपने किये हुए कामों का फल चाहते हैं। और एक वह जो अपने

किये हुए कामों का फल नहीं चाहते। इस जगह उस पुरुष से मतलब है जो अपने नित्य कर्म तो करता है किन्तु कर्म करने के फल की चाहना अपने मन में नहीं रखता।

वह पुरुष जो अपने किये हुए कर्मों के फलों की इच्छा त्याग कर अग्नि-होत्र हवन आदि नित्य कर्म करता है यानी अपने कर्मों के फल-स्वरूप स्वर्ग, स्त्री, पुत्र, राजपाट आदि कुछभी नहीं चाहता उस पुरुष से बहुत ऊंचा है, जो अग्नि-होत्र आदि नित्य कर्म करके उनके फल स्त्री, पुत्र आदि की चाहना रखता है। इस सत्य पर जोर डालने के लिये ही भगवान कहते हैं, कि वह पुरुष जो कर्म फलों की इच्छा छोड़ कर नित्य कर्त्तव्य कर्म करता है, संन्यासी और योगी है। उस पुरुष में त्याग (संन्यास) और चित्त की दृढ़ता (योग) दोनों गुण समझने चाहिये। केवल उसी को योगी और सन्यासी न समझना चाहिये, जो न अग्नि-होत्र करता है न तपस्या आदि अन्यान्य कर्म करता है।

(शंका श्रुति, स्मृति और योगशास्त्र में साफ लिखा है कि संन्यासी अथवा योगी वह है। जो न तो अग्नि-होत्र के लिये आग जलाता है और न यज्ञ हवन आदि कर्म करता है। फिर क्या वजह है कि भगवान यहां अद्भुत उपदेश देते हैं, कि जो अग्नि जलाता है और कर्म करता है वह सन्यासी और योगी है?

(उत्तर) यह कोई भूल या गलती नहीं है। संन्यासी और योगी ये दोनों शब्द अप्रधान अर्थ में इस्तेमाल हुए हैं। वह पुरुष संन्यासी तो इस लिये समझा गया है कि वह कामों के फलको भी त्याग देता है और योगी इसलिये समझा गया है कि वह योग प्राप्ति के लिये कर्म करता है। क्योंकि

कि कर्म फलों का खयाल न छोड़ देने से चित्त में स्थिरता नहीं आती। इस का आशय यह नहीं है कि वह वास्तव में संन्यासी और योगी है।

और भी साफ़ यों समझो कि जो पुरुष केवल आग को नहीं छूता अथवा कोई काम नहीं करता वह संन्यासी नहीं हो सकता। केवल इन कर्मों के छोड़ देने से लाभ नहीं है असल में वही सच्चा संन्यासी है जो कर्म और कर्म-फलों को त्याग देता है। भगवान इस उलझन को आगे साफ़ करते हैं।

(मू०) यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

[२]

(आ०प०) पाण्डव ! जिसे संन्यास कहते हैं वही है योग भी।
संकल्प के संन्यास बिन क्या योग होता है कभी ॥२॥
जो योग पद आसीन होना चाहते उनके लिये।
है कर्म कारण शमन का शम पूर्ण योगी के लिये ॥३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जिसे संन्यास कहते हैं, उसे ही योग कहते हैं। जिसने संकल्पों को नहीं त्यागा है, वह ठीक योगी नहीं ॥२॥

जो मुनि योगारूढ़ होना चाहता है, उसे योग प्राप्ति के लिये नित्य कर्म करने चाहिये। उसी मुनि को जब योगारूढ़ हो जाय, ध्यान योग की प्राप्ति के लिये शम रूप संन्यास का साधन करना चाहिये।

भावार्थ—हे अर्जुन ! जिसे श्रुति, स्मृतियों में संन्यास कहाहै वहीं योगहै । क्यों कि योग में भी संकल्प इच्छाओं का त्यागना होताहै और संन्यास में भी ।

(प्रश्न) योग कर्म करने को कहते हैं और संन्यास कर्म छोड़ने को कहते हैं इसकी समानता किस अंश में पाई जाती है ।

(उत्तर) संन्यास और कर्म योग में किसी कदर समानता है । संन्यासी उसे कहते हैं जो समस्त कर्म तथा कर्म फलोंके सम्बन्ध के संकल्प (जिससे कर्म करने की इच्छा होती है) को छोड़ देता है । कर्म योगी भी कर्म करताहै, किन्तु कर्म फलों की इच्छा छोड़देता है । कोई भी कर्म करने वाला जबतक वह अपने कर्मों के फल की इच्छा नहीं त्यागता योगीनहीं होसकता मतलब यह है कि कर्म फल की इच्छा योगी और सन्यासी दोनोंको छोड़नी पड़ती है ।

जब मनुष्य कर्म फलों की इच्छा त्यागदेता है । तभी वह कर्म योगी की पदवी को पहुंचता है । अगर कोई मनुष्य बिना कर्म फल त्यागेही कर्मों को छोड़दे यानी सन्यासी होजाय तो वह वास्तव में सन्यासीनहीं है । निष्काम कर्मयोग ही संन्यास का द्वार है । जो मनुष्य कर्म योग में पक्के नहीं होते, बिना कर्म फलों का त्याग किये हुए संन्यासी होजाते हैं यानी सारे काम छोड़ देते हैं, वे किसी काम के नहीं रहते । उनके ऊपर 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का' वाली कहावत बहुत ही ठीक चरितार्थ होती है ।

ऊपर भगवान ने संन्यास और कर्म योग की समानता बतायी है । क्योंकि संन्यास और कर्म योग दोनों में ही कर्म फलों का संकल्प त्यागना

होता है। इस छठे अध्याय के दूसरे श्लोक में भगवान ने कर्म योग को संन्यास के समान कह कर कर्म योग की प्रशंसा इस कारण से की है। कि कर्म योग जो कर्म फलों की इच्छा त्याग कर किया जाता है, साधक को क्रमशः योग के लायक कर देता है। अब भगवान आगे यह दिखाते हैं कि किस तरह कर्म योग से ध्यान योग के लायक होता है अथवा कर्म योग ध्यान योग की सीढ़ी है।

जब पुरुष कर्म फल की इच्छा त्याग कर कर्म करता है। तब उसका अन्तःकरण धीरे धीरे शुद्ध होजाता है उस समय उसे योगारूढ़ कहते हैं।

जो पुरुष कर्म फल त्याग देता है और जो योगारूढ़ होना चाहता है यानी अपने अन्तःकरण को शुद्ध और दृढ़ बनाना चाहता है उसे योगारूढ होने के लिये निष्काम कर्म करने चाहिये। जब उसे सब विषयों से वैराग्य होजाय उस का अन्तःकरण शुद्ध होजाय तब उसे किसी प्रकार के कर्म न करने चाहिये। मतलब यह है कि जबतक अन्तःकरण शुद्ध न होजाय तबतक उसे कर्म करने चाहिये, अन्तःकरण के शुद्ध होने पर कर्म करने की आवश्यकता नहीं। उस हालत में (संन्यास) कर्मों का त्याग ही अच्छा है क्योंकि संन्यास के जरिये से ही वह ध्यान योग में लग सकेगा।

(मू०) यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

[३]

(भा०प०) जो इन्द्रियों के विषय-भोगों में न भोगासक्त हो।
जो तनिक भी रहता नहीं है कर्म में आसक्त हो ॥

करके सकल संकल्प का संन्यास जो निष्काम हो ।
बस योग-पद पर वह प्रतिष्ठित होगया ऐसा कहो ४

अर्थ—जब मनुष्य, सारे संकल्पों को छोड़ कर, इन्द्रियों के विषयों और कर्मों को त्याग देता है, तब उसे योगारूढ़ कहते हैं ॥४॥

भावार्थ—जब योगी दृढ़ चित्त होकर इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस आदि में दिल नहीं लगता, और नित्य, नैमित्तिक काम्य, अथवा प्रतिसिद्ध कर्म को व्यर्थ समझ कर, करने का ध्यान नहीं करता, और जब उसे इस लोक और परलोक सम्बन्धी इच्छाओं के पैदा करने वाले संकल्पों के छोड देने का अभ्यास होजाता है तब उसे योगारूढ़ कहते हैं ।

(मू०) उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

[४]

(आ०प०) उद्धार करले आप, दे गिरने न अपने आप को ।
रिपु मित्र अपना जान ले वह आप अपने आपको ५
जो आत्म विजयी होगया वह आप अपना मित्र है ।
जिसने विजय पाई नहीं अपना महान अमित्र है ।६।

अर्थ—मनुष्य को चाहिये कि अपने आत्मा को ऊंचा चढावे, उसे नीचा न गिरावे, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ॥५॥

जिसने अपने आत्मा को आत्मा से जीत लिया है, उसके लिये उसका आत्माही उस का मित्र है, किन्तु जिसने अपने आत्मा को आत्मा से नहीं जीता है उसके लिये उसका आत्मा ही (बाहरी) दुश्मन की तरह दुश्मन है ॥६॥

भावार्थ—कारण यह है कि जीवात्मा संसार के झंझटों में फंसा हुआ है। ज्ञानी को चाहिये कि अपने आत्मा को संसार के झंझटों से निकाले। विषयों से किनारा खींचे, क्योंकि आत्मा को संसारी झंझटों से निकालने से आत्मा द्वारा, उसकी मुक्ति होजायगी। वह अपने आत्मा को संसारी झंझटों में न फंसा रहनेदे, क्योंकि झंझटों में फसे रहने से उसको संसारी बन्धनों में भी फंसना पडेगा। आत्मा से ही आत्मा की मुक्ति होती है और आत्मा से ही आत्मा को बन्धन में फंसना पड़ता है। इसी से भगवान ने आत्मा को ही एकमात्र मित्र और शत्रु ठहराया है। आत्मा के सिवाय इस जगत में प्राणी का न कोई शत्रु है और न कोई मित्र, यदि मनुष्य का आत्मा विवेक बुद्धि सहित और राग-द्वेष, मत्सर, ईर्षा आदि से रहित हो तो वह मोक्ष दिलाता है और यदि वही आत्मा विवेक बुद्धि रहित और राग, द्वेष आदि से युक्त हो तो बन्धन में फसाता है। जिस आत्मा द्वारा आत्मा को मोक्ष मिले वही आत्मा मित्र है, और जिस आत्मा द्वारा आत्मा बन्धन में फसे वही आत्मा शत्रु है।

नतीजा यह निकला कि मनुष्य को योगारूढ होने के लिये अपने आत्मा को ऊंचा चढाना चाहिये यानी उसे विषयों से मुक्त करना चाहिये। क्योंकि यदि वह शुद्ध हो जायगा तो परम पद मोक्ष तक पहुंचा कर अपना मिजि;कासा काम पूरा कर सकेगा। अगर मनुष्य अपने आत्मा को नीचा गिरावेगा उसे विषय वासनाओं में फंसा रहने देगा तब वही नीचे गिरा

हुआ आत्मा उस की मोक्ष न होने देगा और उसे संसार के बन्धनों में फंसावेगा। भगवान आगे और भी साफ करके बताते हैं कि—

जिसने अपने शरीर इन्द्रिय प्राण और अन्तःकरण को अपने वश में करलिया है उस के लिये उसका आत्मा ही मित्र है। किन्तु जिसने अपने शरीर इन्द्रिय प्राण और अन्तःकरण को वश में नहीं किया है, उस के लिये उसका आत्माही अन्यान्य बाहरी शत्रुओं की तरह हानि पहुंचाता है।

(मू०) जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानपमानयोः ॥७॥

[५]

(आ०प०) जो आत्म विजयी हैं तथा रस शान्ति करते पान हैं।
उनके लिये अन्तर नहीं सम मान अरु अपमान हैं॥
सम भाव परमात्मा सदा उनका विचरता एकसा ।
हो शीत अथवा धूप होवे दुःख या सुख ढेरसा ॥७॥

अर्थ—जिसने अपने आत्मा को जीत लिया है, और जो शान्त है, उसका परम आत्मा सर्दी गर्मी, सुख दुःख और मान अपमान में समान (अटल) रहता है ॥७॥

भावार्थ—जिसने अपने अन्तःकरण को वश में करलिया है, और जो शान्त है वह सुख दुःख, गरमी सरदी और मान अपमान सबको समान समझता है यानी उसे किसी हालत में सुख दुःख नहीं जान पडता। ऐसे निर्द्वन्द्व आत्मा का ही 'परमात्मा' समाधि का विषय होता है।

(मू०) ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

[६]

(भा०प०) हो तृप्त आत्मा ज्ञान अरु विज्ञानसे जिसकी सदा ।
जो हो जितेन्द्रिय तत्व को पहचानता हो सर्वदा ॥
रज स्वर्ण पत्थर में न जिसको भिन्नता है दीखती ।
कहते उसे ही सिद्ध युक्त वही महा योगी यती ॥८॥

अर्थ—जिसका आत्मा ज्ञान विज्ञान से सन्तुष्ट है, जिसका मन चलायमान नहीं है, जिसने इन्द्रियों को वश कर लिया है; उसे युक्त योगी कहते हैं, क्योंकि उसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना समान है ॥८॥

भावार्थ—जो विषय गुरु या शास्त्र से जाना जाय उसे ज्ञान या 'परोक्ष' ज्ञान कहते हैं, उसी विषय को जब मनुष्य युक्ति और शंकाओं से साफ करके अनुभव करता है तब उसे विज्ञान अथवा "अपरोक्ष" ज्ञान कहते हैं ।

(मू०) सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

[७]

(भा०प०) द्वेषी सुहृद् रिपु मित्र वैरागी तथा पापी सभी ।
मध्यस्थ बान्धव साधु दुष्ट समान जब दीखें सभी ॥
सब प्रति हुई सम दृष्टि जिसकी, हृदय भेद न शेष है ।
समझो उसे ही सिद्ध उसकी योग्यता सविशेष है ।९।

अर्थ—जो मनुष्य सुहृद, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी बन्धु, साधु और असाधु को एक नज़र से देखते हैं। यानी सबको एकसा समझते हैं वही योगियों में श्रेष्ठ है ॥९॥

भावार्थ—जिस में ममता और स्नेह न हो और जो बिना प्रत्युपकार की आशा के उपकार करे, उसे सुहृद कहते हैं। स्नेह के वश होकर जो भलाई करता है, उसे मित्र कहते हैं। जो सामने अच्छा और पीठ पीछे बुरा चाहे और वैसा ही करे उसे शत्रु कहते हैं। जो दो के झगडे में किसी का भी पक्ष न ले अथवा किसी की भी बुराई या भलाई न चाहे उसे उदासीन कहते हैं। जो दो आदमियों के झगडे में यथार्थ कहे यानी दोनों का भला चाहे उसे मध्यस्थ कहते हैं। दूसरे का भला देख कर जो कुढ़े उसे द्वेषी कहते हैं। जो शास्त्र की आज्ञानुसार चले उसे साधु कहते हैं। और जो शास्त्र में मना किये हुए भी कर्म करता है उसे असाधु कहते हैं।

(मू०) योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

[८]

(भा०प०) एकान्त में रहकर अकेला मोह माया छोड कार ।
स्वाधीन करके चित्त को मुंह वासना से मोड़ कर ॥
सब योगियों को नियम युत जीवन बिताना चाहिये।
तज कामनायें सकल योगाभ्यास करना चाहिये ॥१०॥

अर्थ—हे अर्जुन ? योगारूढ पुरुष को चाहिये, कि एकान्त स्थान में अकेले रह कर, अन्तःकरण और शरीर को वश में रख कर, किसी प्रकार की इच्छा न रख कर, कोई चीज अपने पास न रख कर, अन्तःकरण को निरन्तर समाधान करे। यानी समाधि लगावे ॥१०॥

भावार्थ—सारांश यह है कि योगी पुरुष को योगाभ्यास करने या समाधि लगाने के लिये किसी एकान्त स्थान में रहना चाहिये। जहां मनुष्यों का आना जाना रहता, अथवा भयानक जानवरों का वास हो, वहां न रहना चाहिये। इस काम के लिये पर्वत की गुफाएँ अच्छी हैं। अगर किसी पर्वत गुफा में भी रहे तो अकेला ही रहे अपने साथ एक दो चार आदमी न रखे न वह किसी को आनेदे और न चेले चेली ही बुलावे। एकान्त स्थान में अकेले रहकर, किसी भी पदार्थ की चाहना न करे। सारांश यह है कि उसे घर द्वार स्त्री पुत्र धन और राज पाट आदि सबसे मुंह मोड़कर पूरा संन्यास लेलेना चाहिये।

आगे चलकर योगाभ्यासी के लिये भगवान बैठने खाने और विश्राम आदि करने के नियम जिनसे कि योग में सहायता मिलती है बताते हैं। साथ ही योगारूढ़ के विशेष चिन्ह योग के गुण और उसके सम्बन्ध की दूसरी बातें बतावेंगे; सबसे पहले वह बैठने वाली आसन जमाने का एक मुख्य नियम बताते हैं।

(मू०) शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

[६]

(भा०प०) जो भूमि समतल शुद्ध हो उसपर कुशासन डालकर।
मृगचर्म से ढककर उसे पुनि वस्त्र उसपर डालकर ॥
आसन लगावे सुदृढ़ सुस्थिर तनिक चञ्चल हो नहीं।
आसन न हो अति ऊंच या अति नीच भी होवे नहीं १२।

अर्थ—साफ़ ज़मीनपर निश्चल आसन जमावे, जमीन न तो अत्यन्त ऊंची हो और न अत्यन्त नीची हो, उसके ऊपर कुशा बिछावे कुशा पर मृग चर्म बिछावे, और मृग चर्म पर कपड़ा बिछावे ॥११॥

भावार्थ—योगाभ्यासी को पहले बैठने की जगह ऐसी ढूंढ़नी चाहिये जो साफ़ हो तथा ऊंची नींची नहो। यदि कोई जगह स्वभाव से साफ़ न मिले तो वह मिट्टी आदि से लीप कर साफ़ करलेनी चाहिये। तख़्त आदि पर बैठकर योगाभ्यास नहीं बनता, क्योंकि लकड़ी की बनी चीज़ के हिलने का खटका रहताहै, किन्तु ज़मीनपर कोई खटका नहीं रहता। ऊंची जगह पर बैठने से ध्यान मग्न योगी के गिरने का भय रहता है और नीची ज़मीन पर बैठने पर ऊपर से कोई पदार्थ मिट्टी पत्थर आदि गिरने का भय रहताहै। इसी से अत्यन्त ऊंची नीची ज़मीन अच्छी नहीं समझी गयीहै, मतलब यह है कि आसन ऐसी जगह लगावे जहां कोई कष्ट नहो। पुनः आसन जमाकर क्या करना चाहिये इस पर भगवान् कहतेहैं:—

(मू०) तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

[१०]

(भा०प०) मनचित्त चञ्चल इन्द्रियों को रोककर सारी क्रिया।
करतारहे नित आत्म शुद्धि निमित्त यों योगक्रिया १२

सीधे अचल शिरग्रीव और शरीर हो चञ्चल नहीं।
हो दृष्टि केवल नाककी ही नोकपर आस्थिर नहीं॥१३॥

अर्थ—योगी उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों के कामों को रोक कर चित्त को एकाग्रह करके अन्तः करण की शुद्धी के लिये योग का अभ्यास करे॥१२॥

पुनः शरीर सिर और गर्दन को स्थिर करके सीधा रखे अपनी नाकके अगले भागपर दृष्टि रखे और इधर उधर न देखे॥१३॥

भावार्थ—चित्त का स्वभाव है कि वह अगली पिछली बातों को याद करता है। इन्द्रियों का स्वभाव है कि वे अपने अपने विषयों की ओर झुकती हैं। कान आवाज होने से उसे सुनना चाहता है, आखें नई चीज देखना चाहती हैं, इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषय की ओर झुकती हैं। अतः योगाभ्यासी के लिये अपने चित्त को तथा अपनी इन्द्रियों को उनके कर्मों से हटाकर अपने अधीन कर लेना चाहिये बिना चित्त के एक ओर हुए बिना इन्द्रियों को उनके कर्मों से रोके योगाभ्यास नहीं होसकता।

यहांतक भगवान ने आसन की विधि कही, अब वह यह बतावेंगे कि शरीर को किस ढंग से रखना चाहिये।

योगाभ्यासी पुरुष अपने सिर धड़ और गर्दन को सीधा रखे, इन्हें सीधा रखने से दाहिने बांये किसी तरफ नजर न जायगी, लेकिन सीधा रखा हुआ शरीर हिल सकता है, इसलिये भगवान ने उसे स्थिर अचल रखने को कहा है। शरीर तथा सिर और गर्दन को टेढा रखने तथा उन के हिलते रहने से ध्यान नहीं जम सकता, इसलिये उन्हें सीधा और अचल

रखना चाहिये। और नाक के अगले भाग पर दृष्टि रखे यानी नाक के अगले सिरे को आंख से देखता रहे। इसका यह मतलब नहीं है कि नांक के अगले भाग को ही देखता रहे, भगवान का यह मतलब है कि दृष्टि को आत्मा में लगावे और उसे बाहरी पदार्थों के देखने से रोके, क्योंकि नांक पर दृष्टि रखने से समाधि न लगेगी। वहां नजर रखने से मन नांक के अगले भाग पर ही लगा रहेगा। आत्मा में नहीं लगेगा। नांक के अगले भाग पर नजर रखने से कुछ भी लाभ न होगा। मतलब तो चित्त का आत्मा में लगाने से है। नांक के अगले भाग पर दृष्टि लगाने से केवल यही मतलब है कि योगी किसी ओर न देखे एक चित्त हो जावे और आत्मा में ध्यान लगावे। शरीर को सीधा रखने और अचल रखने और नांक के अगले भाग देखने की बात केवल इसलिये कही गयी है कि समाधि लगाने वाला शरीर को हिलावे नहीं और न किसी ओर को देखे यहांतक कि अपने शरीर को भी न देखें। अगर किसी ओर से भयानक शब्द हो या कोई जीव जन्तु काटे तो भी उसका ध्यान न छूटे। असल मतलब यह है कि चित्त को सब ओर से हटाकर उसे एकदम आत्मा में लगा देना चाहिये। यही बात भगवान ने इसी अध्याय के २५ वें मन्त्र में कही है। अब साफ तौर पर साबित होगया कि नांक के अगले भाग पर दृष्टि रखने का मुख्यतः कारण आत्मा पर दृष्टि रखने का है। और भी कहा है—

(मू०) प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

[११]

(भा०प०) हो शान्त निर्भय ध्यान मेरा, नित्यशः करता हुआ।
हो मत्परायण, ब्रह्मचर्य, महान व्रत रखता हुआ॥

मन पर विजय कर प्राणयोगाभ्यास जो करता रहे।
होता वही है युक्त मेरा ध्यान जो करता रहे ॥१४॥

अर्थ--मनको शान्त करके, निर्भय होकर ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर, मनको वश में करके मुझ में चित्त लगाकर, मुझे सर्वोत्कृष्ट या अपना पुरुषार्थ समझता हुआ आसन पर बैठे ॥१४॥

भावार्थ—राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि से मन को शान्ति करके शङ्का या आपत्तियों से मन को निर्भय करके गुरुकी सेवा टहल करता हुआ और मांगकर खाता हुआ मनको विषय भोगों से छुड़ाकर मुझ परमानन्द स्वरूप परमेश्वर में ध्यान लगा कर योगाभ्यास करे। उसे हमेशा मुझ परमेश्वर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। उसे चाहिये कि वह मुझे सर्वोत्कृष्ट अथवा परम आराध्य रूप समझे। स्त्री प्रेमी सदा स्त्री का ध्यान रख सकता है, किन्तु वह उसे परम आराध्य नहीं समझता। वह अपने राजा को या महादेव आदि अन्य देवों को परम आराध्य समझ सकता है। किन्तु योगी इस के विपरीत हमेशा मेरा ध्यान करता है और मुझे ही वह परमात्मा समझता है।

आगे भगवान योग का फल बताते हैं—

(मू०) युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियत मानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधि गच्छति ॥१५॥

[१२]

(भा०प०) मन हो स्ववश अरु क्रम रहे यदि योग का जारी सदा।
तो प्राप्ति होवे शान्ति जो मुझ में विचरती सर्वदा॥

निर्वाण प्रद सुख शान्ति रस का स्वाद पाता है वही।
उपरोक्त विधि से नित्य योगाभ्यास जो करता सही १५

अर्थ—मनको वश में रख कर जो योगी पहले कही हुई रीति से योगाभ्यास करता है, वह मुझ में रहने वाली शान्ति को पाता है, यानी उस की मोक्ष होजाती है ॥१५॥

आगे भगवान भोजन आदि के नियम बताते हैं—

(मू०) नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्न शीलस्य जाग्रतो नैवचार्जुन ॥१६॥

(१३)

(आ०प०) जो अत्यधिक खाते सदा या कुछ नहीं खाते कभी।
सोते बहुत ही अधिक जो या हैं नहीं सोते कभी॥
उनके लिये यह योग होता दुःख दायी रोग है।
साधन न हो सकता कभी उनसे कठिन यह योग है १६

अर्थ—हे अर्जुन! जो बहुत खाता है, अथवा जो बिलकुल ही नहीं खाता जो बहुत सोता है तथा बराबर जागता रहता है, उसे योग सिद्ध नहीं होता ॥१६॥

भावार्थ—जो आवश्यकता से अधिक या शास्त्र के नियम, विरुद्ध अनाप शनाप नाक तक ठूस लेता है उसे योग सिद्ध नहीं होता। जो बिलकुल ही नहीं खाता यानी निराहार रहता है उसे भी योग सिद्ध नहीं होता। और जो आवश्यकता से जियादा सोता है उसे भी योग सिद्ध नहीं होता और जो सोता ही नहीं किन्तु जागता ही रहे उसे भी योग सिद्ध नहीं होता।

"शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है" कि जो भोजन जिस के अनुकूल है वही उसकी रक्षा करता है, उससे हानि नहीं पहुंचती। बहुत भोजन हानि करता है और कम भोजन भी रक्षा नहीं करता, अतः योगी को जरूरत से न तो अधिक खाना चाहिये और न कम। योगी को चाहिये कि आधा पेट भोजन करे एक चौथाई हवा के घूमने को खाली रखे।

(मू०) युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

[१४]

(भा०प०) जो नियम से आहार और विहार करते सर्वदा ।
जो जागते सोते नियम से कर्म सब करते सदा ॥
वे यदि करें अभ्यास तो सब दुःख उनके दूर हों ।
हों योग युक्त स्वभाव से भव रोग सारे चूर हों ॥१७॥

अर्थ—जो मनुष्य नियमानुसार आहार विहार करता है, नियमानुसार कर्म करता है, नियमानुसार ही जागता और सोता है, उसका योग उसके दुःखों का नाश कर देता है ॥१७॥

भावार्थ—योगी को चाहिये कि शास्त्र के नियमानुसार इतना खाये जिस से रोग न हो और शरीर ठीक बना रहे। जो लोग अधिक खा लेते हैं, उन्हें अजीर्ण आदि ज्वर होजाते हैं। रोगी शरीर में योग साधन हो नहीं सकता, इसी भांति जो कम खाते हैं या निराहार रहजाते हैं उनकी अग्नि उनकी धातुओं को जला देती है, इससे वे निर्बल और निस्तेज हो जाते हैं पुनः वे योगाभ्यास नहीं कर सकते। इसी तरह बहुत चलना भी न चाहिये। शास्त्र में एक योजन यानी ४ कोस से अधिक चलना ठीक नहीं

कहा है। इसी भांति रात को ४ घन्टे सोना चाहिये और बाकी समय जागना चाहिये। बिलकुल न सोने से काया कायम नहीं रह सकती और बहुत सोने से योग साधन में रुकावट पड़ती है। सारांश यह है कि योगी को खाना, पीना, चलना, फिरना, जप आदि करना और सोना, जागना, नियम या प्रमाण से करना चाहिये, नियम पूर्वक खाने, पीने, सोने, जागने आदि से शरीर ठीक रहता है, और योगाभ्यास में विघ्न नहीं होता। योगाभ्यास के बराबर चले जाने से अविद्या नाश होकर ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म विद्या से अविद्या सहित सारे दुःख नष्ट होजाते हैं।

(मू०) यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

[१९]

(भा०प०) जब चित्तवश हो आत्म चिन्तन में सदा ही रत रहे।
सब कामनाएँ दूर हों तब युक्त हो योगी रहे ॥१८॥

चलती न दीपक ज्योति ज्यों है वायु शून्य स्थान में।
त्यों चित्त योगाभ्यासियों का अचल रहता ध्यान में। १९

अर्थ—जब मनुष्य अपने जीते हुए मन को एक मात्र आत्मा में लगा लेता है, और किसी प्रकार की कामना इच्छा नहीं करता तब वह सिद्ध योगी कहलाता है ॥१८॥

जिस योगी ने अपना चित्त वशीभूत कर रखा है, और जो आत्मा में ध्यान योग का अभ्यास करता है, उसका चित्त निर्वातस्थान के दीपक के समान अचल होता है ॥१६॥

भावार्थ—कारण यह है जब मनुष्यका चित्त एकाग्र होकर एकमात्र आत्मानन्द में मग्न हो जाताहै, तब उसे संसारी चीज़ो से कुछ सरोकार नहीं रहता, और न उसे देखी अनदेखी चीज़ों की चाहना रहती है। तब वह सिद्ध योगी कहलाता है।

जिस तरह पवन रहित स्थान में रखा हुआ दीपक बिना हिले डुले जलता है, उसी भांति आत्म ध्यान में रत योगी का चित्त कभी हिलता डुलता नहीं यानी चलायमान नहीं होता यहां आत्म-ध्यान में लगे हुए योगी के चित्त की स्थिरता की उपमा उस दीपक से दी है जो बिना हवा के मकान में स्थिरता से जलता है।

(मू०) यत्रोपरमतेचित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवाऽयं स्थितश्चलति तत्वतः ॥२१॥

[१६]

(भा०प०) होचित्त संयम योग युत विश्राम लेता है जहां ।
सन्तुष्ट अपने आपको ही देखकर योगी जहां ॥२०॥
उसकोमहा आनन्द अपरम्पार सुख मिलता जहां ।
जो बुद्धि से ही जान पड़ता इन्द्रियां जानें कहां ॥२१॥

अर्थ—जब योगाभ्यास के कारण से रुका हुआ चित्त शान्त होजाता है तब योगी समाधियों द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरण से परम चैतन्य ज्योतिः स्वरूप आत्मा को देखता है, और अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है ॥२०॥

ज्ञानी पुरुष जब उस अनन्त सुख को अनुभव करलेता है जो केवल बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो इन्द्रियों के विषयों से दूर है यानी इन्द्रियों से स्वतन्त्र है तब वह अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होकर उस से कभी नहीं डिगता ॥२१।

भावार्थ— बुद्धिमान उस सुख को जान जाता है जो अनन्त है, जो इन्द्रियों के विषयों से नहीं हो सकता। केवल शुद्ध बुद्धि से ही ग्रहण किया जा सकता है, । तब वह अपने आत्मा में ही स्थिर हो जाता है और वहसे कभी चलायमान नहीं होता । क्यों कि इन्द्रियों द्वारा वह सुख कदापि नहीं जाना जा सकता। वह सुख इन्द्रियों के सुख से बिल्कुल स्वतन्त्र है ॥

(मू०) यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥

[२७]

(भा०प०) डिगता नहीं वह तत्व से इकबार स्थित होकर जहाँ।
सन्तुष्ट हो रहकर उसी में जिस दशा में है जहाँ ॥
विचलित न होता दुःख पाकर घोर भी योगी जहाँ ॥
यह जान दुख संयोग से होता वियोग सदा वहाँ ! २२

अर्थ—जब वह उस सुख को पाजाता है तब उस से अधिक किसी लाभ को नहीं समझता। उस सुख में स्थित होकर वह बड़ा भारी दुःख पाकर भी विचलित नहीं होता ॥२२॥

भावार्थ—इस का आशय यह है कि जब योगी उस अनन्त सुख को जानता है, तब वह आत्मा में ही मगन रहता है उसे इन्द्रियों के विषयों के सारे सुख आत्मा के परम सुख से तुच्छ मालूम पड़ते हैं जब उसका चित्त आत्मा में लग जाता है, तब वह तलवार आदि शस्त्र के अघात होने पर भी उस से चित्त को नहीं हटाता।

(मू०) तंविद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

[१८]

(भा०प०) कहते इसे हैं योग जानो, स्थिति यही है योग की ।
अभ्यास करना चाहिये इसका, न इच्छा भोगकी २३
संकल्प जनित समस्त मन की कामनाएँ छोड़कर ।
चहुं ओर से सब इन्द्रियों को पार्थ! मनसे रोककर २४

अर्थ—जिस अवस्था में जरा भी दुःख नहीं रहता उस अवस्था का नाम ही योग है । उस योग का अभ्यास स्थिर चित्त होकर तथा उद्वेग रहित होकर अवश्य करना चाहिये ॥२३॥

संकल्प से उत्पन्न होने वाली तमाम इच्छाओं को बिलकुल त्याग कर, विवेक युक्त मन के द्वारा सब ओर से इन्द्रियों को रोक कर ॥२४॥

भावार्थ—जो कुछ है वह आत्मा ही है, आत्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है, यह सिद्धान्त मनमें रख कर, पुरुष को बराबर आत्मा में ही लीन रहना चाहिये । यही योग का सबसे ऊंचा भेद है।

(मू०) शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत ॥२६॥

[२९]

(आ०प०) फिर हो सुधीर सुशान्ति धीरे प्राप्त करनी चाहिये ।
मन आत्म चिन्तन में लगा चिन्ता न करनी चाहिये २५

चाहे जहां से भागता मन चपल चञ्चल चाल से ।
उसको वहां से खींच लावे ज्ञान रूपी ढाल से ॥२६॥

अर्थ—धीरे धीरे दृढ़ बुद्धि से सब से मन हटा कर, आत्मा में मन को लगाना चाहिये, और किसी भी विषय की चिन्ता न करनी चाहिये ॥२५॥

मन अपनी स्वाभाविक चञ्चलता के कारण से भटकने लगता है। यह मन जहां जाय वहां से इसे लौटा कर आत्मा के अधीन करना चाहिये ।२६।

भावार्थ—मन का स्वभाव ही चञ्चल है, अतः वह अपनी स्वाभाविक चञ्चलता के कारण से एक जगह नहीं ठहरता। शब्द, रूप, रस आदि विषय इस मन को एक जगह नहीं ठहरने देते। अगर मन में यह स्वाभाविक कमजोरी न होती, तो मन का आत्मा में लगा लेना कुछ भी कठिन नहीं था। मनका इन्द्रियों के विषय से चञ्चल हो जाना ही आत्मा में (लौ) ध्यान लगाने में बाधा डालता है।

किन्तु मन को विषयों का थोथा पन; उन में कुछभी सुख का न होना; संसारी पदार्थों की असत्यता आदि समझा कर इन की ओर जाने से

रोकना चाहिये । अगर वह अपने स्वभाव के कारण विषयों की ओर चला ही जाय तो उसे लाकर फिर आत्मा में लगा देना चाहिये । मन सहज में वश में न होगा, धीरे धीरे अभ्यास करने से और बारम्बार विषयों से हटा कर लाने से वश होगा । सारा दार मदार मनके वश करने पर ही है । अतः मन पर सदा दृष्टि रखनी चाहिये । अभ्यास करते करते चञ्चल मन आत्मा में दृढता से ठहर जायगा, जब वह आत्मा में लग जायगा, तब उसे शान्ति मिलेगी, और दुःख का लवलेश भी न रहेगा ।

(मू०) प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

(भा०प०) जो शान्त मन अध रज रहित हैं ब्रह्म में हैं मिल गये ।
मिलता उन्हें सुख श्रेष्ठ, उनके दुःख सारे मिट गये २७

यों योगका अभ्यास करते जो महात्मा लोग हैं ।
वे ब्रह्मके सुस्पर्श का करते सदा उपभोग हैं ॥२८॥

अर्थ—जिस का मन बिल कुल शान्त होगया है, जिसका रजोगुण नष्ट होगया है जो निष्पाप और ब्रह्म मय होगया है उस योगी को निश्चय ही उत्तम सुख मिलता है ॥२७॥

इस तरह सदा अपने मनको आत्मा में लगाने वाला धर्म अधर्म से रहित योगी आसानी से ब्रह्म में मिलने का अखण्ड अनन्त सुख पाता है ॥२८॥

भावार्थ—जिसका मन एकदम शान्त होगया है, यानी जिसमें राग-द्वेष आदि दुःख के कारण बिलकुल नहीं रहे हैं। जो जीवन मुक्त होगया है (जिसकी मुक्ति जीते जी ही होगयी है) यानी जिसके मन में यह दृढ़ विश्वास होगया है कि सबहि "ब्रह्म" हैं और इसी विश्वास के कारण जो निष्पाप होगया है। यानी जिस में धर्म अधर्म की छूत नहीं रही है ऐसे योगी को उत्तम सुख मिलता है।

तात्पर्य यह है कि सदा बिना विघ्न बाधाओं के योगाभ्यास करने वाला अथवा लगातार मनको आत्मा में लगाने वाला ब्रह्म में मिलजाता है। और उसे ऐसा सुख मिलता है जिसका कभी नाश नहीं होसकता, क्योंकि इस समय जीव और ब्रह्म की एकता होजाती है।

(मू०) सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

[२१]

(भा०प०) सर्वत्र समदर्शी तथा शुभ योग से जो युक्त हैं।
जो भेद बन्धन से न बँधता नित्य रहता मुक्त है ॥
वह देखता है आप में सबको सभी में आपको।
लखता न उसको पाप वह लखता नहीं है पापको २९

अर्थ—जिस का चित्त अन्तःकरण योग से पक्का होगया है, और जो सब को समान दृष्टि से देखता है, वह सब जीवों में अपने आत्मा को और अपने आत्मा में सब जीवों को देखता है ॥२९।

भावार्थ—जिसका अन्तःकरण योग में दृढ़ होजाता है, वह समझने लगता है कि ब्रह्मा से लेकर घास के गुच्छे तक में परमात्मा है, किसी में

भेद-भाव नहीं है। आत्मा और परमात्मा एक ही है, इसी से उसे सारे जगत में हर प्राणी में परमात्मा ही परमात्मा दिखाई देने लगता है।

(मू०) यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

[२२]

(भा०प०) सर्वत्र मैं ही और मुझमें दीखते जिसको सभी ।
उससे न मैं, मुझसे न वह है अलग हो सकता कभी ३०
घट-घट निवासी जान मुझको पूजता जो दास है ।
वह कर्म करके भी सदा करता मुझी में बास है ॥३१॥

अर्थ—जो सब प्राणियों में मुझे देखता है और सब प्राणियोंको मुझ में देखता है, मैं उनकी नजर से ओट नहीं होता। और न वह मेरी नजर से ओट होता है ॥३०॥

जो सबको एक समझता है सब जीवों में रहने वाले मुझको भजता है वह चाहे जिस तरह जीवन समाप्त करे वह मुझ में ही रहता है ॥३१॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब प्राणियों के आत्मा मुझ वासुदेव को सब प्राणियों में देखता है, और जो ब्रह्मा सृष्टि के रचने वाले तथा सब प्राणियों को सबके आत्मा मुझमें देखता है उस आत्मा की एकता देखने वाले के पास से मैं ईश्वर कभी दूर नहीं होता और न वह बुद्धिमान ही मुझसे दूर होता है यानी वह सदा मेरे पास रहता है और मैं सदा उसके पास रहता

हूं, क्योंकि उसका आत्मा और मेरा आत्मा एकही है। जब उसका आत्मा और मेरा आत्मा एकही है। तब दोनों के आत्मा एक दूसरे में सदा मौजूद रहेंगे इस में क्या सन्देह है।

"ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हुआ ज्ञानी" यानी अपने आत्मा को ब्रह्म समझने वाला, अथवा सब जीवों में मुझे देखने वाला और मुझ में सबको देखने वाला चाहे जिस तरीके से जीवन क्यों न चलावे मुझ में ही रहता है। वह सदा जीवन मुक्त है (जीता हुआ ही मुक्त है) उस की मुक्ति की राह में कोई चीज रुकावट पैदा नहीं कर सकती।

(मू०) आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुनउवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।३३।

(३२)

(भा०प०) योगी वही है श्रेष्ठ जो सब को बराबर जानता ।
जो दूसरों के दुःख सुख को पार्थ ! अपना मानता ३२

अर्जुन ने कहा—

समदृष्टि रखने के लिये जो आप ने मुझसे कहा ।
मैंने उसे समझा नहीं, मन था हुआ चञ्चल महा ३३

अर्थ—हे अर्जुन? जिसे सब की एकता में विश्वास है, और सब के दुःख सुख को अपने दुःख सुख के समान समझता है, वह निश्चय ही सब से बड़ा योगी है ॥३२॥

हे मधुसूदन! आपने जो सबको एकसा समझने का योग बताया वह मन की चञ्चलता के कारण सदा मन में नहीं रह सकता ॥३३॥

भावार्थ—जिस की समझ में सब आत्माएं एक हैं वह समझता है। जिससे मुझे सुख होगा और जिस से मुझे दुख होगा। उस से दूसरों को सुख दुखः होगा। ऐसा ज्ञानी किसी पराये को दुःख नहीं पहुंचाता। जिसमें यह शुद्ध ज्ञान है वह योगियों में श्रेष्ठ है। यानी मैं उस सब योगियों से अधिक पसन्द करता हूं।

भगवान के ऐसा कहने पर अर्जुन ने कहा कि हे मधुसूधन! मेरी समझ में नहीं आया मेरा मन भ्रान्ति में पड़ा हुआ था क्योंकि—

(मू०) चञ्चलहि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

[२४]

(भा०य०) हे कृष्ण! मन चंचल हठीला दृढ तथा बलवान है। करना उसे वश में कठिन दुस्साध वायु समान है ३४

भगवान ने कहा—

मनपर विजय पाना कठिन है हे महाबाहो ? सही ।
कौन्तेय ? वश वैराग्य अरु अभ्यास से हो शीघ्रही ॥३५॥

अर्थ—हे कृष्ण ? मन चंचल, बलवान हठी और बखेड़िया है, मेरी राय में जिस भांति हवाको रोकना कठिन है, ठीक उसी तरह इस मनका रोकना भी कठिन है, ॥३४॥

हे महा बाहो ? यह बिलकुल सच है कि मन चंचल है, और इसका वश करना बहुत ही कठिन है। लेकिन हे कुन्ती पुत्र ? (अभ्यास) और (वैराग्य) से मन वश में होसकता है ॥३५॥

भावार्थ—मन केवल चञ्चल ही नहीं है बल्कि बखेड़िया भी है। वह शरीर और इन्द्रियों में हल चल मचादेता है। और उन्हें दूसरों के अधीन करदेता है। वह किसी तरह भी दबाने योग्य नहीं है। इसी से कहताहूं कि हवा को रोकना या अधीन करना जितना कठिन है, मनका रोकना या अधीन करना भी उतनाही, बल्कि उससे कहीं कठिन है। तब भगवान ने कहा कि—

हे अर्जुन ! मन अपने चंचल स्वभाव के कारण बारम्बार भटकता है। वह जितनी बार भटक कर कुराह में जाय, उसे उतनी ही बार सुराह में लाकर लगा लेना चाहिये। इसी को (अभ्यास) कहते हैं। और मनुष्य के मन में देखी और अनदेखी आदि सुख की चीजो की इच्छा पैदा होती है, उन चीजों में दोष लगाकर उनकी इच्छा न करना ही (वैराग्य) कहलाता है। (अभ्यास) और (वैराग्य) द्वारा संसारी पदार्थों से मनकी गति रोकी जासकती है। योगाभ्यासी के मन में पहले वैराग्य होना चाहिये फिर अभ्यास। बिना वैराग्य हुए अभ्यास काम न देगा।

(मू०) असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

[२५]

(भा० प०) मन वश हुए बिन, मति यही मेरी, न मिलता योग है।
पर यत्न से कर आत्म-संयम प्राप्त होता योग है॥३६॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण ! मधुसूदन ! मुझे यह तो भला बतलाइये ।
मेरे हृदय की भ्रान्ति को हे नाथ ! शीघ्र भगाइये ।३७

अर्थ—हे अर्जुन ! जिसने मन कुशमें नहीं किया है, उसे योग प्राप्त होना कठिन है लेकिन मनको वश में करके जो योगकी चेष्टा करता है वह योग को प्राप्त करलेता है ॥३६।

हे कृष्ण ? जो पुरुष अभ्यास नहीं करता है, किन्तु योग में विश्वास श्रद्धा रखता है, अगर ऐसे पुरुष का मन तत्वज्ञान (जीव ब्रह्म की एकताका ज्ञान) पाने के पहले ही योग से हटजाय, तो उसकी क्या गति होगी ॥३७॥

भावार्थ—जान लेना चाहिये कि जीव और ब्रह्म की एकता को योग कहते हैं । जो पुरुष मनको बिना वश किये ही योग करता है, उसे योग नहीं मिलता, लेकिन जो वैराग्य से और अभ्यास से मनको वशमें करता

है, उसे योग अनन्त सुख मिलजाता है विना वैराग्य और अभ्यास के मन वशमें नहीं होता और मन के विना वश हुए कदापि योग सिद्ध नहीं होसकता, इससे मालूम हुआ कि मन वश करने के (वैराग्य) और (अभ्यास) यही दो पक्के उपाय हैं।

भगवान ने जब यह कहा तो अर्जुन के मनमें यह शंका हुई कि अगर कोई पुरुष योगाभ्यास में लगजाय और लोक परलोक के सारे कामों को छोड़दे, अगर उस पुरुष को योग सिद्ध का फल और मोक्ष का जरिया जीव और ब्रह्म की एकता का "शुद्ध ज्ञान" प्राप्त होने के पहले ही दैव योग से मौत आ दबावे अथवा योग सिद्धि के समय किसी भांति कुछ विकारों का समावेश होजाय तो उसकी क्या दशा होगी ? क्या योग मार्ग से गिरा हुआ पुरुष नष्ट होजायगा इस सन्देह को दूर करने के लिये अर्जुन कहने लगा।

हे कृष्ण ! जिसका योगके बल या प्रभाव में विश्वास हो लेकिन वह योग मार्ग में चेष्टा न करता हो, जीवन के अन्तिम समय में उस का मन योग से हट जाय तो योग का फल शुद्ध ज्ञान जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान पाये बिना उसको क्या गति होगी ? पुनः भगवान ने कहा।

(मू०) कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

[२६]

(भा०प०) जिसका हृदय श्रद्धालु हो, पर यत्न-संयमकी कमी हो योग सिद्धि न प्राप्त पाता कौन सी गति संयमी?॥

क्या स्थिर न हो वह मोह वश होता उभय पथ भ्रष्ट है।
या छिन्न होकर घन-पटलसा कृष्ण ! होता नष्ट है ॥३॥

अर्थ—हे महा बाहो ! दोनों से भ्रष्ट हुआ और ब्रह्म मार्ग से विमूढ़ हुआ यह पुरुष, क्या निराधार बादल के टुकड़े की तरह नष्ट नहीं होजाता ?

भावार्थ—अर्जुन के कहने का आशय यह है कि कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग दोनों से भ्रष्ट हुआ और ब्रह्म मार्ग से विचलित हुआ पुरुष क्या उस बादल के टुकड़े की तरह नाश नहीं होजाता जो और बादलों से अलग होकर हवा के जोर से नाश होजाता है ? क्योंकि वह न तो कर्म करके स्वर्ग आदि ही पासका और न शुद्ध ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष मार्गी होसका हे मधुसूदन ? क्या वह दोनों मार्ग यानी कर्म योग और ज्ञान योग से गिरकर बहक कर नष्ट नहीं होजायगा ?

(मू०) एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्य शेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

भगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

[२७]

(भा०प०) हे हे जनार्दन ? दूर यह सन्देह मेरा कीजिये ।
है कौन दूजा आप बिन, भ्रम आप मेरा छीजिये ३९

भगवान ने कहा—

वह हो कहीं पर पार्थ ! उसका नाश होता है नहीं ।
कल्याणकारी कर्म से दुर्गति न होती है कहीं ॥४०॥

अर्थ—हे कृष्ण ? आप मेरे इस सन्देह को बिलकुल दूर कीजिये, क्योंकि आपके सिवाय और कोई ऐसा नहीं है जो सन्देह को दूर कर सके ॥३६॥

हे पार्थ ! उसका न तो इस लोक में और न परलोक में कहीं भी नाश न होगा हे तात ? निश्चय ही किसी भी अच्छा काम करने वाले की बुरी गति कभी नहीं होती ॥४०॥

भावार्थ—अर्जुन कहने लगे कि हे भगवन् ! मेरे इस सन्देह को न तो ऋषि-मुनि ही दूर कर सकते और न कोई देवता ही दूर कर सकता । एक मात्र आपही इस सन्देह को दूर कर सकते हैं । तब भगवान कहते हैं कि—

हे पार्थ ! उसका न तो इस लोक में और न परलोक में कहीं भी नाश न होगा । भगवान के कहने का सारांश यह है कि जो योग भ्रष्ट होजाता है, उसे वर्त्तमान जन्म से बुरा जन्म नहीं मिलता ।

अर्जुन फिर शंका करता है कि जब योग से भ्रष्ट होने वाले की बुरी गति न होगी । वर्त्तमान जन्म से बुरा जन्म न मिलेगा तब उसका क्या हाल होगा ।

पुनः भगवान अर्जुन को उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं ।

(मू०) प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतांगेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

[२८]

(भा०प०) जाता वहीं वह, धर्मवीर मनुष्य हैं जाते जहाँ ।
जाकर विचरता योग-भ्रष्ट-मनुष्य वर्षों तक वहाँ ॥
वह पुण्य-फलको भोग फिर आता जगत में जन्मले।
श्रीमान पावन धंश वाला गृह-निवासी जहँ भले ४१

अर्थ—जो योग भ्रष्ट होजाता है, वह मरने के बाद पुण्यवानों के लोकों में पहुंचकर, वहां अनगिन्ती वर्षों तक वास करता है। और पीछे किसी पवित्र और धनवान के घर में जन्म लेता है ॥४१॥

भावार्थ—भगवान ने यह बात ध्यान योग में लगे हुए सन्यासी के विषय में कही जान पड़ती है। मतलब यह है कि जो योगी कर्म योग से बहक कर मर जाता है वह मरने के पीछे उस लोक में जाता है जिस में अश्वमेध यज्ञ के करने वाले जाते हैं। वहां वह पूर्ण सुख भोग कर फिर, इस मृत्युलोक में किसी वेदोक्त विधि से कर्म करने वाले धनवान के घर में जन्म लेता है।

(मू०) अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

[२९]

(भा०प०) या जन्म पाता परम ज्ञानी योगियों के वंश में ।
जहं जन्म लेना है महा दुर्लभ सुकुल अवतंस में ४२

मिलते उसे संस्कार उसने पूर्व में जो थे किये।
उससे पुनः वह यत्न करता सिद्धि पाने के लिये ४३

अर्थ—अथवा वह बुद्धिमान् योगियों के कुटुम्ब में ही जन्म लेता है। ऐसा जन्म इस लोक में कठिनता से होता है ॥४२॥

वहां उसे, पहले जन्म में अभ्यास की हुई विद्या का संयोग हो जाता है, तब वह पहले की अपेक्षा अधिक उत्साह से मुक्ति पानेकी चेष्टा करता है ४३

भावार्थ—आशय यह है कि अगर वह धनवान के घरमें जन्म नहीं लेता, तो किसी निर्धन, परन्तु बुद्धिमान योगी के घरमें जन्म लेता है, लेकिन धनवान के घर की अपेक्षा निर्धन योगी के घरमें जन्म बड़े भाग्य से मिलता है।

जब वह किसी बुद्धिमान योगी के घरमें अथवा वेद विधि से चलने वाले धनी के घरमें जन्म लेता है, तो वहां उसकी पहले जन्म की अभ्यास की हुई ब्रह्म-विद्या फिर से संयोग पाकर ताजा होजाती है। उस समय वह मोक्ष पाने के लिये पहले जन्म के किये हुए परिश्रम की बनिस्बत और भी उत्साह से मिहनत करता है।

(मू०) पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

[३०]

(भा०प०) वह सिद्धि पाता सहजही निज पूर्व योगाभ्यास से।
हैं ज्ञान पाते योग के जिज्ञासु भी अभ्यास से ॥४४॥

यों यत्न युत अभ्यास करके मुक्त होकर पापसे ।
बहु जन्म के पश्चात् योगी छूटता भव ताप से ॥४५॥

अर्थ—विषयोंके वशमें होनेपर भी पूर्वजन्म का अभ्यास उसे योगमार्ग की ओर झुकाता है। वह पुरुष भी जो केवल योग के विषय को जानना चाहता है, शब्द ब्रह्म से ऊपर पहुंचजाता है। ॥४४॥

जो योगी परिश्रम पूर्वक इसतरह की चेष्टा करता है वह पापों से शुद्ध होकर और अनेक जन्मों में योग सिद्धि लाभ करके उत्तम गति को पहुंच जाता है ॥४५॥

भावार्थ—जब कि योग भ्रष्ट पुरुष किसी राजा महाराजा अथवा बुद्धिमान के घरमें जन्मले तब सम्भव है कि वह अपने मा बाप स्त्री पुत्र धन आदि के मोह में फसजावे, विषयों के अधीन होजावे; विषयों के सामने उसका कुछ वश न चले; तोभी उसके पहले जन्म का योग साधन का अभ्यास, उसे योग मार्ग की ओर झुकाता है। अगर उस पुरुषने कोई अधर्म नहीं किया हो, तो योग के असर की तुरन्त ही जीत होती है। अगर उसने अधर्म किया हो तो कुछ दिन योग का असर दबा रहता है लेकिन ज्योंही अधर्म का नाश होजाता है, त्योंही योग का असर अपना जोर करने लगता है। योग का असर कुछ दिन के लिये अधर्म के जोर के मारे छिप जाता है परन्तु उसका नाश नहीं होता ॥

सारांश यह है कि जो योगी पूर्व जन्म में योग भ्रष्ट होजाता है वह अपने पहले योगाभ्यास के असर से विषय वासनाओं को छोड़ कर योग मार्ग में काम करने लगता है। वह केवल योग रीति जानने की इच्छा करने के कारण शब्द ब्रह्म से छुटकारा पाजाता है यानी वेद में कहे हुए

कर्म-काण्डों से छुटकारा पाजाता है तब उसका तो कहनाही क्या है, जो योग को जानता है रात दिन स्थिर चित्त होकर योग में ही अभ्यास करता है ? अर्थात् योगाभ्यासी के कर्म-काण्डों से छुटकारा पाने में तो सन्देह ही क्या है ।

खुब खुलासा यह है कि जो पुरुष भूल से भी क्षणभर के लिये ऐसा विचार करता है कि "मैं ब्रह्म हूं" वह जन्म जन्मान्तरों के पापों से छुटकारा पाजाता है और जो कायदे से योगाभ्यास करता है, ब्रह्म के विचार में दृढ चित्त से लीन रहता है उसकी मुक्ति होने में क्या शक है ? अतः योगी का जीवन क्यों अच्छा है—

वह वारम्वार जन्म लेता है, और धीरे धीरे हर जन्म में योग की निपुणता प्राप्त करता है । अन्त में अनेक जन्मों में प्राप्त की हुई योग निपुणता के मिलजाने से उसे योग सिद्धि होजाती है । योग सिद्धि होने पर उसे शुद्ध ज्ञान होजाता है, शुद्ध ज्ञान के होजाने पर उसे मोक्ष मिलजाती है अर्थात् फिर उसे मरना और जन्म लेना नहीं पडता ।

(मू०) तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

[३१]

(भा०प०) है श्रेष्ठतर वह मुक्त योगी कर्मकाण्डी से कहीं ।
है श्रेष्ठतर ज्ञानी, तपस्वी से कहीं वह कम नहीं ॥
अतएव अर्जुन ! तुम बनो योगी यही उपदेश है ।
इस मार्ग का कोई पथिक पाता न कुछ भी क्लेश है ४६

अर्थ—हे अर्जुन ! योगी तपस्वियों से ज्ञानियों से, अग्नि होत्रियों यानी अग्नि-होत्र कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है, इसलिये तू योगी बन ॥४६॥

भावार्थ—जो पञ्चाग्नि तपते हैं जो रात दिन धूनी लगाये रहते हैं, जो नदियों में खड़े जप किया करते हैं, जो व्रत उपवास कर कर के अपने शरीर को क्षीण कर डालते हैं, जो रात दिन शास्त्रों के अर्थ विचार में लगे रहते हैं, जो अग्नि होत्र आदि कर्म करते हैं, जो कुए, तालाब, बावड़ी, आदि खुदाते हैं, धर्मशालाएं बनवाते हैं, उन सब से योगी उत्तम है ॥

इसका मतलब यह नहीं है कि उपरोक्त कर्म करने वाले तपस्वी, विद्वान, व्रत करने वाले कुआं, तालाब, धर्मशाला आदि बनाने वाले खराब हैं अथवा ये कर्म न करने चाहिये ? भगवान ने इन सब कर्म करने वालों से योगी का मुकाबिला किया है और इन सब से श्रेष्ठ योगी को ठहराया है॥ तात्पर्य यह है कि उपरोक्त कर्म करने वाले भी दर्जे ब दर्जे अच्छे हैं, परन्तु योगी से इन सबका दर्जा नीचा है ॥

(मू०) योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

[३२]

(भा०प०) है योगियों में श्रेष्ठ योगी मैं समझता हूं वही ।
जो शुद्ध श्रद्धा भक्ति से भजता मुझे है नित्यही ॥
सर्वस्व, अपना मन, मुझे जो सौंपता है चाव से ।
लेकर शरण मेरी मुझे जो भक्त भजता भाव से ४७

अर्थ—जो श्रद्धा पूर्वक मुझमें दृढता से चित्त लगाकर मुझको भजता है, उसे मैं सब योगियों से उत्तम समझता हूं ॥४७॥

भावार्थ—जो योगी रुद्र आदित्य आदिका ध्यान करते हैं उन सब से वह योगी जो एकमात्र मुझ वासुदेव में श्रद्धा पूर्वक चित्त लगाकर मेरा ही भजन करता है, उत्तम है। और भी साफ़ यों कहसकते हैं कि महादेव, सूर्य आदि देवताओं की भक्ति करने वालों से मुझ में, अपने में, और संसार के प्राणी मात्र में भेद न समझने वाला, सबको ब्रह्म समझने वाला, एकमात्र ईश्वर मुझ वासुदेव के भजने वाले का दर्जा ऊंचा है।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे
आत्मसंयम योगोनाम षष्ठोऽध्यायः।

सप्तमोऽध्यायः ।

नोट—छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक से कई प्रश्न उठते हैं, किन्तु अर्जुन ने एक भी प्रश्न नहीं किया बल्कि संकल्प विकल्प में पड़गया। तब भगवान ने अर्जुन के बिना पूछे ही उसके मन में उठे हुए प्रश्न और शंकाओं का जवाब इस ७ वें अध्याय में देते हैं, जिसका ध्यान या भजन किया जाय उसके स्वरूप का जानना आवश्यक और पहली बात है।

भगवान ने कहा—

भगवानुवाच ।

(मू०) मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

[१]

(भा०प०) हे पार्थ ? मुझ में मन लगाकर साधना करते हुए ।
मेरी शरण लेकर भजन मेरा सदा करते हुए ॥
जिस ज्ञान से हो युक्त मुझ को जान लोगे सर्वथा ।
संशय रहित होगे सुनो वह ध्यान से पावन कथा १

अर्थ—हे अर्जुन ? अपना चित्त मुझ में लगा कर योग साधन करता हुआ मेरी शरण आकर मुझे तू पूर्ण रूपसे सन्देह रहित होकर जिस तरह जानेगा सो सुन ॥१॥

भावार्थ—योगी योग साधन करता है अथवा चित्त की दृढ़ता का अभ्यास करता है, और मेरा आश्रय लेता है, मेरी शरण में आता है; किन्तु जो मानवीय धन, पुत्र आदि फल प्राप्त करना चाहता है वह अग्नि होत्र, तपस्या, दान आदि कर्म करता है। योगी इसके विपरीत सब उपासयों को छोडकर, अपना चित्त एक मुझमें लगाकर मेरी ही शरण लेता है। हे अर्जुन ! ध्यान लगाकर सुन मैं तुझे वह यत्न बताता हूं जिस से तू पहले कहे हुए कर्मों को करता हुआ मुझे पूरे तौर पर विना किसी प्रकार के संशय के जान जायगा यानी तुझे इस बात का ज्ञान निस्सन्देह हो जायगा कि भगवान ऐसे हैं।

(मू०) ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

[२]

(भा०प०) यह ज्ञान जो कहता तुझे हूं पूर्ण ज्ञान विशेष है ।
पुनि जान जिसको जानना रहता न कुछ भी शेष है २

इक आद ही करते सहस्रों में यतन इसके लिये ।
मिलता न सच्चा ज्ञान मेरा यत्न भी सबके किये ॥३॥

अर्थ—मैं तुझे इस ज्ञान को अनुभव और युक्तियों सहित सिखाऊंगा, जिस के जान लेने पर, यहां और कुछ जानने को बाकी नहीं रहता ॥२॥

हजारों मनुष्यों में से कोई एक कदाचित इस ज्ञान के जानने की कोशिश करता है, और कोशिश करने वालों में से भी कोई एक शायद मेरे स्वरूप को ठीक ठीक जानता है ॥३॥

भावार्थ—इस ईश्वरीय ज्ञान को मैं तुझे केवल शास्त्रों के ढंग से नहीं सिखाऊंगा, बल्कि अनुभव और युक्तियों से सिखाऊंगा। वह ज्ञान ऐसा है कि उसको जानने वाला सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होजाता है। उस के जान लेने वाले को फिर इस जगत में जानने को कुछभी शेष नहीं रह जाता उसके जानने से मोक्ष मिलती है। मोक्ष के उपाय जानने के अतिरिक्त और जानने की बात ही क्या है ? लेकिन इस ज्ञान का प्राप्त करना है कठिन।

(मू०) भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

(भा०प०) तुम जानलो मेरी प्रकृति के भिन्न जैसे पाठ हैं ।
क्षिति वायु जल आकाश पावक बुद्धि मन मद आठ हैं ४

यह गौड़ है, मेरी प्रकृति, जानो महाबाहो ? सही ।
संसार धारण हेतु इससे उच्चतर है और ही ॥५॥

हे अर्जुन ? पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इसतरह मेरी प्रकृति आठ प्रकारकी है ॥४॥

यह अपरा प्रकृति है, इस से भिन्न मेरी जीव रूप परा प्रकृति है जिसने इस जगत को धारण कर रक्खा है ॥५॥

भावार्थ—यहां "पृथ्वी" शब्द "गन्ध" तन्मात्रा के लिये, "जल" शब्द "रस" तन्मात्रा के लिये, "अग्नि" शब्द "रूप" तन्मात्रा के लिये, "वायु" शब्द "स्पर्श" तन्मात्रा के लिये, और "आकश" शब्द "शब्द" तन्मात्रा के लिये प्रयोग किया गया है । मतलब यह है कि ऊपर जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश लिखे गये हैं, उनसे उनके मूल तत्व गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द समझने चाहिये । इसी भांति "मन" अपने कारण "अहङ्कार" की जगह आया है, "बुद्धि" "महतत्व" के लिये आयी है, क्योंकि महतत्व अहंकार का कारण है, और "अहंकार" अव्यक्त की जगह आया है । जिस तरह विष मिला हुआ भोजन विष कहलाता है, उसी तरह अव्यक्त प्रथम कारण, अहंकार की वासना से मिलकर अहंकार कहलाता है, अहंकार से ही शब्द, रस, रूप आदि पैदा हुए हैं, हमको अपने साधारण अनुभव से भी मालूम होताहै, कि हर जीव की चैतन्यता का कारण "अहंकार" है ।

अथवा यों समझो कि अव्यक्त से महत्तत्व और महत्तत्व से अहंकार और अहंकार से गन्ध, रूप, रस आदि पैदा हुए और इन सब से यह जगत रचा गया है।

सारांश यह है कि ईश्वर की प्रकृति इन आठ भागों में बटी हुई है। (१) गन्ध (२) रस (३) रूप (४) स्पर्श (५) शब्द (६) अहंकार (७) महत्तत्व (८) अव्यक्त। इस आठ प्रकार की प्रकृति के अन्तरगत ही यह सारा जड प्रपञ्च है। यों भी कह सकते हैं कि यह सारा जगत इसी आठ प्रकार की प्रकृति से रचा गया है। इसी को ईश्वरीय माया भी कहते हैं।

मेरी प्रकृतियां दो भांति की हैं। दोनों में बिलकुल समानता नहीं है। एक दूसरी में उतना ही भेद है जितना कि रात और दिन में। इन दोनों में एक जड और दूसरी चेतन है।

जिस आठ प्रकार की प्रकृति का जिक्र मैं अभी अभी कर चुका हूं वह "अपरा" प्रकृति है। यह प्रकृति नीचे दर्जे की है। क्योंकि यह अनेकानेक अनर्थ कराने वाली; संसार बन्धन में फसाने वाली और जड है।

इस "अपरा" प्रकृति के सिवाय जो मेरी एक प्रकृति और है वह "परा" प्रकृति है। वह प्रकृति ऊंचे दर्जे की है। क्योंकि वह शुद्ध है, मेरा आत्म स्वरूप है, उसी ने इस जड जगत को धारण कर रक्खा है।

मतलब यह है कि मेरी इन जड और चेतन दोनों प्रकृतियों से ही जगतकी रचना हुई है। इन दोनों प्रकृतियों में मेरी "परा" प्रकृति श्रेष्ठ है, क्योंकि उसी से जीव की इन्द्रियों में चैतन्यता है, वह मेरी मुख्य आत्मा है।

"अपरा" प्रकृति क्षेत्र रूप है और "परा" प्रकृति उसमें जीव रूप क्षेत्रज्ञ है। कारण यह है कि इस जड़ जगत में प्राणी की काया में मैं भगवान ही जीव रूप से घुसा हुआ हूं।

(मू०) एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्व मिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

(४)

(भा०प०) प्राणी सभी उत्पन्न होते हैं मुझी से जानलो ।
सारे जगत का मूल एवं अन्त मैं हूं मानलो ॥६॥

सुनलो कहीं मुझसे परे कुछभी धनञ्जय ! है नहीं।
मणिमाल सम मुझमें ग्रथित हैं सब, अलग कोई नहीं ७

अर्थ—हे अर्जुन ! तू इस बात को जान रख कि सारे प्राणी इन दोनों प्रकृतियों से ही पैदा हुए हैं, इसलिये मैं ही सारे जगत को पैदा करने वाला और नाश करने वाला हूं ॥६॥

हे धनंजय ! मुझ परमात्मा से ऊंचा और कोई नहीं है, जिस तरह सूत में मणियों के दाने पोये रहते हैं, उसी तरह यह जगत मुझमें पोया हुआ है ॥७॥

भावार्थ—मेरी "परा" और "अपरा" दोनों प्रकृतियों से ही समस्त प्राणी पैदा होते हैं यानी मेरी प्रकृतियां ही सब प्राणियों का उत्पत्ति स्थान गर्भ कोष हैं। इसलिये मैं ही इस जगत का आदि और अन्त हूं,

यानी इन दो प्रकार की प्रकृतियों के द्वारा मैं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी ईश्वर, जगत की रचना करता हूं।

मुझ परमात्मा के सिवाय जगत का और कोई कारण नहीं है यानी मैं अकेला ही इस जगत् का कारण हूं। इसी से सारे प्राणी तथा समस्त संसार मुझमें उसी तरह गुथा हुआ है जिस तरह ताने में कपड़ा अथवा सूतके धागे में मनिये गुथे रहते हैं।

(मू०) रसोऽमहप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्व भूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

[५]

(भा०प०) रस-रूप हूं कौन्तेय ? जलमें, हूं प्रभा शशि सूर्य में।
ॐ कार वेदों में तथा हूं शब्द मैं हीं शून्य में ॥८॥

मैं पुरुष में पुरुषार्थ पृथ्वी में सुपावन गन्ध हूं।
हूं तेज मैं ही अग्नि में हो जीव जीवों मैं रहूं ॥९॥

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र ? जलों में रस मैं हूं, सूर्य और चन्द्रमा में प्रभा चमक मैं हूं, सब वेदों में ओंकार मैं हूं, आकाश में शब्द मैं हूं, मनुष्यों में पुरुषार्थ मैं हूं ॥८॥

पृथ्वी में पवित्र गन्ध मैं हूं, आग में चमक मैं हूं, सब प्राणियों में जीवन मैं हूं, और तपस्वियों में तप मैं हूं ॥९॥

भावार्थ—जलका सार "रस" है वह रस मैं हूं, जिसतरह मैं जलमें रस हूं, उसीतरह मैं चांद और सूरज में प्रकास हूं। सब वेदों में जो

ओंकार रूप प्रणव है, वह मैं हूं। इसी तरह मनुष्यों में मनुष्यता मैं हू,। यानी मनुष्यों में वह चीज़ मैं हूं, जिस से मनुष्य, मनुष्य समझा जाता है। आकाश का सार 'शब्द' है वह मैं हूं।

सारांश यह है कि जल का रस, सूरज, चांद, प्रणव, मनुष्य और शब्द—ये सब मेरे शरीर हैं, और मैं ही इन में रहनेवाला शरीरी हूं। मेरे बिना इनमें कुछ नहीं है। मेरे बिना जल में रस नहीं है, रस हीन जल कुछ भी नहीं है। मेरे बिना चन्द्रमा और सूरज में रोशनी नहीं हैं। बिना रोशनी के चन्द्रमा और सूरज कुछ भी नहीं है। मनुष्य शरीर में मेरे रहने से ही मनुष्य, मनुष्य है अगर मैं उस में न रहूं तो वह मनुष्य नहीं मिट्टी है।

(मू०) बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

बलं बलवतांचाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

[३०]

(आ०प०) हे पार्थ ? आप सनातन तथा सब प्राणियों का बीज हूं।
मैं पण्डितों की बुद्धि हूं तेजस्वियों का वीर्य हूं ॥१०॥

बल हूं बली का तोड़ता जो विषय कामासक्ति को।
सद्भाव प्रेरक काम हूं जो पुष्ट करता भक्ति को ॥११॥

अर्थ—हे पार्थ ? मुझे सब प्राणियों का सनातन बीज समझ, बुद्धिमानों में बुद्धि मैं हूं; तेजस्वियों में तेज मैं हूं ॥१०॥

हे अर्जुन बलवानों में काम और राग रहित बल मैं हूं, सब प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध कामना मैं हूं ॥११॥

भावार्थ—सब प्राणियों की उत्पत्ति का नित्यकारण मैं हूं, बुद्धिमानों की विवेक शक्ति मैं हूं, तेजस्वियों का तेज मैं हूं।

जोचीज़ें इन्द्रियों के सामने नहीं हैं यानी जो प्राप्तनहीं हुई हैं उनकी चाहना को "काम" कहते हैं। और जो चीज़ें इन्द्रियों के सामने मौजूद हैं, यानी जो मिल गई हैं, उनसे प्रेम करने को "राग" कहते हैं। मतलब यह है कि मैं वह बल हूं जो शरीर कायम रखने के लिये आवश्यक है। परन्तु मैं वह बल नही हूं जो इन्द्रियों के विषयों में चाहना और प्रेमपैदा करता है, अर्थात् संसारी नाशमान पदार्थों की चाह और उनमें प्रीति उत्पन्न करता है। अतः मैं वह कामना हूं जो शास्त्रो के विरुद्ध नहीं है, यानी मैं खाने पीने आदि की कामना हूं, जो शरीर पोषण के लिये आवश्यक है।

(मू०) ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्चये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

[७]

(भा०प०) सत रज तथा तम हैं हुए उत्पन्न मुझसे जानलो ।
वेहैं सभी मुझ में, न मैं उनमें कभी यह मानलो १२

हो मूढ़ त्रिगुणात्मक प्रकृति से जानते सब हैं नहीं ।
निर्गुण लखे उनको कहां उनसे परे जो है कहीं ।१३।

अर्थ—शम दम आदि सतोगुणी भाव, हर्ष गर्व आदि रजोगुणी भाव और शोक मोह आदि तमोगुणी भावों को मुझ से ही पैदा हुआ जान। तथापि मैं उनमें नहीं हूं और वे मुझमें हैं ॥१२॥

इन तीन गुणोंसे बने हुए भावों से मोहित होकर, जगत मुझे इन भावों से अलग और निर्विकार अपरिवर्त्तनीय नहीं जानता ॥१३॥

भावार्थ—विषय कर्म आदि के कारण से प्राणियों में सात्विक, राजस, और तामस भाव उत्पन्न होते हैं। ये सब भाव मेरी प्रकृति के गुणों के कार्य्य हैं, अतः इन्हें मुझ से ही पैदा हुए जानो। यद्यपि ये भाव मुझसे ही पैदा हुए हैं तथापि मैं इनमें नहीं हूं, यानी मैं संसारी जीवों की भांति इनके अधीन नहीं हूं, परन्तु ये मेरे अधीन हैं।

अब भगवान इस बात पर खेद प्रकट करते हैं, कि दुनियां उसको नहीं जानती जो इस जगत का रचने वाला और परमेश्वर है, जो अनन्त है, शुद्ध है, निराकार है, निर्विकार है, जो निर्गुण अथवा सब उपाधियों से रहित है, जो सब प्राणियों का आत्मा है, जो बिलकुल पास है जिस के जानने से संसारी लोग जनम मरण या संसार में आने जाने के कष्ट से मुक्त होसकते हैं। संसारी लोगों में यह अज्ञानता क्यों है ? सुन—

सत्व रज और तम ये तीन गुण हैं। इन तीनों के तीन प्रकार के भाव हैं। जैसे हर्ष शोक, राग द्वेष आदि। इन भावों ने ही संसार को अज्ञान बना रक्खा है। इनकी वजह से ही प्राणी नित्य अनित्य, सार असार वस्तु का विचार नहीं कर सकते, और इन्हीं के कारण से ही मुझ परमात्मा को नहीं जानते।

विष्णु की माया के सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इन तीनों से जगत बंधा हुआ है। अतः इन तीनों गुणों से बनी हुई विष्णु की दैवी माया को प्राणी किस तरह जीत सकता है ? सुनो—

(मू०) दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

[८]

(भा०प०) यह गुणमयी माया प्रबल दुर्भेद्य है दुस्तर महा ।
आते शरण जो पार होते अति सुगमसे वे अहा ! १४
पर मूढ दुष्कर्मी जिन्हें है अन्ध माया ने किया ।
आते नहीं मेरी शरण, हर ज्ञान माया ने लिया ।१५।

अर्थ—निश्चय ही सत्व, रज और तम इन तीनों से बनी हुई मेरी दैवी माया को जीतना कठिन है, किन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को पार करजाते हैं ॥१४॥

हे अर्जुन ! पापी मनुष्यों में नीच और मूढ मनुष्य मुझे नहीं भजते। क्योंकि मायाने उन्हें ज्ञान हीन बनादिया है। ज्ञान हीन होने के कारण से वे असुरों की सी चाल पर चलते हैं ॥१५॥

भावार्थ—यह तीन गुणों से बनी हुई माया मुझ, विष्णु परमात्मा में वर्त्तमान रहती है इस कारण से जो सब धर्मों को त्याग कर, एक मात्र मेरी ही शरण आते हैं, अथवा मुझे ही भजते हैं, वे सब जीवों को मोहित करने वाली माया को जीत कर उसके पार होजाते हैं, यानी संसार के बन्धन से छुटकारा पाजाते हैं।

(प्रश्न) अगर मनुष्य आप परमेश्वर की शरण जाने और रातदिन आपका भजन करने से माया के पार हो सकते हैं, तब क्या वजह है, कि सब आपत्तियों की जड इस माया के नाश करने के लिये वे आप की शरण नहीं आते। इस प्रश्न का उत्तर भगवान इस तरह देते हैं—

कि जो मूढ हैं वे अपनी मूर्खता के कारण से रात दिन पाप कर्म में लगे रहते हैं। इस मूर्खता के कारण से ही उन्हें नित्य अनित्य, सत्य असत्य का ज्ञान नहीं है। माया ने उनकी बुद्धि पर परदा डाल रक्खा है, इसलिये वे इस शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, और इसके पोषण के लिये अनेकानेक पाप करते हैं। उनकी समझ में शरीर ही सब कुछ है, 'आत्मा' 'परमात्मा' कोई चीज नहीं है। हे अर्जुन भक्त चार प्रकार के होते हैं सुन—

(मू०) चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

[९]

(भा०प०) बस चारि विधि के ही मनुज हैं भक्ति मेरी चाहते ।
जिज्ञासु, ज्ञानी, आर्त्त, अर्थार्थी मुझे हैं चाहते ॥१६॥

पर श्रेष्ठ वह है जो मुझे भजता अनन्य स्वभाव से ।
निष्काम हो जो सर्वदा भजता मुझे सद्भाव से ॥१७॥

अर्थ—हे अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्य शील लोग मुझे भजते हैं। (१) आतुर (२) जिज्ञासु (३) अर्थार्थी (४) और ज्ञानी ॥१६॥

इन चारों में से ज्ञानी, जिस का चित्त दृढ़ता से एक परमात्मा में लगा रहता है, सबसे उत्तम है, क्योंकि ज्ञानी के लिये मैं बहुत प्यारा हूं, और मेरे लिये ज्ञानी प्यारा है ॥१७॥

भावार्थ—आशय यह है कि भगवान को भजने वाले चार तरह के होते हैं। एक तो वह जिन पर किसी प्रकार का संकट होता है, दूसरे वह जिन को आत्मज्ञान की चाहना होती है, तीसरे वह जिन को धन दौलत की आवश्यकता होती है, चौथे वह जो परमात्मा के असल स्वरूप को जानते हैं, यानी जो परमात्मा को शुद्ध, सच्चिदानन्द निर्विकार, नित्य, अनन्त जानते हैं और उसे अपने से अलग नहीं समझते।

इन चार तरह के भक्तों में से ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका दिल एक मात्र मुझ में दृढ़ता से लगा रहता है। वह एक मेरे सिवाय किसी की भक्ति नहीं करता। और जो केवल मुझको भजता है वह सबसे ऊंचा है, क्योंकि मैं ही उसका आत्मा हूं, मैं ज्ञानी के लिये अत्यन्त प्यारा हूं। सभी जानते हैं कि इस दुनियां में आत्मा सबको प्यारा है, परन्तु ज्ञानी अपने आत्मा को वासुदेव समझता है, इसी से उसे वासुदेव बहुत प्यारा है। और ज्ञानी मेरा आत्मा है, इसी से वह मुझे बहुत प्यारा है।

यहां शंका होती है कि जब ज्ञानी ही भगवान को प्यारा है, तो क्या शेष तीनों भक्त वासुदेव को प्यारे नहीं हैं? नहीं यह बात नहीं है। तब क्या है? सुनो—

(मू०) उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८

[१०]

(भा०प०) ज्ञानी मुझे अरु मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूं सर्वदा॥
यद्यपि सभी हैं भक्त पर हैं आत्मवत् ज्ञानी सदा॥

वह योग युक्त सदैव मेरे ध्यान में रहता लगा।
वह जानता है बस मुझे ही उत्तमोत्तम गति, सगा १८

अर्थ—असल में वे सब ही अच्छे हैं, लेकिन ज्ञानी, मेरी समझ में मेरा ही आत्मा है। क्यों कि उसका चित्त सदा मुझ में ही लगा रहता है, और सर्वोत्तम गति रूप मेरी ही शरण में रहता है ॥१८॥

भावार्थ—निश्चय यही है यह सब अच्छे है यानी ये तीनों भी मेरे प्यारे है। मेरा कोई भक्त ऐसा नही है, जो मुझ वासुदेव को प्यारा न हो। लेकिन इन सब में भेद अवश्य है। ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्यारा है, ज्ञानी अधिक प्यारा क्यों है? मेरा विश्वास है कि ज्ञानी मेरा ही आत्मा है और मुझ से अलग नहीं है। ज्ञानी मेरे पास पहूंचने की चेष्टा तथा उपाय करता है। उसका पक्का विश्वास है, कि मैं स्वय पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द, नित्य, मुक्त हूं, वह मुझ पर ब्रह्म को ही ढूढ़ता है। वह मुझे ही सर्वोत्तम गति समझता है। आगे भगवान और भी ज्ञानी की प्रशंसा करते हैं।

(मू०) बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

[११]

(भा०प०) लेता सहस्रों जन्म ज्ञानी फिर मुझे पाता कहीं।
करके अनेकों यत्न भी कितने मुझे पाते नहीं॥
ऐसा महात्मा है महा दुर्लभ न मिलता शीघ्र ही।
जो देखता है ब्रह्म को हर वस्तु में सर्वत्र ही ॥१९॥

अर्थ—बहुत से जन्मों के अन्त में, जो ज्ञानी, सब चराचर जगत को वासुदेव मय समझता हुआ, मेरे पास आता है, वह महात्मा है ऐसे महात्मा कठिनता से मिलते हैं। १९॥

भावार्थ—मनुष्य अनेक जन्मो में ज्ञान प्राप्त करने के लिये चेष्टा करता करता जब यह समझने लगता है, कि सब कुछ ही वासुदेव है, वासुदेव के सिवाय जगत में और कुछ नहीं है। वासुदेव को ही सब कुछ समझकर जो मुझ नारायण सबके आत्मा को भजता है, वह महात्मा है। उस ज्ञानी के बराबर या उससे श्रेष्ठ कोई नहीं है, लेकिन ऐसे प्राणी का मिलना कठिन है। इसी अध्याय के तीसरे श्लोक में पहले ही कहदिया गया है कि हजारों मनुष्यों में से कोई एक कदाचित इस ज्ञान के जानने का परिश्रम करता है। और उन परिश्रम करने वालों में से कोई एक शायद मेरे स्वरूप को ठीक ठीक जानता है। इसके विपरीत मूर्ख लोगही छोटे मोटे देवताओं को पूजते हैं। आगे भगवान यह दिखलाते हैं कि क्यों लोग अपने आत्मा, अथवा एक मात्र वासुदेव को नहीं जानते, और क्यों दूसरे देवताओं की शरण जाते हैं।

(मू०) कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

[१२]

(भा०प०) जो काम वश हैं, प्रकृति वश हैं, ज्ञान है जिनको नहीं।
वे अन्य देवी देवता को पूजते मुझको नहीं ॥२०॥

जिस रूप की जो भक्त श्रद्धा भक्ति करना चाहता ।
उस रूप में मैं भक्ति उसकी अचल करना चाहता २१

अर्थ—जिसकी बुद्धि इन भोगों की कामना से बहक जाती है। वे अपनी ही प्रकृति की प्रेरणा से तरह तरह के अनुष्ठान करते हुए, दूसरे देवताओं की उपासना करते हैं ॥२०॥

जो मनुष्य विश्वास सहित जिस देवता की उपासना किया चाहता है उस मनुष्य के विश्वास को मैं उसी देवता में पक्का करदेता हूं ॥२१॥

भावार्थ—जो लोग पुत्र, धन, स्त्री, और स्वर्ग आदि की कामना करते हैं, उनकी बुद्धि इन कामनाओं के कारण से नष्ट होजाती है। जब उनकी बुद्धि मारी जाती है, तब वे अपने आत्मा वासुदेव को छोड़कर, दूसरे दूसरे देवताओं की उपासना करने लगते हैं। वे रातदिन उन देवताओंके सम्बन्ध के अनुष्ठान में लगे रहते हैं। पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण से अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर वे ऐसा करते हैं।

जिस मनुष्य की जैसी इच्छा होती है, मैं वैसाही करता हूं। जो लोग अपनी कामना सिद्धि के लिये शिव को भजते हैं उनकी श्रद्धा मैं शिव में ही पक्की कर देता हूं। जो हनुमान में विश्वास रखते हैं, उनका विश्वास हनुमान में ही जमा देता हूं। और जो निष्काम होकर मुझ वासुदेव की ही आराधना करते हैं, उन्हें सन्मार्ग में लगा देता हूं, जिस से उनकी मोक्ष होजाती है।

(मू०) स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

[१३]

(औ०प०) उसरूप की उस भावसे करके सदा पूजन किया।
पाता सहज वह इष्ट फल निश्चित नियत मेरा किया २२

अल्पज्ञ जन के प्राप्त ये फल सर्वदा रहते कहां?।
जाते सुराराधक सुरों के पास मेरे मम यहां ॥२३॥

अर्थ—तब वह विश्वास श्रद्धा सहित उसी देवता की उपासना करता है और उसी से अपने मन चाहे फल, जिनको मैं निर्दिष्ट करता हूं, पालेता है २२

उन थोडी बुद्धि वालों को जो फल मिलता है। वह नाशमान है। जो लोग देवताओं की उपासना करते हैं, वे देवताओं के पास जाते हैं, जो मेरे भक्त हैं मुझमें आ मिलते है ॥२३॥

भावार्थ—मनुष्य को अपनी कामना सिद्धि के लिये जिस देवता के भजने की इच्छा होती है, मैं उसी देवता में उसकी श्रद्धा जमा देता हूं। तब वह मनुष्य उसी देवता में दृढ भक्ति रखकर उसी को भजता है, और उसी देवता से मेरे द्वारा ठहराये हुए फलको पालेता है। फल ठहराने वाला मैं ही हूं। क्योंकि मैं ही परमेश्वर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हूं। मैं अकेला ही कर्म और उनके फलों के सम्बन्ध को जानता हूं। जब उनकी मनचाही कामनाओं के फलका देने वाला मैं, परमेश्वर, ही हूं, तब उनकी कामना सिद्धि होनी ही चाहिये।

सारांश यह है कि जो लोग कामना रखकर वासुदेव को छोडकर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, उन्हें उनके कर्मों का फल स्वयं परम परमात्मा ही देते हैं। लेकिन अज्ञानी लोग समझते हैं कि यह फल हमें अमुक देवता या मूर्त्ति ने दिया है। भगवान ही सबकुछ जानने वाला,

सब कुछ देखने वाला और सर्व शक्तिमान है। वही मनुष्य के किये हुए कामों की खबर रखता है, इसलिये वही ठीक २ फल देता है। भगवान के सिवाय और मनो कामना पूरी करने वाला कोई नहीं है, क्योंकि और कोई सर्वज्ञ सर्वदर्शी और सर्व शक्तिमान नहीं है। आशय यही है कि फलतो भगवान देते हैं, पर नाम देवताओं का होता है।

इसलिये जो मुझ वासुदेव को भूलकर दूसरे देवताओं को भजते हैं वे मूर्ख हैं। उनको उन देवताओं की उपासना से फल तो अवश्य मिलजाते हैं, किन्तु वे फल नाशमान हैं, यानी वे सदा स्थिर नहीं रहते, झट पट ही नष्ट होजाते हैं। लेकिन मुझे जो भजते हैं उन्हें ऐसा फल मिलता है जो अनन्त और अक्षय होता है।

भगवान कहते हैं यद्यपि दोनों प्रकार की उपासनाओं में मेरी उपासना में और देवताओं की उपासना में समान ही चेष्टा करनी पड़ती है, तथापि लोग अनन्त और कभी नाश न होने वाला फल पाने के लिये मेरी शरण नहीं आते यह बड़े दुख का विषय है। भगवान इस बात पर दुःख प्रकट करते हैं और लोगों को अपनी शरण न आने का कारण नीचे बताते हैं।

कवि।

[१४]

(भा०प०) पूजले कोई किसी को प्रभु बिना पूजे नहीं।
मिलता अमिय फल मोक्ष जैसे तेल बालू से नहीं॥
अतएव प्रभुके भक्त ही हैं मोक्ष अधिकारी सदा।
प्रभु भक्त तो हैं लीन होते नित्य प्रभु में सर्वदा॥१॥

(अर्थ) चाहे कोई किसी को पूजे, किन्तु विना ईश्वर की उपासना किये वह अमृत फल यानी मोक्ष से उसी प्रकार निष्फल जानना चाहिये जिस प्रकार वालू में से तेल का निकालना।

अतः मोक्षके अधिकारी वही हैं जो सदा ईश्वर के भक्त है। क्यों कि ईश्वर के भक्त ही नित्य- सर्वज्ञ परमात्मा में सदा लौलीलन रहते हैं।

(मू०) अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

(१५)

(भा०प०) जो मूढ़ अरु अज्ञान हैं वे जानते मैं व्यक्त हूं।
पहंचानते वे हैं नहीं मैं शुद्ध हूं अव्यक्त हूं ॥२४॥
मैं दीखता सबको नहीं निजयोग माया युक्त हो।
है मूढ़ नाहिं अव्यय अजन्मा जानता भ्रम युक्तहो।२५।

अर्थ--मूर्ख लोग मेरेविना शरीररहित, निर्विकार और सवसे उत्तम प्रभाव को न जानने के कारण मुझ निराकर को मूर्त्तिमान समझते है ॥२४॥

उन की यह अज्ञानता का क्या कारण है सुनो मैं सवके सामने प्रकाशित नहीं हूं, क्योंकि मैं योग माया से ढका हुआ हूं। मेरी माया से बहके हुए लोग मुझे अजन्मा और अविनाशी नहीसमझते ॥२५॥

भावार्थ--मैं सवलोगों के सामने प्रकाशित नहीं हूं, यानी मुझे सबकोई नहीं जानसकते। केवल मेरे थोड़े से भक्तही मुझे जानते हैं। मैं योग माया

से ढका हुआ हूं। योग माया, सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण इन तीनि गुणों से बनी हुई माया है। इसी ने लोगों को बहका रखा है, उनकी बुद्धि पर पर्दा डाल रखा है—इसीसे लोग मुझे अविनाशी और अजन्मा नहीं समझते।

योग माया, जिस से मैं ढका हुआ हूं, और जिस के कारण से लोग मुझे नहीं पहचानते, मेरी है और मेरे अधीन है। इसी से वह मेरे ज्ञान में उसी तरह रुकावट नहीं डाल सकती, जिस तरह मयावी (बाजीगर) की माया, मायावी (बाजीगर) से पैदा होकर मायावी के ही ज्ञान पर रुकावट नहीं डाल सकती।

(मू०) वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्दमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

[१६]

(भा०प०) मैं वर्त्तमान भविष्य एवं भूत सब हूं जानता ।
पर एक भी ऐसा नहीं है जो मुझे पहचानता ॥२६॥

इस द्वेष इच्छा जनित द्वन्द्व विमोह से भारत ! सभी।
हैं मोह दुःख के पंक में फंसते न रहता ज्ञान भी।२७।

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् काल के चराचर प्रा-प्राणियों को जानता हूं लेकिन मुझे कोई नहीं जानता ॥२६।

हे अर्जुन इस संसार में आनेपर समस्त प्राणी इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए द्वन्दों के भुलावे में आकर मुझे भूलजाता है ॥२७॥

भावार्थ—मुझे कोई नहीं जानता। मुझे केवल वही मनुष्य जानता है जो मेरी उपासना करता है और मेरी ही शरण में आता है। मेरा स्वरूप और प्रभाव न जानने के कारण मुझे कोई नहीं जानता। हां! यह सवाल हो सकता है कि मेरे असल स्वरूप या प्रभाव के जानने में लोगों को क्या रुकावट है। जिससे बहक कर समस्त प्राणी जो पैदा हुए हैं मुझे नहीं जानते? सुनो—

मनुष्य सदा अपने अनुकूल प्यारी चीजों की इच्छा करता है। और अपने को जो वस्तु प्रतिकूल है, उनसे द्वेष करता है, अर्थात् अच्छी चीज की चाहना करता है और बुरी चीज से दूर भागता है। इच्छा और द्वेष से ही सुख दुःख, गर्मी सर्दी आदि की उत्पत्ति होती है। जिसे इच्छा और द्वेष नहीं है, उसे सुख दुःख कुछ भी द्वन्द्व नहीं सताते। जगत में जन्म लेकर कोई भी प्राणी इच्छा और द्वेष वाले मनुष्य को जब बाहरी चीजों का ही ज्ञान नहीं होता, तब उसे अन्तर आत्मा का ज्ञान भला कैसे होगा। इच्छा और द्वेष के पड़े हुए फेर में प्राणी मुझ परमेश्वर को अपना आत्मा नहीं समझते इसी से वे मुझे नहीं भजते॥

इसलिये मनुष्य को इच्छा और द्वेष से अलग रहना चाहिये। इच्छा और द्वेष ही संसार बन्धन में डालने वाली अज्ञानता की जड़ है। अतः जो परमानन्द प्राप्त करना चाहते हैं, इन दोनों को अवश्य छोड़ देना चाहिये। क्योंकि ईश्वरोपासना से ही सिद्धि मिलती है। जब संसार में जन्म लेने से प्राणी मात्र में इच्छा और द्वेष घुसा हुआ है तब आपको कौन जानते हैं और कौन अपने आत्माकी तरह ध्याना करते हैं? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर भगवान नीचे देते हैं॥

(मू०) येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

[१७]

(आ०प०) जो पुण्य कर्मा द्वन्द्व मोह विहीन हैं निष्पाप हैं ।
दृढ भक्ति वे करते कभी तपते नहीं त्रय ताप हैं २८

जो चाहते हैं मुक्ति मृत्यु जरा, जलन जञ्जाल से ।
वे ब्रह्म कर्म स्वभाव ज्ञाता छूटते भव जाल से ॥२९॥

अर्थ—जिन पुण्यात्माओं के पाप दूर होगये हैं, जो इच्छा द्वेष से पैदा हुए सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से छुटकारा पा गए हैं, वे दृढ चित्त से मेरी उपासना करते हैं । २८।

वे क्यों उपासना करते हैं सुनो जो मेरी शरण आकर, बुढ़ापे और मौत से छुटकारा पाने का परिश्रम करते हैं, वे उस ब्रह्म, अध्यात्म और सब कर्मों को पूरे तौर से जान जाते हैं ।२९।

भावार्थ—जो लोग 'मुझ' परमात्मा, में चित्त को दृढता से लगाकर बुढापे और मृत्यु से बचने की चेष्टा करते हैं, वे उस परब्रह्म को भली भांति जान जाते हैं । वे एकदम अन्तर में रहने वाले आत्माकी असलियत को समझते हैं, और कर्म के विषय में भी सब कुछ जान जाते हैं ।

(मू०) साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

[१८]

(भा०प८) जो जानते अधिभूत मुझको और मैं अधियज्ञ हूं ।
अधिदैव हूं सर्वत्र हूं जो जानते सर्वज्ञ हूं ॥
चैतन्य जन वे ज्ञान युत रहते सदा हर काल में ।
वे भूलते मुझको नहीं तन त्याग अन्तिम काल में ३०

अर्थ—जो मुझे अधिभूत और अधिदैव तथा अधियज्ञ सहित जानते हैं, वे दृढ चित्त वाले मनुष्य मुझे अन्तकाल यानी मरण समय में भी याद करते हैं।

भावार्थ—यों भी कह सकते हैं कि जो अन्तकाल में भी मुझे याद करते हैं, उन्हीं का चित्त परमात्मा में लगा हुआ है वे अकेले ही उस ब्रह्म को जानते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे ज्ञान विज्ञान
योगो नाम सप्तमोऽध्यायः

समाप्त ।

अष्टमोऽध्यायः ।
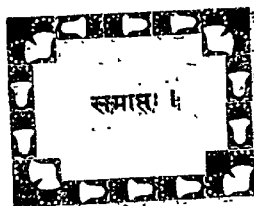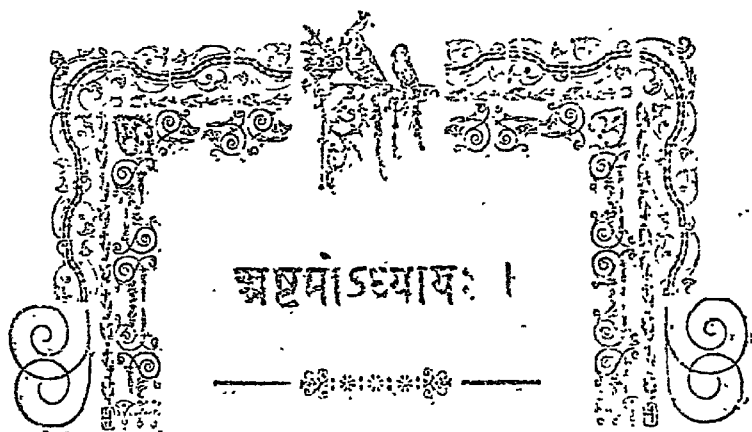
पिछले सातवें अध्याय के २९ और ३० वें श्लोकों में भगवानने कहा है। कि जो मेरी शरण आकर बुढ़ापे और मौत से छुटकारा पाने की चेष्टाएँ करते हैं .... वे ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म आदि को पूरे तौर पर जानते हैं इत्यादि' इसी से अर्जुन को सवाल करने का मौका मिला है और वह उसी के अनुसार भगवान से पूछता है।

अर्जुनउवाच ।

(मू०) किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

[१]

अर्जुन ने कहा—

(भा०प०) कौन है वह ब्रह्म ? भगवन् ! और है अध्यात्म क्या ?
कहते किसे अधिभूत हैं ! कहिये प्रभो ? अधिदैव क्या ?
इस देह में है कौन ? क्या अधियज्ञ को माने सही ।
पहंचानते कैसे तुम्हें योगीश इन्द्रिय निग्रही ! ॥२॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ! कर्म क्या है ? अधिभूत क्या है ? अधिदैव क्या है ? ॥१॥

यहां इस शरीर में अधियज्ञ किस तरह और कौन है ? और हे मधुसूदन ! मौत के समय संयतात्मा तुझे कैसे जान सकते हैं ? ॥२॥

भावार्थ—इन दोनों श्लोकों में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्णचन्द्र पुरुषोत्तम से सात सवाल किये हैं। भगवान उनके जवाब क्रम क्रम से नीचे देते हैं ।

(मू०) अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

[२ [

(भा०प०) जिसका न होता नाश है जो नित्य अक्षर है वही ।
कहता तुझे हूं सुन सखे ! है ब्रह्म यह जानो सही ॥
अध्यात्म है प्रति वस्तु का जो मूल भावाधार है ।
है कर्म अक्षर ब्रह्म से जो सृष्टि का व्यापार है ॥३॥

अर्थ—परम अक्षर (जिसका कभी किसी तरह नाश न हो) को "ब्रह्म" कहते हैं स्वभाव अथवा जीव को "अध्यात्म" कहते हैं। जीवों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाले त्याग रूप यज्ञ को "कर्म" कहते हैं ॥३॥

भावार्थ—अविनाशी, उत्पत्ति और विनाश से रहित, सर्व जगत् व्यापक, निराकार परमात्मा का किसी तरह नाश नहीं होता, न वह कभी पैदा होता और न कभी मरता है, न उसका कुछ आकार ही है। मतलब यह है कि अविनाशी, नित्य, निराकार, शुद्ध, सच्चिदानन्द और जगत् के मूल कारण को "ब्रह्म" कहते हैं। उस अविनाशी ब्रह्म के शासन से सूरज, चांद, पृथ्वी और आकाश अपने अपने स्थानों पर टिके हुए हैं। वही सब के देखने वाला और जगत को धारण करने वाला परम अक्षर ब्रह्म है।

वह अविनाशी, ब्रह्म जिसका वर्णन अभी अभी कर चुके हैं प्रत्येक आत्माके स्वरूप शरीर से आश्रय लेने से "अध्यात्म" कहलाता है, यानी जो शरीर में वास करता है उसेही "अध्यात्म" कहते हैं। औरभी साफ यों कहसकते हैं कि यह शरीर में रहनेवाला जीवही "अध्यात्म" है।

यज्ञ हवन के समय, अग्नि में जो आहुतियां दीजाती हैं, वह सूक्ष्मरूप से सूर्य्य मण्डल में पहुचती हैं। उन से जलकी वर्षा होती है। वर्षा से नाना प्रकार के अन्न पैदा होते हैं। अन्नों से प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। सारे प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाले उसत्याग रूप "यज्ञ" कोही "कर्म" कहते हैं।

अर्थात यों समझलो कि अविनाशी, नित्य, मुक्त, निराकार सर्वत्र व्यापक परमात्मा को "ब्रह्म" कहते है। शरीर में रहने वाले जीव को "अध्यात्म" कहते है। और यज्ञ करने को "कर्म" कहते है।

(मू०) अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

[३]

(श्लो०प०) अधिभूतहै इस सृष्टि की स्थिति नाशकारी जानलो।
अधिदैव पुरुष सचेत है यह तत्व भी पहचानलो ॥
अधियज्ञ मैं ही हूं मुझेही यज्ञ अधिपति मानलो।
इसदेह में अधिदेह मैंहूं सत्य नरवर ? जानलो ॥४॥

अर्थ—हे अर्जुन ? नाशवान पदार्थों को "अधिभूत" कहते हैं। पुरुष को "अधिदेव" कहते हैं और इस शरीर में अधि यज्ञ मैं ही हूं ॥४॥

भावार्थ—अधिभूत वह हैं, जो समस्त जीव धारियों को घेरेहुए है और जो पैदा होनेवाले तथा नाश होनेवाले पदार्थों से वना है यानी "शरीर" अधिभूत है। क्यों कि वह पैदा होनेवाले और नाशहोने वाले पदार्थों से बनाहै। अतः शरीर आदि जो जो नाशवान् पदार्थ हैं वे सब अधिभूत कहलाते हैं।

"पुरुष" वह है जिस से हर एक वस्तु पूर्ण होती है या भरी रहती है, अथवा वह है जो शरीर में रहता है, यानी हिरण्यगर्भ, सर्व व्यापी आत्मा जो सूर्य में रहकर सब प्राणियों की इन्द्रियों में चैतन्यता पैदा करता है और उनको पोषण करता है। मतलब यह है कि जो सब जगत का आत्मा है, जो प्राणी मात्र के शरीर में विराजमान है, जो इन्द्रियों को पोषण करने वाले और उनको उत्तेजित करने वाले सूर्य्य का भी अधिपति है। अथवा सूर्य्य रूप होकर जगत के प्राणियों को पोषण करता और उनकी इन्द्रियों में उत्तेजना पैदा करता है, वही "पुरुष" है, उसे ही "अधिदैव" कहते हैं।

अधियज्ञ वह है जिस की सब यज्ञों पर प्रधानता है, यानी जो देवताओं के लिये भी पूज्य है। देवताओं से पूज्य और सब यज्ञों का प्रभुत्व

रखने वाला विष्णु मेरा आत्मा है। अतः विष्णु मैं ही हूं। मैं ही 'अधि-यज्ञ' हूं। मैं ही यज्ञ रूप से इस मनुष्य शरीर में रहता हूं।

अर्जुन के छः प्रश्नों को निम्न लिखित समझना चाहिये—

(१) परमाणुरूप जलके स्थानमें—शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्मा जिस में यह संसार न तो कभी हुआ और न है जो केवल अतीत परम अक्षर है।

(२) भावरूप जल—वही शुद्धरूप ब्रह्म अधियज्ञ निराकार रूप से व्याप्त रहने वाला माया विशिष्ट ईश्वर।

(३) बादल—अधिदैव सबका प्राण रूप हिरण्यगर्भ ब्रह्मा। सत्रह तत्वों के समूह को सूक्ष्म कहते हैं इनमें प्राण प्रधान है। सबके प्राण मिलकर समष्टि प्राण होजाते हैं यह समष्टि प्राण प्रलय में भी रहता है महा प्रलय में नहीं।

(४) जलकी लाखों करोडों बूंदें—जगत के सबजीव।

(५) वर्षा—जीवों की क्रिया।

(६) जलके ओले या बरफ—पञ्चभूतों की अत्यन्त स्थूल सृष्टि, इस सृष्टि का स्वरूप इतना स्थूल और विनाश शील है कि जरासा ताप लगते ही क्षणभर में ओलों की तरह गलकर पानी होजाने के सदृश तुरन्त गल जाता है यहां ताप ज्ञानाग्नि रूप वह प्रकाश या गर्मी है जिसके पैदा होते ही स्थूल सृष्टि रूपी ओले तुरन्त गलजाते हैं।

अज्ञान ही सरदी है। जितना अज्ञान होताहै उतनी स्थूलता होती है और जितना ज्ञान होता है उतनी ही सूक्ष्मता होती है। जो पदार्थ जितना

भारी होता है वह उतनाही नीचे गिरता है और जितना हलका होता है उतनाही ऊपरको उठता है अज्ञान ही बोझा है जलके अत्यन्त स्थूल होने पर जब वह बरफ बनजाता है तभी उसे नीचे गिरना पडता है इसी तरह अज्ञान के बोझ से स्थूल होजाने पर जीव को गिरना पडता है।

ज्ञान से ताप के प्राप्त होते ही संसार का बोझ उतर जाता है और जैसे भापसे गलकर जल बनने पर और भी तापे प्राप्त होने पर वह जल धुआं या भाप होकर ऊपर उड जाता है वैसे ही जीव भी ऊपर उठ जाता है।

जीवात्मा खास ईश्वर का स्वरूप है परन्तु जडता या अज्ञान से जब यह स्थूल होजाता है तभी इसका पतन होता है। अज्ञानही अधः पतन है और ज्ञान ही उत्थान है। एकबार शेष सीमातक उठने पर फिर नहीं गिरता सबकुछ परमेश्वर ही होजाता है वास्तव में तत्व से है तो एक ही। परमाणु, भाप बादल, बूंद, ओले सब जल ही तो हैं।

इस न्याय से सभी वस्तुएँ एकही परमात्म तत्व है इसलिये भगवान चाहे जैसे चाहे जब चाहे जहां चाहे जिस रूप से प्रगट होजाते हैं इस बात का ज्ञान होने पर साधक को सब जगह ईश्वर ही दीखते हैं जलका तत्व समझ लेने पर सब जगह जलही दीखता है वही परमाणु में और वही ओलों में अत्यन्त सूक्ष्म में भी वही और अत्यन्त स्थूल में भी वही इसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूल में वही एक परमात्मा है। श्रुति-'अणोरणीयान् महतो महीयान्' यही साकार और निराकार की एक रूपता है।

अज्ञान से अहंकार बढता है जितना अहंकार अधिक होता है उतना ही वह सांसारिक वस्तुओं को अधिक ग्रहण करता है और जितना अंसह

रिक बोझ अधिक होगा उतनाही वह नीचे जायगा तीन गुण हैं इन में तमोगुण अधिक भारी है इसी से तमोगुणी पुरुष नीचे गिरजाता है रजोगुण समान है इसलिये रजोगुणी बीच में मनुष्यादि में रहजाता है सत्वगुण हलका है इस से सतोगुणी परमात्मा की ओर ऊपर को उठता है हलकी चीज ऊपर तैरती है भारी डूबजाती है। आसुरी सम्पदा तमोगुण का स्वरूप है इसलिये वह नीचे लेजाती है। सतोगुण हलका होने से ऊपर को उठाता है दैवी सम्पदा ही सत्यगुण है यही ईश्वर की सम्पति है यह सम्पति ज्यों ज्यों बढती है त्यों त्यों साधक ऊपर उठता है यानी परमात्मा के पास पहुंचजाता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः
जघन्यगुणवृत्तिस्था
अधो गच्छन्ति तामसाः

(मू०) अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

(४)

(भा०प०) यह देह तजते समय जो भजता मुझे सस्नेह है ।
होता मुझी में लीन वह इसमें नहीं सन्देह है ॥५॥
कौन्तेय ! जो जिस रंग में रहता रँगा है सर्वदा ।
तन त्याग काल न भूलता वह याद रहता है सदा ६

अर्थ—जो कोई, अन्त समय में, मुझको ही याद करता हुआ शरीर छोड़ कर जाता है वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है इस में सन्देह नहीं।५।

अन्तकाल में मनुष्य जिसको याद करता हुआ शरीर छोड़ता है, हे कौन्तेय ? उसी का ध्यान हमेशा रहने से वह उसी को पाता है।६।

भावार्थ—जो मनुष्य मरने के समय अथवा शरीर छोड़ने के समय केवल मुझको ही याद करता है, मेरा ही ध्यान करता हुआ शरीर छोड़ता है वह मेरे पास पहुंचता है, यानी मुझे पालेता है। इस में कुछभी सन्देह नहीं है।

भगवान कहते हैं कि जो अन्तसमय में मुझे ही याद करता हुआ मेरा ही ध्यान करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह तो मुझे पाता है, लेकिन जो मनुष्य मुझे छोड़कर किसी और देवता के ध्यान का अभ्यास करता रहता है, वह अपने सदा के अभ्यास के कारण यानी उसके मन में बसजाने के कारण अन्तसमय में उसी को याद करता है, और उसी देवता को पाता है। जो अन्तसमय में शिव का स्मरण करता है वह शिव को पाता है। जो अन्तसमय में स्त्री, पुत्र आदि को याद करता है उसे स्त्री, पुत्र आदि ही मिलते हैं। जो रात दिन माया में फंस रहते हैं और अन्तसमय में भी धन दौलत आदि की चिन्ता करते हुए मरते हैं वे उन्हीं पदार्थों को पाते हैं। लेकिन यह सब पदार्थ नाशमान हैं, इनके पाने में कुछ लाभ नहीं है। बार बार जन्म लेने और मरने में बड़ा कष्ट है, अतः मनुष्यको सदा परब्रह्म का ध्यान करना चाहिये। अभ्यास करते रहने से मनुष्य के मनमें परब्रह्म ही बसा रहेगा, इस से मरते समय वह उसी सच्चिदानन्द का ध्यान करता हुआ शरीर छोड़ेगा, और उसी के स्वरूप में मिलकर जनम मरण के झंझट से छुट्टी पाजायगा।

जो लोग ऐसा खयाल करते हैं कि हम बुढ़ापे में भगवान् को याद करेंगे, अभी तो संसारी माया में फंसे रहें, उनसे कुछ भी नहीं हो सकता। अन्तसमय में उन्हें वही याद आवेगा, जिस में उनका मन सदा से फंसा हुआ होगा। अतः मोक्ष चाहने वालों को पहिले से ही परब्रह्म के ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। बचपन से उसी परब्रह्म में ध्यान लगाने की चेष्टाएँ करते रहने से अन्तमें भी उसी का ध्यान रहेगा। अन्तसमय में जो परब्रह्म का ध्यान करता हुआ चोला छोड़ेगा वह पूर्ण ब्रह्म में लीन होजा-यगा। अन्तकाल में सदा के अभ्यास के कारण मनुष्य की जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही देह मिलती है।

(मू०) तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

(५)

(छा०प०) करतेहुए मेरा स्मरण मन बुद्धि कर अर्पण मुझे।
कर युद्ध भारत! हो न आरत फिर मिलूंगा मैं तुझे ७,

जो चपल चंचल चित्त की गति रोककर के चाव से।
हैं ध्यान करते दिव्य दीनानाथ का सद्भाव से ॥८॥

अर्थ—इस वास्ते तू हर समय मुझे याद करता हुआ युद्ध कर। मुझ में मन और बुद्धि लगाने से तू मुझे निश्चय ही पावेगा ॥७॥

जो अभ्यास योग से युक्त हैं, जिसका चित्त किसी ओर नहीं जाता, ऐसे बुद्धि वाला मनुष्य ध्यान करने से परम दिव्य पुरुष को पालेता है ॥८॥

भावार्थ—हे अर्जुन ? तू हरदम अपना मन और बुद्धि मुझमें लगाकर मेरी याद किया कर, जिस से अन्तकाल में मुझे ही याद करता हुआ शरीर छोड़े और मेरे ही पास पहुंचे। अब अन्तःकरण की शुद्धि के लिये युद्ध करके अपना कर्त्तव्य पालन कर क्योंकि बिना अन्तःकरण के शुद्ध हुए मेरा याद आना कठिन है।

जो मनुष्य निष्काम हो कर कर्म करता, है उसी का अन्तः करण शुद्ध होता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, वही परमेश्वर का ध्यान कर सकता है। आगे भगवान उस परम पुरुष को बताते है कि वह कैसा है सुनोः—

(मू०) कविं पुराणमनुशासितारं,
मणोरणीयां समनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप,
मादित्यवर्णंतमसः परस्तात् ॥९॥

[९]

(भा०प०) अति सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म सूर्य्य स्वरूप जो सर्वेश है।
सर्वज्ञ सर्वाधार और अचिन्त्य जो प्राणेश है॥
सब का नियन्ता सृष्टि कर्त्ता परम प्रभु जो गेय है।
उसका करे वह ध्यान जो जगदीश जग का ध्येय है ९

अर्थ—वह सर्वज्ञ है, अनादि है, सब जगत का शासन कर्त्ता है, निहायत छोटे रेजे से भी छोटा है, अचिन्त्य रूप है सूर्य्य के समान प्रकाश मान है अज्ञान अथवा प्रकृति से परे है॥८॥

(मू०) प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

[७]

(आ०पा०) जो प्राण भृकुटी मध्यस्थापित कर स्मरण करता हुआ ।
एकाग्र निश्चल ईशमें मनलीन कर रमता हुआ ॥
यह प्रेम रस पियूष पीता योग बल से अन्त में ।
मिलता सहज सो प्रेम के भण्डार श्रीभगवन्त में ॥१०॥

अर्थ— जो मनुष्य अन्त काल में भक्ति और योग से युक्त हो कर, मन को एक जगह लगा कर, दोनों भौंओं के बीच में प्राणों को अच्छी तरह ठहरा कर उस दिव्य पुरुष का स्मरण करता है वह उस दिव्य पुरुष को पालेता है यानी उस में मिल जाता है। ॥१०॥

भावार्थ—परमात्मा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों काल का देखने वाला है। उसका आदि अन्त नहीं है, यानी वह जगत का कारण है। वही सब जगत को नियम पूर्वक चलाता है। वह छोटे से छोटे ज़र्रों अथवा कण से भी छोटा है। यद्यपि वह सब जगह है। तथापि उसकी मूरत का ध्यान में आना कठिन है। वह अपने नित्य चैतन्यस्वरूप से सूरज के समान प्रकाशमान और अज्ञान रूपी अन्धकार यानी प्रकृति से परे है।

बारम्बार समाधि लगाने के अभ्यास से जिसका चित्त स्थिर होगया है। अगर वह मनुष्य पहले हृदय कमल में अपने चित्तको वश करके और पीछे

ऊपर जाने वाली सुषुम्ना नामक नाडी द्वारा प्राणों को ऊपर चढ़ाकर दोनों भौंओं के बीच में अच्छी तरह स्थापन करके अन्तसमय में परमात्मा को याद करता है वह परम दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है।

अबतक भगवान ने परमेश्वर के ध्यान करने की रीति बताई। अब वह उस परमेश्वर का एक नाम, जिस से उसे याद करना चाहिये, नियत करते हैं।

(मू०) यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

(८)

(भा०प०) कहते जिसे वेदज्ञ अक्षर जायँ जहँ योगी यती ।
जिस परम-पद प्राप्त्यर्थ पालें ब्रह्मचर्य महाव्रती ॥
कहता तुझे संक्षेप से हूं परम-पद वह सुन सखे ।
तम जाय मिट ॐकार ब्रह्म-ज्ञान हिय जिससे लखे ११

अर्थ—वेद के जानने वाले जिसे अक्षर अविनाशी कहते हैं राग, द्वेष रहित संन्यासी जिसको यत्न करके पाते हैं।

जिसके चाहने वाले ब्रह्मचर्य्य व्रतको पालन करते हैं, उस "पद" को संक्षेप से मैं तुझसे कहूंगा ॥१३॥

भावार्थ—जिन को वेद का ज्ञान है वे उस अक्षर अविनाशी को उपाधि रहित कहते हैं, अर्थात् उसे वह स्थूल, सूक्ष्म आदि विशेषणों से रहित मानते हैं।

राग द्वेष रहित संन्यासी सच्चा ज्ञान होने पर उसे पाते हैं। जिस अक्षर ब्रह्म के जानने के लिये ब्रह्मचारी गुरु के पास रहकर वेदान्त आदि शास्त्रों को पढ़ते हैं उस अक्षर अविनाशी ब्रह्मपद को मैं तुझसे कहूंगा।

(मू०) सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

(६)

(भा०प०) कर बन्द इन्द्रिय द्वार मन को हृदय गृह में थिर किये।
हो योग स्थित निज प्राण मस्तक तक चढ़ा जिसने दिये १२
ध्यावे मुझे ओंकार अक्षर ब्रह्म रट रटता रहे।
देहान्त पुनि होजाय उसको परमपद निश्चय लहे १३

अर्थ—हे अर्जुन! जो सब द्वारों को बन्द करके, मन को हृदय में रोककर, प्राणों को मस्तक में ठहरा कर, योग में स्थिर होकर ॥१२॥

ब्रह्मरूप एकाक्षर ॐ का उच्चारण करता हुआ और मुझे याद करता हुआ इस देह को छोड़कर जाता है, वह परम गति को पाता है ॥१३॥

भावार्थ—जो मनुष्य आंख, नाक, कान, आदि द्वारों को अपने अपने विषयों से रोककर, मनको सब ओर से हटाकर, और हृदय कमल में ठहरा कर प्राणों को पहले भौओं के बीच में स्थापित करके पीछे उससे भी ऊपर मस्तक में स्थापित करके मरने के समय "ॐ" इस प्रणव मन्त्रका उच्चारण करता हुआ और मुझ अविनाशी सर्वव्यापी परमेश्वर का ध्यान हुआ सुषम्ना नामक नाडी की राह से इस शरीर को छोड़ता है।

परम गति को प्राप्त होता है। फिर ईश्वर के प्राप्त होने पर जन्म नहीं होता।

(मू०) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

(१०)

(भा०प०) श्रद्धा सहित भजता मुझे जो सर्वदा सब काल में ।
वह नित्य रत योगी सुलभ पाता मुझे हर हाल में ॥१४॥
यों सिद्ध पद को पाय जो पाते मुझे फिर वे सभी ।
पाते न नश्वर देह दुःखद पार्थ ! क्षणभंगुर कभी ॥१५॥

अर्थ—हे अर्जुन ? जो मुझ में चित्त लगाकर जीवन भर मेरीही याद करता है, उस एकाग्र चित्त वाले योगी को मैं सहजमें मिलजाता हूं ॥१४॥

मुझे पाकर वह दुःखों के स्थान भूत और अनित्य जन्म को नहीं पाता, क्योंकि मेरे पालेने पर उस महात्मा को परम सिद्धि मिलजाती है ॥१५॥

भावार्थ—जो मेरा अनन्य भक्त है, जिसका चित्त सिवाय मेरे किसी में नहीं है, जो नित प्रति जीवन भर मेरी ही याद करता है, जो एकाग्र चित्त है वह योगी मुझे सहज में पालेता है। अतः मनुष्यों को सब छोड कर, मुझमें स्थिर चित्त होकर ध्यान लगाना चाहिये। मुझ, परमेश्वर के सहज में पाजाने से क्या लाभ है। सुन—

मुझ ईश्वर के पास पहुंच जाने या मुझे पाजाने पर उसे फिर जन्म नहीं लेना पडता। जन्म दुःखों का भण्डार है क्योंकि काया में अनेक कष्ट

होते हैं और जन्म लेकर फिर मरना पडता है। जब महात्मा लोग परमोच्चपद मोक्ष को पाजाते हैं, तब उन्हें फिर जन्म नहीं लेना पडता। परन्तु जो मेरे पास नहीं पहुंचते या मुझे नहीं पाते उन्हें फिर पृथ्वी पर आना पडता है।

(प्रश्न) जो लोग आपको छोडकर और और देवताओं के पास जाते हैं क्या उन्हें पृथ्वी पर फिर आना होता है! सुनो—

(मू०) आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

(११)

(भा०प०) शुभ कर्म से है स्वर्ग मिलता पुण्य फल मिलता यहां।
पुण्यांश होता अन्त ज्योंही जन्म होता फिर यहां॥
स्वर्गादि पाकर भी न अर्जुन! कर्म बन्धन छूटता।
कौन्तेय! पाते ही मुझे पर कर्म बन्धन टूटता ॥१६॥

अर्थ—ब्रह्मलोक को लेकर और जितने लोक हैं, उन सब को फिर पृथ्वी पर आना पडता है। हे अर्जुन? लेकिन मेरे पास पहुंच कर, फिर जन्म लेना नहीं पडता ॥१६॥

भावार्थ—ब्रह्म लोक सहित सब लोकों को क्यों लौटना पडता है? क्योंकि इनका समय नियत है किस तरह?

(मू०) सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणोविदुः ।
रात्रिंयुग सहस्रान्तां तेऽहोरात्र विदोजनाः ॥१७॥

(१२)

(आ०प०) सुन एक ब्रह्म दिवस होता सहस्त्र युग का तात ! है।
हे पार्थ ? होती सहस्त्र युग की एक ब्रह्मा रात है ॥
यों जानते जो तत्वतः वे काल हैं पहचानते ।
हैं काल के परिमाण को वे ही भली विधि जानते ॥१७॥

अर्थ—केवल वही लोग दिन और रात को जानते हैं जो यह जानते हैं कि ब्रह्मा का दिन एक हज़ार चौकड़ी युगों का होता है और रात भी एक हज़ार चौकड़ी युगों की होती है ॥१७॥

भावार्थ—जानना चाहिये, युग चार होते हैं (१) सतयुग (२) त्रेता, (३) द्वापर (४) कलियुग ।

(१) सत्ययुग का समय १७२८००० सत्रह लाख अट्ठाईस हज़ार वर्ष
(२) त्रेता, का समय १२९६००० बारहलाख छियानवे हज़ार वर्ष
(३) द्वापर का समय ८६४००० आठलाख चौसठ हज़ार वर्ष
(४) कलियुग का समय ४३२००० चार लाख बत्तीस हज़ार वर्ष, इन चारों युगों के समय—वर्ष—का योग ४३२०००० तेतालीसलाख बीस हज़ार वर्ष हुऐ ।

इसतरह तेतालीस लाख बीस हज़ार वर्ष के समाप्त होनेपर चारों युग एक एकवार होते हैं और जब यह चारों युग एक हज़ार बार बीतलेते हैं तब ब्रह्मा का एक दिन होता है, यानी ४३२०००० तेतालीसलाख बीस हज़ार वर्ष की आयु वाले एक हज़ार युगों के बीतने पर; यानी ४३२००००×१००० = ४३,२०,००००० यानी चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का ब्रह्मा का केवल एक दिन होता है। इसीतरह और एक हज़ार बार

चारों युग बीतने पर ब्रह्मा की एक रात होती है। ऐसे ऐसे तीस दिन रात का एक महीना होता है, और बारह महीनों का एक वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्ष पूरे होने पर ब्रह्मा की तमाम उम्र होजाती है, क्योंकि उस की उम्र १०० वर्ष ही की है। जब ब्रह्मा स्वयं इतनी आयु भोगकर नाश होजाता है, तब इस लोक के रहने वालों का नाश क्यों न होगा ! इसी तरह सब लोकों के समय की सीमा बंधी हुई है। इसीलिये उन्हें फिर आना पडता है अथवा फिर जन्म लेना पड़ता है।

आगे भगवान यह बताते हैं कि ब्रह्मा प्रजापति के दिन में क्या होता है और रात में क्या होता है।

(मू०) अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

[१३]

(भा०प०) अव्यक्त से सब व्यक्त होते विधि-दिवस आरम्भ में
फिर लीन होते ब्रह्म में सब ब्रह्म रात्र्यारम्भ में ॥१८॥

चलती प्रकृति वश सर्वदा है जन्म लय की यह क्रिया।
ये भुतगण भी पड़ भवँर में भ्रमण हैं करते किया ॥१९॥

अर्थ—हे अर्जुन ? ब्रह्मा के दिन में यह सब चराचर जगत् कारण रूप अव्यक्त से पैदा होजाता है, और ब्रह्मा की रात होनेपर उसी अव्यक्त में लीन होजाता है ॥१८॥

यही प्राणियों का समूह दिन में बारम्बार पैदा होता और रातको नाश होजाता है और अपनी इच्छा न होते हुए भी परवश होकर दिन होने पर फिर पैदा होजाता है ॥१९॥

भावार्थ—यहां अव्यक्त शब्द से ब्रह्मा की निद्रा वस्था समझनी चाहिये। उस अव्यक्त से समस्त व्यक्ति, स्थावर, जंगम जगत ब्रह्मा के जागने पर यानी ब्रह्मा के दिन में प्रकट होजाते हैं, और ब्रह्मा के सोने के समय, रात में उस अव्यक्त में ही लीन होजाते हैं।

यद्यपि यह सृष्टि बारम्बार नाश होती है तथापि इसकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि अविद्या, कर्म और अन्यान्य पापों के कारणों से समस्त प्राणियों को बिना अपनी इच्छा के भी बारम्बार पैदा होना और नाश होना पडता है।

मतलब यह है कि ब्रह्मा से लेकर सभी लोक अनित्य; यानी नाशमान हैं। नाशमान पदार्थों से दुःख होता है, अतः नाशमान पदार्थों में मन न लगाकर शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा में मन लगाना चाहिये।

सारांश यह है कि ब्रह्मा की रात होने पर जब सृष्टि लय होजाती है तब दिन होने पर नयी सृष्टि में नये नये जीव पैदा नहीं होते। लेकिन जो जीव पहले सृष्टि नाश होने के समय लय होगये थे, अविद्या के कारण अपनी इच्छा न होते हुए भी फिर पैदा होते हैं। हरबार दिन होने पर उन्हें अपनी अविद्या के कारण से जन्म लेना पडता है और रात होने पर लय होजाना पडता है। जीव अनादि और नित्य हैं। अतः वही कर्म के वश होकर बारम्बार पैदा होते और लय होजाते हैं। हर बार नये जीव पैदा नहीं होते और पहले वाले नाश नहीं होजाते।

यहां तक भगवान ने अक्षर अविनाशी के पास पहुंच ने का रास्ता और अविद्या, काम तथा कर्म के अधीन होकर प्राणियों का बारम्बार मरना और पैदा होना बताया, लेकिन अब भगवान यह बताते हैं कि जिस के पास इस योग मार्ग द्वारा पहुंचने से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। वह ऐसा है—

(मू०) परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षरइत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

[१४]

(भा०प०) अव्यक्त ब्रह्म सनातनी है दूसरा इससे परे।
होता नहीं है नाश जिसका प्रलय पाला के परे ॥२०॥

अक्षर उसी का नाम है कहते परम गति हैं उसे।
आवागमन फिर फिर कभी होता नहीं पाकर उसे॥२१॥

अर्थ—लेकिन इस अव्यक्त से एक और भिन्न, सनातन अव्यक्त, पर ब्रह्म है। यह सब प्राणीयों के नाश होने पर भी नाश नहीं होता ॥२०॥

जो अव्यक्त और अक्षर कहलाता है, उसी को परम गती कहते हैं, जिस के पालेने पर फिर किसी को लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा परम धाम है ॥२१॥

भावार्थ—अब जिस अक्षर अविनाशी के विषय में हमें कहना है वह इस अव्यक्त से पृथक जुदा है। वह किसी अंश में भी इस अव्यक्त के समान नहीं है। वह इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता, क्योंकि उस में रूप गुण आदि नहीं हैं वह न जन्म लेता है न मरता है। वह सब जीवों के नाश होने पर नाश नहीं होता और पैदा नहीं होता। समय आनेपर ब्रह्मा से लेकर सब प्राणियों का नाश होजाता लेकिन उस का नाश कभी नहीं होता।

मतलब यह है कि सब जगत का कारण स्वरूप जो अव्यक्त है, उस अव्यक्त का भी एक कारण स्वरूप "अव्यक्त" और है। वह अव्यक्त इस जगत के कारण स्वरूप जगत के बीज अव्यक्त से भी श्रेष्ठ और ऊंचा है। यह अव्यक्त जो जगत का कारण स्वरूप है समय पाकर नाश होजाता है, किन्तु उसका कभी नाश नहीं होता। उसे शुद्ध सच्चिदानन्द, अखण्ड, नित्य, मुक्त, अद्वैत, एक रस, निराकार, शुद्ध अव्यक्त कहते हैं।

वह अव्यक्त जो अक्षर कहलाता है यानी जो अगोचर, और अविनाशी कहलाता है। उस के पालेने पर फिर किसी को संसार में नहीं आना पड़ता। वही मेरा यानी (विश्नु) का परम धाम है। अब उस परमधाम पाने के उपाय बताये जायंगे।

(मू०) पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

[१५]

(भा०पं०) सब भूत हैं रहते उसीमें सृष्टि कर्त्ता है वही ।
वह ब्रह्म पुरुषोत्तम ? सु अविरल भक्ति से मिलता सही २२
किस काल में पा मृत्यु योगि लौटते किसमें नहीं ।
मैं कहरहा हूं ध्यानसे हे पार्थ ? तुम सुनलो यहीं २३

अर्थ—हे पार्थ ? वह परम पुरुष, जिसके भीतर यह चराचर जगत् है, और जिस से सारा संसार व्याप्त है, बिना अनन्य भक्ति के नहीं मिलता ॥२२॥

हे अर्जुन ? जिस काल में योगीलोग शरीर त्यागकर फिर नहीं आते, और जिस काल में आते हैं, मैं अब उस कालका वर्णन करता हूं ॥२३।

भावार्थ—उसे पुरुष इसलिये कहा है कि वह शरीर में रहता है, अथवा इस कारण से कि वह पूर्ण है। उससे बड़ा और कोई नहीं है। वह अनन्य भक्ति यानी आत्मज्ञान से मिलता है। सब चराचर प्राणी उसके अन्दर रहते हैं। उस पुरुष से सारा जगत व्याप्त है। वह परम पुरुष तभी मिलता है जब सब को छोड़ कर उसी में भक्ति की जाती है यानी जिस के मन में सिवाय शुद्ध सच्चिदानन्द के और कोई चीज नहीं जचती, वही उसे पाता है।

अर्जुन के सामने श्यामसुन्दर रूप से तो भगवान थे ही, लेकिन उसे निराकार आत्मा का ज्ञान नहीं था, इसी से उन्हों ने उसे परम पुरुष का ज्ञान बताया।

मतलब यह है कि साकार की भक्ति करने से, बारम्बार मूर्त्ति के दर्शन करने से, अनेक देवताओं की भक्ति करने से, वह अव्यक्त का भी अव्यक्त अविनाशी परमात्मा नहीं मिलता वह मूर्त्ति आदि को छोड़कर

उसी में एक भाव भक्ति रखने वाले को मिलता है। अर्थात "मैं ही ब्रह्म-रूप हूं" इसतरह का तत्वज्ञान होने से वह परमात्मा मिलता है।

हे अर्जुन ! जिस काल में योगी लोग शरीर छोड़कर फिर नहीं लौटते और जिस काल में उन्हें लौटना पड़ता है अब ध्यान लगा कर उसे सुन ।

(मू०) अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्म विदो जनाः ॥२४॥

[१६]

(भा०प०) जब अग्नि, ज्वाला ज्योति दिन या सौर पावन पक्ष हो।
या उत्तरायण छः महीने सूर्य्य का स्थिर अक्ष हो ॥
फिर मृत्यु हो तो ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म पद पाते जहाँ ।
सुख शान्ति का सम्राज्य है, आना न होता फिर यहाँ।२४

अर्थ—हे अर्जुन ! अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में जाने वाले जो ब्रह्म को जानते हैं फिर नहीं आते ॥२४॥

भावार्थ—मतलब यह है कि अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, और उत्तरायण छः महीनों में जाने वाले, अन्त में ब्रह्म को पालेते हैं फिर उन को जन्म नहीं लेना पडता। यानी पहले ब्रह्म उपासक अग्नि के देवता के पास पहुंचते हैं, वहां से ज्योति के पास वहां से दिन के देवता के पास, वहां से शुक्लपक्ष के देवता के पास, फिर वहां से उत्तरायण के देवता के पास, पहुंचते हैं, और अन्त में ब्रह्मलोक में पहुंचकर ब्रह्म के साथ मुक्त होजाते हैं।

जिस राह में अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने इन सब के देवता हैं। उसे "देवयान" मार्ग कहते हैं। सगुण ब्रह्म

की उपासना करने वाले लोग, जो, इस, "देवयान" मार्ग से जाते हैं। सगुण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। मतलब यह है कि पहले अग्नि देवता के राज्य में पहुंचते हैं, वहां से ज्योति देवता के राज्य में, इस तरह उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए ब्रह्मलोक में पहुंचकर ब्रह्म में मिलजाते हैं।

यह देवयान मार्ग तो ऐसा है कि ब्रह्म के जानने वाले इस राह में मंजिल दर मंजिल चलते हुए ब्रह्म को पाजाते हैं, और उन्हें लौटना (जन्म लेना) नहीं पड़ता। इस राह के सिवा एक और राह है उसकी भी मंजिलें हैं और राह में अलग अलग देवता हैं लेकिन उस राह से जाने वालों को फिर लौटना पड़ता है यानी जन्म लेना पड़ता है।

(मू०) धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

(२७)

(भा०प०) यदि धूम, निशि या कृष्णपक्ष अकाल में योगी मरे।
या सूर्य होवें दक्षिणायन कर्म बन्धन नहिं टरे॥
जाता सही वह धर्म योगी चन्द्रलोक सुलोक में।
पर पुण्य फल को भोग कर आता पुनः इस लोक में २५

अर्थ—धूम, रात, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः महीनों तथा चन्द्र ज्योति इन में जो जाते हैं, वे फिर संसार में आते हैं।२५।

भावार्थ—जो ब्रह्म निष्ठ नहीं है, किन्तु कर्म निष्ठ हैं, वे धूम, रात, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः महीने इस राह से जाकर चन्द्रलोक में पहुंच कर, चन्द्रमा से प्राप्त हुए, सुखों को भोगकर, कर्मों के नाश होने पर

फिर इस मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं। इस राह का नाम "पितृयान" मार्ग है।

मालूम हुआ कि दो राहें हैं। (१) देवयान मार्ग (२) पितृयान मार्ग। जो लोग सच्चिदानन्द, अक्षर, निराकार आत्मा की आराधना करते हैं, वे क्रम क्रम से अग्नि, ज्योति, दिन आदि के देवताओं के पास पहुंचते हुए अन्त में ब्रह्मलोक में पहुंच जाते हैं, और मुक्त होजाते हैं। और जो लोग कर्म निष्ठ हैं, यानी इष्ट कर्म (अग्निहोत्र इत्यादि करना) पूर्त्त कर्म (तालाब धर्मशाला आदि बनवाना) दत्त कर्म (सुपात्रों को दान देना) कर्म करते हैं, वे स्वर्ग में जाते हैं, और वहां सुख भोगते हैं। जब उनके कर्म नाश होजाते हैं यानी जब उनके किये हुए कर्मों का फल मिल चुकता है, तब वे फिर इसी मृत्यु लोक में आकर जन्म लेते हैं।

देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग दोनों मार्गों में दूसरे से पहला श्रेष्ठ है। क्योंकि पहले से जाने वालों को फिर मनुष्यलोक में आकर जन्म लेना नहीं होता, उनकी मोक्ष होजाती है। और दूसरे पितृयान मार्ग से जाने वालों की मोक्ष नहीं होती। इन के सिवाय जो पाप कर्म करते हैं, वे नरक भोगकर फिर जन्म लेते हैं और नीच मनुष्य योनि पाते हैं, किन्तु बहुतही जो बुरे पाप करते हैं, उन्हें चौरासी लाख योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

पापी और महा पापियों से कर्म निष्ठ अच्छे हैं जो अग्निहोत्र आदि इष्ट कर्म करके कुए तालाब बावड़ी खुदा कर और परोपकारार्थ धर्मशाला आदि बनाकर स्वर्ग जाकर सुख भोगते हैं, और अपने अच्छे कर्मों का फल भोग कर फिर मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं। इन से भी वे अच्छे

हैं जो सच्चिदानन्द निराकार अविनाशी नित्य आत्माकी आराधना में लगे रहकर धीरे धीरे मुक्ति पाजाते हैं।

(मू०) शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

[२८]

(भा०प०) इस जगत के दो मार्ग हैं आते सनातन से यही ।
इक शुक्ल दूजा कृष्ण है पुनि एक दूजा मार्ग भी ॥
जो शुक्ल पथ के पथिक हैं जाकर न आते हैं कभी ।
पर कृष्ण पथ के पथिक लौ पथ भ्रान्त हो आते सभी २६

अर्थ—ये शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग संसार के सनातन मार्ग हैं। जो शुक्ल मार्ग से जाते हैं, वे फिर लौट कर नहीं आते और जो कृष्ण मार्ग से जाते हैं वे फिर लौट कर आते हैं ॥२६॥

भावार्थ—यह संसार अनादि है इसलिये शुक्ल और कृष्ण ये दो राहें भी अनादि मानी गई हैं। पहली राह का नाम "शुक्ल" इसलिये रक्खा है कि वह ज्ञान को प्रकाशित करता है। उस राह में ज्ञान से पहुंचना होता है, और उस राह में उजियाला करने वाले पदार्थ हैं। दूसरी को "कृष्ण" इसलिये कहते हैं कि वह ज्ञान को प्रकाशित नहीं करती, और उसमें अविद्या कर्म द्वारा पहुंचना होता है, और उसकी राह में धूप और रात आदि अँधेरे पदार्थ हैं।

ये दोनों राहें सब जगत के लिये नहीं हैं। इन दोनों राहों से केवल ज्ञान निष्ठ और कर्म निष्ठ होजाते हैं। ज्ञानी लोग (शुक्ल प्रकाश) वाली राह से जाते हैं और फिर जन्म नहीं लेते। जो (अज्ञानी) (कर्मी) हैं, वे

कृष्ण अंधेरी राह से जाते हैं, और सुख भोग कर फिर लौट आते हैं यानी जन्म लेते हैं।

(मू०) नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

(१९)

(भा०प०) जो हैं भली विधि जानते इनको, नहीं वे फिर कभी।
फंसते महा तम मोह में हे पार्थ ! पाते ज्ञानभी ॥
अतएव अर्जुन ! है यही उपदेश तुम योगी बनो ।
इस योग में ही रत रहो ज्ञानी बनो ध्यानी बनो ।१७।

अर्थ—हे पार्थ ? जो योगी इन दोनों मार्गों को जानता है वह धोखा नहीं खाता, इसलिये हे अर्जुन ? तू सदा योग युक्त हो ॥२७॥

भावार्थ—जो योगी यह जानता है कि इन दोनों राहों में से एकतो स्वर्ग सुख आदि भोग कराकर फिर संसारके बन्धन में ला फसाती है और दूसरी धीरे धीरे घुमा फिरा कर ब्रह्म लोक में पहुंचादेती है. और वहां उसे ब्रह्म ज्ञान में लगाकर ब्रह्मा के साथ उसकी मुक्ति करादेती है, वहकभी धोखा नहीं खाता।

आनन्दगिरि गीता भाष्य में लिखा है कि सच्चा योगी इन दोनों ही राहों को पसन्द नहीं करता। वह घूम फिर कर ब्रह्मलोक में जाना पसन्द नहीं करता वह तो ब्रह्मा से भी पहले अपनी मुक्ति चाहता है। वह ब्रह्मा

के अधीन होकर अपनी मोक्ष पसन्द नहीं करता। वहतो शुद्ध सच्चिदानन्द का ध्यान करके सीधा इसी में मिलजाना चाहता है।

इसलिये भगवान अर्जुन से कहते हैं कि तू योग में लगजा आगे भगवान योग में श्रद्धा बढ़ाने के लिये योग की प्रशंसा करते हैं:—

(मू०) वेदेषु यज्ञेषु तपः सुचैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगीपरं स्थान मुपैति चाद्यम् ॥२८॥

(२०)

(भा०प०) तप यज्ञ वेदाध्ययन अथवा दान फल सभी परे।
जो पुण्यपद हैं या उसे योगी सहज भवनिधि तरे॥
सब पुण्यफल हैं तुच्छ ही स्थायी न उनका मूल्य है।
योगी परम पद प्राप्त करता अमर और अमूल्य है २८

अर्थ—वेद, यज्ञ, तप और दान से जो फल मिलता है, योगी इस के जान जाने पर उन सब से आगे बढ़जाता है, और सर्वोत्तम कारण रूप स्थान को पाजाता है॥२८॥

भावार्थ—शास्त्रों में वेद पढ़ने के जो फल लिखे हैं, यज्ञ, तप, और दान के जो फल लिखे हैं, जो योगी भगवान के कहे हुए सात प्रश्नों के जवाबों को अच्छी तरह समझता और उनके अनुसार चलता है, वह उन

सबसे अधिक योग रूप ऐश्वर्य्य को पाता है, और वह ईश्वर के परम-धाम को पहुंचाता है जो आदि काल में भी था और वह कारण ब्रह्म को पालेता है ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे अक्षर
ब्रह्म योगो नामाष्टमोऽध्याय ।

नवमोऽध्याय ।
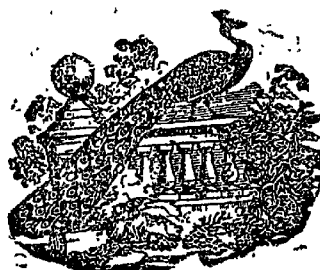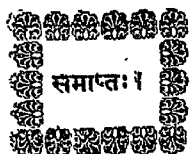
भगवान कृष्णचन्द्र ने आठवें अध्याय में सुषुम्ना नाड़ी द्वारा धारणा और उसकी क्रिया बताई है, और उसका फल ब्रह्म प्राप्ति बताया है । और आगे चलकर शुक्ल मार्ग बताया है, जहां से फिर लौटना नहीं पडता । कोई यह न समझले कि इस के सिवाय मोक्ष का और द्वार नहीं है, इसलिये भगवान अग्नि, ज्योति आदि के पास घूम फिर कर मोक्ष पाने की राह से भी सुगम राह बताते हैं । और सातवें अध्याय के अन्त में अधिभूत, अधिदेव शब्दों से जो ईश्वर की महिमा संक्षिप्त रूप से कही गयी है । इस अध्याय में उस की महिमा अच्छी तरह विस्तार से वर्णन की जायगी ।

श्री भगवानुवाच ।

(मू०) इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥२॥

[१]

भगवान ने कहा—

(भा०प०) तू दोषदर्शी है नहीं अतएव मैं उस ज्ञान को ।
विज्ञानयुत कहता तुझे सुन प्राप्त हो सद्ज्ञान को १

जो गूढतम है गुह्यतम है राजविद्या है तथा ।
उत्तम परम पावन सुलभ फल देय है जो सर्वथा २

अर्थ—हे अर्जुन ? तू गुणों में अवगुण ढूंढने वाला नहीं है। इसलिये मैं तुझे विज्ञान सहित अत्यन्त गुप्त ज्ञान सुनाता हूं, इसके जानने से तू अशुभ कर्मों से छुटकारा पाजायगा ।१॥

हे अर्जुन ? जो ज्ञान मैं तुझे सुनाता हूं, वह सब विद्याओं का राजा है, वह अत्यन्त गुप्त और अत्यन्त ही पवित्र है, वह सुगमता से समझ में आजाता है, धर्म का विरोधी नहीं है, सुख से उसका अनुष्ठान किया जा सकता है और वह नाश रहित है ॥२॥

भावार्थ—भगवान अब ऐसा ज्ञान बताते हैं जो ध्यान योग से श्रेष्ठ है, और उस शुद्ध ज्ञान से सीधी मोक्ष होजाती है। ध्यान से साक्षात मोक्ष नहीं मिलती। ध्यान से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। और अन्तःकरण के शुद्ध होने से आत्मज्ञान होता है। असल ज्ञान यह है कि सबही "वासुदेव" हैं जो यह समझते हैं, कि सभी एक ब्रह्म है, उनकी मुक्ति होजाती है। बिना अद्वैत ब्रह्मज्ञान के मुक्ति का और उपाय नहीं है। इसी लिये विद्वानों से ब्रह्मज्ञानी अच्छे समझे जाते हैं।

अठारह विद्याओं में वह सब विद्याओं का राजा है, क्योंकि उसकी महिमा भारी है, इसी से विद्वानों में ब्रह्मज्ञानी की अत्यधिक प्रतिष्ठा है, वह गुप्त विषयों का राजा है, और जितने पवित्र करने वाले कर्म हैं, उस में ब्रह्मज्ञान सब से अधिक पवित्र है। क्योंकि वह कर्म और उसकी जड़ को क्षण भर में नष्ट करदेता है यानी वह हजारों वर्षों के संचित किये हुए कर्म, धर्म और अधर्मों को पलमें नाश कर डालता है। इसके सिवाय सुख दुःख की भांति उसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। वह धर्म के विरुद्ध नहीं है। कोई खयाल करे कि उसका प्राप्त करना बहुत कठिन है सो बात नहीं है। भगवान कहते हैं, कि उसका प्राप्त करना बहुत सहज है। कोई खयाल करे कि जो काम सुख साध्य होते हैं उनका फल थोड़ा होता है, और जो कष्ट साध्य होते हैं, उनका फल बड़ा होता है इसी भांति जो ब्रह्म ज्ञान सहज में सुख से प्राप्त होता है नाश होजाता होगा, इसी वहम को दूर करने के लिये भगवान कहते हैं, कि उसका कभी नाश नहीं होता इसी से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने योग्य है।

(मू०) अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

(३)

(भा०प०) जो धर्मयुत है मर्मयुत है सुखद मधु आखदार है ।
जो कर्म बन्धन काटकर बेड़ा लगाता पार है ॥
विज्ञान मय इस ज्ञान बिन मैं तो कभी मिलता नहीं ।
मुझको बिना पाये भला भव बन्ध कटता है कहीं । ३

अर्थ—हे अर्जुन ! जो इस धर्म में श्रद्धा नहीं करते, वे मुझे न पाकर इस मरण शील संसार में घूमते रहते हैं ॥३॥

भावार्थ—जो लोग इस धर्म ब्रह्म ज्ञान में विश्वास नहीं रखते, जो इस के 'अस्तित्व' और फलों पर विश्वास नहीं रखते, जो अपने शरीर को ही आत्मा समझते हैं, वे पापी मुझ परमात्मा को नहीं पाते। मेरा पाना तो दूरकी बात है वे भक्ति को भी प्राप्त नहीं होते जो मेरे पास पहुंचने वाली राहों में से एक राह है, इसी से वे मरण शील संसार में पड़े रहते हैं जो उन्हें नरक में पहुंचाती है।

(मू०) मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

(३)

(भा०प०) मैं तो स्वयं अव्यक्त हूं पर जगत मुझसे व्यक्त है ।
मुझमें सभी हैं मैं नहीं उनमें, समझ तू भक्त है ॥४॥

मुझ में सभी हैं भी, नहीं भी, ईश्वरी करनी यही ।
योगेश्वरी लीला अनोखी देख ! मेरी है यही ॥५॥

अर्थ—मुझ से यह सब जगत् व्याप्त है, मेरी सूरत अव्यक्त है, सब जीव मुझमें बसते हैं और मैं उनमें नहीं रहता ॥४॥

वे सब प्राणी मुझ में स्थित नहीं हैं। हे अर्जुन ! तू मेरे ऐश्वर्य सम्बन्धी योग बल को देख ? सब जीवों का पालन करता हुआ, लेकिन उन में न रहता हुआ, मेरा आत्मा भूतों का कारण है ॥५॥

भावार्थ—इस समस्त चराचर जगत को मुझ परमात्मा ने व्याप्त कर रक्खा है। मेरी सूरत आंख वगैरः इन्द्रियों से नहीं देखी जा सकती। मुझ अव्यक्त में घास के पौदे से लेकर ब्रह्मा तक रहते हैं, किन्तु मैं नहीं रहता।

मतलब यह है कि जिस तरह सीपी में चांदी कल्पित है, रस्सी में सांप कल्पित है, उसी तरह मुझ सच्चिदानन्द में सब जीव कल्पित हैं। जिस तरह सीपी और चांदी का, अथवा रस्सी और सांप का कुछभी सम्बन्ध नहीं है, उसी तरह मेरा भी किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है।

पिछले दो श्लोकों में जो विषय भगवान ने कहा है उसे दृष्टान्त देकर समझाते हैं।

(मू०) यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

[४]

(भा०प०) मुझ से सभी उत्पन्न हैं पलते सभी मुझ से सही।
उनमें नहीं हूं देखलो आश्चर्य तो फिर है यही॥
रहता सदा सर्वत्र व्यापी वायु ज्यों आकाश में।
त्यों जीव हैं मुझ में समझ हो बद्ध नहिं भव पास में ६.

अर्थ—जिस तरह महान, वायु हर जगह घूमता हुआ आकाश में सदा रहता है, उसी भांति सब जीव मुझ में रहते हैं ॥६॥

भावार्थ—हम अपने अनुभव से रोज देखते हैं कि महान् वायु सब जगह घूमता हुआ आकाश में रहता है, इसी तरह मुझमें भी जो आकाश

के समान सर्वव्यापी हूं, समस्त जीव रहते हैं, लेकिन बिलकुल संस्पर्श नहीं रखते।

(मू०) सर्व भूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

प्रकृतिंस्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

[५]

(भा०प०) कल्पान्त में कौन्तेय ? मुझ में लीन होते हैं सभी।
फिर कल्प के आरम्भ में ही जन्म पाते हैं सभी ॥७॥

निज कर्म वश जो भूत गण होते प्रकृति गुण बद्ध हैं।
वे जन्म बारम्बार लेते कर्म बन्धन बद्ध हैं ॥८॥

अर्थ—हे कौन्तेय ? प्रलय के समय सब प्राणी मेरी प्रकृति में लीन होजाते हैं, और कल्पके आरम्भ में मैं उनको भिन्न भिन्न की सूरत में पैदा करता हूं ७

अपनी प्रकृति की सहायता से प्राचीन स्वभाव कर्म के परवश इस प्राणी समूह को बारम्बार पैदा करता हूं ॥८॥

भावार्थ—इतना होते हुए भी ईश्वर अपने कर्मों के बन्धन में नहीं बंधता है।

(शंका) ईश्वर जब छोटी बडी अनेक प्रकार की असमान सृष्टि रचता है, इसलिये उसे अपने कर्मों के कारण धर्म अधर्म के बन्धन में बन्धना पडता होगा। इश शंका का उत्तर भगवान आगे के श्लोक में देते हैं।

(मू०) न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

(६)

(भा०प०) इस सृष्टि का निर्माण करता हूं धनञ्जय ! आपही ।
पर कर्म बन्धन बद्ध या रहता नहीं आसक्त ही ।९।

बनकर स्वयं अध्यक्ष करवाता प्रकृति से सृष्टि हूं ।
कौन्तेय ? मैं रखता सदा इस सृष्टि लय पर दृष्टि हूं १०

अर्थ—हे धनञ्जय ? ये कर्म मुझे नहीं बांधते, क्योंकि मैं उन कर्मों से उदासीन और वेलाग रहता हूं ॥९॥

मैं अध्यक्ष हूं । प्रकृति मेरी अध्यक्षता में चराचर जगत को पैदा करती है । इसी से जगत बारम्बार उत्पन्न होता है ॥१०॥

भावार्थ—भगवान कहते हैं कि असमान सृष्टि रचना के कर्म मुझे नहीं बांधते, क्योंकि मैं आत्मा की निर्विकारता को जानता हूं, इसलिये मैं सरोकार रहता हूं, और कर्म के फल की चाहना नहीं रखता, यानी मैं कभी ऐसा खयाल नहीं करता कि मैं करता हूं । दूसरे लोग भी जब किसी कर्म को करके ऐसा नहीं समझते कि यह "कर्म हमने किया" और उसके फल की इच्छा नहीं रखते, तब धर्म अधर्म के बन्धन से छूटजाते हैं । अज्ञानी मनुष्य अपने ही कुकर्मों से इसतरह कर्म बन्धन में बंधजाते हैं, जिसतरह रेशम का कीड़ा कीट कोष में घिरजाता है ।

जगत की रचना में प्रकृति उपादान कारण है, और ईश्वर निमित्त कारण है। प्रकृति उसकी अचिन्त्य शक्ति है, वह उस से अलग नहीं हैं। प्रकृति जड है। वह सृष्टि रचना कर नहीं सकती, और अगर ईश्वर सृष्टि को रचे, तो ईश्वर में दोष लगता है, इस से मालूम होता है कि ईश्वर ही जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। जड प्रकृति ईश्वर का सहारा लेकर ही जगत की रचना करती है।

इस जगत में अधर्मियों का जीवन कैसा है सुन—

(मू०) अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

[७]

(भा०प०) जो मूढ हैं वे तो मुझे पहचानते ही हैं नहीं।
वे जानते हैं 'देहधारी' हूं 'महेश्वर हूं नहीं' ॥
'मैं कौन हूं' इसका उन्हें होता न सच्चा ज्ञान है।
रहता उन्हें निज कर्म का निज बुद्धि का अभिमान है ११

अर्थ—मूर्ख लोग मुझे सब भूतों का महेश्वर न जानने के कारण, मेरे मनुष्य शरीर में रहने के कारण मेरा अनादर करते हैं ॥११॥

भावार्थ—मूर्ख मुझे पहचानने में असमर्थ हैं। मैं उन लोगों में मनुष्य शरीर धारण करके रहता हूं, इसी से वह मेरा अनादर करते हैं। वे लोग मुझे महेश्वर, सर्व भूतों का आत्मा नहीं समझते। मेरी अवज्ञा करते रहने से इन बेचारों का नाश होता है। और नीच ऊंच योनियों में पैदा होते हैं।

(मू०) मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

[८]

(भा०प०) सब कर्म उनके व्यर्थ, आशा वस दुराशा मात्र है ।
है ज्ञान का चलता न चारा, चित्त भ्रम का पात्र है ॥
यह आसुरी है प्रकृति मोह मरीचिका जानो इसे ।
हैं अज्ञ अपनाते जिसे हैं त्यागते ज्ञानी जिसे ॥१२॥

अर्थ—ये मूर्ख मेरा अनादर इसलिये करते हैं, कि इनकी आशा फलवती नहीं है, इनके कर्म निष्फल हैं, इनका ज्ञान फल रहित है, सांसारिक दुर्व्यसनों में इनका चित्त डूबा रहता है। और ये लोग मोह पैदा करने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का आश्रय रखते हैं ॥१२॥

भावार्थ—क्योंकि मूर्ख लोग सच्चिदानन्द ईश्वर को छोड़ कर अन्य ईश्वर से मिलने की आशा रखते हैं। उनके कर्म इसलिये निष्फल हैं कि वे लोग आत्माको छोड़ कर अन्य ईश्वर को पाने अथवा स्वर्ग सुख भोगने के लिये अग्निहोत्र आदि कर्म करते हैं। उनका ज्ञान फल रहित इसलिये है कि वे लोग आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थों को सच्चा समझते हैं। उन में विचार नहीं है, इस से वे अनित्य संसारी कुकर्म्मों में लगे रहते हैं। वे राक्षसी और आसुरी स्वभाव को धारण करने के कारण पर द्रव्य परस्त्री हरण आदि करते हैं। वे शरीर के सिवाय आत्मा को नहीं समझते और खाने, पीने, पिटने, पीटने, लूट, खसोट, निन्दा, स्तुति आदि दुष्कर्म करने में लगे रहते हैं।

अधर्मियों का जीवन बताकर, अब भगवान महात्माओं का जीवन वर्णन करते हैं:—

(मू०) महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

[६]

(भा०प०) पर पार्थ ! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्मा गण सभी ।
हैं जानते, सब प्राणियों का आदि मैं हूं अन्त भी ॥
इस भांति मुझको जान वे भजते अनन्य स्वभाव से ।
वे पूजते हैं प्रेम से मुझको सदा सद्भाव से ॥१३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति का (जो अपने शरीर इन्द्रियों और मन को वश में रखते हुए दया श्रद्धा आदि को अपने हृदय में स्थान देते हैं) आश्रय रखने वाले महात्मा लोग मुझे सब प्राणियों का आदि कारण और अविनाशी समझ कर और सब ओर से चित्त हटाकर मेरी ही उपासना करते हैं ।

भावार्थ—जिनका चित्त यज्ञ आदि करने से शुद्ध होगया है, ऐसा महात्मा शरीर, इन्द्रिय और मन को वश में करके मुझे सब भूतों का आदि कारण अविनाशी समझकर मुझ अन्तरात्मा में चित्त ठहराकर मेरी उपासना करते हैं ।

(मू०) सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

[१०]

(भा०प०) मेरा सदा कीर्तन भजन करते यतन से नेम से ।
हो योग युक्त उपासते नमते मुझे वे प्रेम से ॥

कितने सश्रद्धा पूजते मुझ को सदा सद्भाव से ।
करते अनेकों ज्ञान यज्ञ विधान भी अति चाव से १४

अर्थ—वे लोग हमेशा मेरी चर्चा करते हैं, दृढ संकल्प करके मुझे पाने का उपाय करते हैं, भक्ति पूर्वक मुझे नमस्कार करते हैं और रात दिन मुझ में ही ध्यान लगाकर मेरी उपासना किया करते हैं ॥१४॥

भावार्थ—वह हमेशा मेरे, यानी अपने ईश्वर ब्रह्म के विषय में बात चीत किया करते हैं। वे सदा अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखते हैं। अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहकर प्रेम से मेरी, यानी दिल के अन्दर रहने वाले आत्मा की उपासना किया करते हैं।

(मू०) ज्ञानयज्ञेनचाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन वहुधाविश्वतोमुखम् ॥१५॥

[११]

(भा०प०) चाहे जिसे वे पूजलें मैं ही सबों का पूज्य हूं ।
जिस भांति करलें वन्दना मैं गुरु प्रणम्य सुपूज्य हूं ॥
'मैं विश्वतोमुख हूं' इसी विश्वास पर उनकी क्रिया ।
चलती सदा, वे नित्य पूजन कर्म हैं करते क्रिया १५

अर्थ—कितने ही अधिकारी ज्ञान यज्ञ से मेरी उपासना करते हैं यानी मुझ में और जीव में भेद नहीं समझते हैं, कितने ही दास भाव से भेद बुद्धि द्वारा मेरी उपासना करते हैं, कितने ही अनेक प्रकार से मुझ विश्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हैं ॥१५॥

भावार्थ—कितने तो मैं ही ईश्वर हूं, मुझ में और ईश्वर में कुछ भेद नहीं है, ऐसा समझ कर उपासना करते हैं। और कुछ मध्यम श्रेणी के

लोग मुझ ईश्वर को अपना मालिक और अपनेतई मुझ परमेश्वर का सेवक समझकर उपासना करते हैं। कितने ही लोग जो सुनते हैं उसे मेरा ही नाम समझते हैं, जो कुछ देते हैं या भोगते हैं उसे मेरे ही अर्पण करते हैं, इस प्रकार हरतरह से मुझ परमात्मा को ही स्मरण करते हैं।

अथवा यों समझिये कि कितने ही लोग सच्चिदानन्द ईश्वर को सब भूतों में समझते हैं कुछ लोग जीव और ईश्वर को एक समझते हैं उनका सबका ऐसा विचार है कि हमही परमेश्वर हैं, हम में और परमेश्वर में भेद नहीं है, जो परमेश्वर है सो हम हैं। कितने लोग परमेश्वर को अनेक प्रकार का समझते हैं, यानी ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य्य, चन्द्र, गणेश, राम, कृष्ण आदि को परमात्मा का मूर्तिमान रूप समझते हैं। ये तीनों ही दर्जे बदर्जे अच्छे हैं। अन्त में तीनों ही प्रकार के महात्मा उस पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द निराकार निर्विकार परमात्मा को पाजाते हैं।

(शंका) भिन्न भिन्न प्रकार से उपासना करके वे लोग एक परमेश्वर की उपासना किस तरह करते हैं। इसका उत्तर भगवान आगे के चार उपासना के श्लोकों में देते हैं।

(मू०) अहंक्रतुरहंयज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताऽहमस्यजगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यंपवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥१७॥

[१२]

(भा०प०) मैं यज्ञ मैं औषध स्वधा मैं मन्त्र हूं मैं हव्य हूं। मैं अग्नि में आहुति तथा मैं ही हवन का द्रव्य हूं १६

माता, पिता, धाता, पितामह विश्व का आधार हूं ॥
जो गेय पावन है वही ऋक् साम यजु ॐकार हूं १७

अर्थ—मैं ही क्रतु हूं, मैं ही यज्ञ हूं, मैं ही स्वधा हूं, मैं ही औषध हूं मैं ही मन्त्र हूं, होम का साधन घी मैं हूं, मैं ही अग्नि हूं, और मैं ही हवन हूं ॥१६॥

हे अर्जुन ? इस जगत का पिता मैं हूं, माता मैं हूं, धाता मैं हूं, पितामह मैं हूं, जानने के योग्य मैं हूं, पवित्र मैं हूं, ओंकार मैं हूं, ऋगवेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं हूं ॥१७॥

भावार्थ—अग्निष्टोमादि श्रौत कर्म को 'क्रतु' कहते हैं। अतिथि अभ्यागत की पूजा इत्यादि पंचयज्ञों को 'यज्ञ' कहते हैं। पितरों को जो अन्न दिया जाता है उसको 'स्वधा' कहते हैं। जो चावल आदि अन्नों को जिन्हें मनुष्य खाते हैं, और जिनसे रोग नाश होते हैं 'औषध' कहते हैं। स्वाहा-स्वधा ये शब्द वेद के हैं, इन्हीं से हवन किया जाता है इन्हें 'मन्त्र' कहते हैं। इन मन्त्रों से जो अग्नि में घी डाला जाता है उसे 'आज्य' कहते हैं। जिस अग्नि, हवन में सामग्री डाली जाती है वह 'अग्नि' कहलाती है।

इस जगत का पैदा करने वाला, पालन पोषण करने वाला, कर्मों का फल देने वाला, वेदादि प्रमाणों का विषय, प्रमेय और चैतन्य मैं ही हूं, सब वेद मेराही प्रति पादन करते हैं; ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूं, ॐ प्रणव मैं ही हूं।

(मू०) गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणंसुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षंनिगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

[१३]

(भा०प०) मैं विश्वपालक गति सखा साक्षी निवास-स्थान हूं ।
उत्पत्ति स्थिति लय शरण अव्यय बीज और निधान हूं १८

हो जलद जल देता उसे फिर रोक देता आप हूं ।
मैं मृत्यु अमृत सत असत रिपु मित्र अपने आप हूं १९

अर्थ—हे अर्जुन ? इस सब संसार की गति मैं हूं, सब का पालन करने वाला मैं हूं, सबका स्वामी मैं हूं, सब बुरे भले कामों का गवाह (साक्षी) मैं हूं, सबका निवास स्थान मैं हूं, सब का शरण स्थान मैं हूं, सब का बिना कारण हितकारी मैं हूं, सबके पैदा होने की जगह या पैदा करने वाला मैं हूं, प्रलय मैं हूं, संसार की प्रलय स्थान मैं हूं, सबका बीजरूप मैं हूं, अविनाशी नाश न होने वाला मैं हूं ॥१८॥

हे अर्जुन ? मैं ही सबको तपाता हूं, मैं ही जल बरसाता हूं, और मैं ही उसे रोकलेता हूं। मैं ही अमरत्व और मृत्यु हूं। मैं ही सत्य असत्य अथवा स्थूल सूक्ष्म और प्रपञ्च हूं ॥१९॥

भावार्थ—कर्मों का फल मैं ही हूं। प्राणी जो कुछ करते और नहीं करते उसका देखने वाला साक्षी मैं हूं। मैं वह हूं जिस में सब जीवधारी रहते हैं। मैं ही दुखियों का शरण स्थान हूं। जो मेरे पास आते हैं मैं उन्हें सङ्कट से छुडाता हूं। अतः मैं बिना किसी भांति के बदले की आशा के भलाई करता हूं। जगत का आदि मैं हूं। जगत मुझमें ही ठहरा रहता है। और मुझमें ही जाकर नाश होजाता है।

मैं वह अविनाशी जीव हूं, जिस से जगत पैदा होता है। संसार में प्रत्येक चीज बीज से ही पैदा होती है। और चूंकि पैदाइस बराबर होती रहती है इससे समझा जाता है कि बीज कभी नाश नहीं होता। अब आगे भगवान वेदोक्त कर्म करने के फल बताते हैं।

(मू०) त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक,
मश्नन्ति दिव्यान्दिवदेवभोगान् ॥२०॥

[१४]

(भा०प० जो सोमयाजी अनघ एवं वेद के मर्मज्ञ हैं ।
वे स्वर्ग के लाभार्थ करते नित्य पूजा यज्ञ हैं ॥
है सुरपुरी मिलती उन्हें मिलता महा आनन्द है ।
कटता नहीं तोभी कठिन आवागमन का फन्द है २०

अर्थ—हे अर्जुन ! ऋक यजुः साम इन तीनों वेदों के जानने वाले, पापों से पवित्र होजाने वाले, यज्ञों से मेरी उपासना करने वाले, स्वर्ग लोक में जाना चाहते हैं, वे इन्द्रलोक स्वर्ग में पहुंचते हैं, और वहां देवताओं के स्वर्गीय सुखों को उपभोग करते हैं ॥२०।

भावार्थ—मनुष्य जो ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद को जानते हैं, जो सोम पीते हैं, और उसके पीने से पाप रहित होजाते हैं जो अग्निष्टोम कर्म करके वसुओं तथा अन्यान्य देवताओं की भांति मेरी उपासना करते हैं, जो अपने यज्ञ कर्मों के बदले में स्वर्ग चाहते हैं, वे इन्द्र के लोक में जाते हैं और वहां अप्राकृत सुखों को भोगते हैं।

(मू०) ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

(१९)

(भा०प०) पुण्यांश फल को भोग वे आते इसी मृत-लोक में ।
भूलोक से सुरलोक में सुरलोक से भूलोक में ॥
त्रय-धर्म-पालन यज्ञ-जप से स्वर्ग-सुख मिलता सही ।
पर कर्म-बन्धन टूटता नहिं स्मरण रखना नित्य ही ।२१।

अर्थ—वे स्वर्ग सुख को भोग कर, अपने पुण्य कर्मों के नाश होने पर, फिर मृत्यु-लोक में जन्म लेते हैं, इसी भाँति तीनों वेदों के अनुसार, यज्ञादि कर्म करने वाले अपनी कामनाओं के कारण कभी स्वर्ग में जाते हैं और कभी मृत्यु-लोक में आते हैं ॥२१॥

भावार्थ—एक मात्र वेदों के अनुसार कर्म करने वाले कभी जाते हैं; और कभी लौट आते हैं। उन्हें स्वतन्त्रता कहीं भी नहीं मिलती।

(मू०) अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

(१६)

(आ०प०) भजते मुझे हैं भक्ति युत जो भक्त सच्चे भाव से ।
करता सदा मैं नित्य योग-क्षेम उनका चाव से ॥२२॥

जो त्याग मुझको अन्य देवी देवता को पूजते ।
यद्यपि न विधिवत् पर मुझे ही पार्थ ! वे भी पूजते २३

अर्थ—जो पुरुष अभेद भाव से मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं। उन नित्य योगियों को मैं इस लोक के पदार्थ देकर उनकी रक्षा करता हूं, और पीछे उनको आवागमन से छुड़ा देता हूं ॥२२।

हे अर्जुन ! जो लोग दूसरे देवताओं में श्रद्धा करके उनकी उपासना करते हैं, वह मेरी बेकायदे पूजा है, इसी कारण से उन लोगों को मुक्ति नहीं मिलती और वे आवागमन के प्रपञ्च में फसे रहते हैं ॥२३॥

(मू०) अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

(१७)

(आ०प०) संसार में जो विविध विधि के यज्ञ की प्रचलित कथा।
मैं उन सबों का सर्व-स्वामी सर्वभोक्ता हूं तथा ॥
जो जानते मुझको नहीं जिनसे न होता योग है ।
वह स्वर्ग से गिरते; न उनका छूटता भव रोग है २४

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं सब यज्ञों का भोक्ता और सबका स्वामी हूं, वे मेरे इस तत्व को नहीं जानते, इसी से आवागमन से छुटकारा नहीं पाते ॥२४॥

भावार्थ—श्रुति स्मृति में कहे हुए यज्ञों का स्वामी और भोक्ता मैं ही हूं। वह लोग मुझे ठीक तौरसे नहीं जानते; इसीसे वह बेकायदे पूजा करके

अपने किये हुए यज्ञ का फल नहीं पाते। वे लोग अपने कर्मों का मेरे अर्पण नहीं करते, इसी से उन्हें फिर लौट कर इस मृत्यु लोक में आना पड़ता है।

जो लोग अन्यान्य देवताओं की भक्ति करके मेरी वे कायदे उपासना करते हैं; उन्हें उनके यज्ञों का फल अवश्य मिलता है। देवताओं की पूजा बिलकुल वे काम नहीं होती। उनकी उपासना के अनुसार फल उन्हें अवश्य मिलता है; लेकिन कुछ समय बाद, फिर उन्हें इस दुनियां में आना पड़ता है।

अर्जुन कहने लगे कि उन्हें किसतरह ? इस दुनियां में आना पडता है।

(मू०) यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् २५

(१८)

(भा०प०) देवव्रती जाते सदा हैं देवताओं के यहां।
हैं पितर प्रेमी पहुंचते निज इष्ट पितरों के यहां॥
अन्यान्य भूतों के उपासक भिन्न भूतों के यहां।
जो भक्त मेरे हैं सभी आते सहज मेरे यहां॥२५॥

अर्थ—देवताओं के पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों के पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे उपासक मुझे प्राप्त होते हैं २५॥

भावार्थ—ब्रह्मा; विष्णु; महेश; राम; कृष्ण; सूर्य; इन्द्र आदि के पूजने वाले उनके ही पास जाते हैं। श्राद्ध आदि करके पितरों के पूजने

वाले पितरों के पास जाते हैं। भूतों के पूजने वाले भूतों में जा मिलते हैं। मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप आत्माकी उपासना करने वाले मुझ निर्विकार निराकार परमानन्द स्वरूप को पाते हैं।

मेरे भक्तों को अनन्त फल ही नहीं मिलता; बल्कि उनको ऐसा स्थान मिलजाता है; जहां से फिर इस दुनियां में लौटना नहीं पडता तिसपर भी उनके लिये मेरी उपासना सहज है; यानी परमात्मा की भक्ति में सुविधा है।

अर्जुन कहने लगे कि कैसे ! तब भगवान कहते हैं सुन—

(मू०) पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

(२६)

(भा०प०) देता मुझे जो प्रेम पत्ते; पुष्प; जल; फल प्रेम से ।
उस भक्त की मैं भक्ति भेंट सहर्ष लेता नेम से ।२६।

जो दान तप भोजन हवन होमादि करते हो सभी ।
अर्पण करो कौन्तेय ! मुझको मुक्त तुम होगे तभी २७

अर्थ—हे अर्जुन ! जो कोई भक्ति पूर्वक पत्र फल फूल जल मुझे अर्पण करता है, शुद्ध चित्त और भक्ति से अर्पण की हुई उस वस्तु को मैं अंगीकार करता हूं ॥२६॥

हे अर्जुन ! तू जो कुछ करता है, तू जो कुछ खाता है, तू जो कुछ हवन करता है, तू जो कुछ देता है और तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर २७,

भावार्थ—अन्यान्य देवताओं की उपासना के लिये बड़ी बड़ी चीजों की जरूरत है; किन्तु मैं तो एक मात्र भक्ति से ही सन्तुष्ट होजाता हूं। इसलिये जो कुछ कर्म करे वह सब मेरे लिये ही कर ऐसा करने से तुझे क्या लाभ होगा उसे सुन—

(मू०) शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

(२०)

भा०प०, जब सब शुभाशुभ कर्म फल अर्पण करोगे तुम मुझे ।
हो पाप पुण्य विचार बन्धन मुक्त पाओगे मुझे ॥
स्वच्छन्द विचरोगे सदा तुम कर्म बन्धन मुक्त हो ।
यों शीघ्र पालोगे मुझे संन्यास युक्त विमुक्त हो २८

अर्थ—ऐसा करने से तू शुभ अशुभ फल देने वाले कर्मों के बन्धन से छूट जायगा, संन्यास योग में युक्त होकर और मुक्ति पाकर तू मेरे पास पहुंच जायगा ॥२८॥

भावार्थ—जब तुम अपने हरकाम को मेरे अर्पण करते रहोगे; तो जीते जी कर्म बन्धन से छुटकारा पा जाओगे; और इस काया के नाश होने पर मेरे पास पहुंच जाओगे।

(शंका) इन बातों से तो मालूम होता है; कि ईश्वर में राग और द्वेष है। क्योंकि वह अपने भक्तों पर दया रखता है; किन्तु दूसरों पर नहीं।

तब भगवान् कहते हैं कि नहीं ऐसी बात नहीं है सुन—

(मू०) समोऽहं सर्व भूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२६॥

(२१)

(भा०प०) मैं एकसा सब के लिये हूं हैं मुझे सब एकसा।
है प्रिय अप्रिय कोई नहीं रहता न कुछ भी भेदसा॥
रहते मुझी में भक्त वे भजते मुझे जो नेम से।
रहता सदा मैं उन सबों में नित्य ही अति प्रेम से २९॥

अर्थ—मैं सब प्राणियों के लिये एकसा हूं, न कोई मेरा वैरी है और न कोई मेरा प्यारा है जो भक्ति पूर्वक मेरी उपासना करते हैं वे मुझ में और मैं भी उनमें हूं ॥२९॥

भावार्थ—मैं अग्नि के समान हूं; जिस तरह अग्नि उनका शीत हरती है जो उस के पास होते हैं। और जो उस से दूर रहते हैं उनका शीत नहीं हरती; इसी तरह में अपने भक्तों पर कृपा रखता हूं। अथवा यों समझिये कि सूक्ष्म रूप से अग्नि सर्वत्र व्यापक है परन्तु साधनों द्वारा प्रकट करने से ही प्रत्यक्ष होता है; वैसे ही सब जगह व्यापक मुझ परमेश्वर को भक्ति से भजने वाले ही साधनों द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके पालेते हैं। और इसी कारण जो मेरी भक्ति में लगे रहते हैं वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए शुद्ध चित्त होजाते हैं; मैं उनके पास हर समय रहता हूं क्योंकि उनका अन्तःकरण मेरे रहने के लिये योग्य स्थान बन जाता है अधिक प्रेम करता हूं। जिस भांति सूर्य्य की रोशनी सब जगह रहती है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब अक्स स्वच्छ दर्पण पर विशेष पड़ता है। इसी

तरह जिस का चित्त भक्ति के प्रभाव से साफ होजाता है; उन में मैं परमात्मा मौजूद रहता हूं।

भगवान अर्जुन से कहते हैं कि अब मैं तुझे बतौता हूं कि मेरी भक्ति कैसी उत्तम है; जिस भक्ति से नीच भी मुक्ति पाजाते हैं।

(मू०) अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

(२२)

(भा०प०) होवे दुराचारी न क्यों भजता मुझे जब चाव से ।
तो है बड़ा ही साधु वह जो भक्ति करता भाव से ३०

बनता महात्मा शीघ्र वह पाता सुशान्ति प्रकाश है।
अर्जुन ! न मेरे भक्त का होता कभी भी नाश है ३१

अर्थ—अगर कोई नीच भी सबको छोड़ कर मेरी ही उपासना करे, तो वह वास्तव में साधु है, क्योंकि उस का विश्वास ठीक है ॥३०॥

मेरा अनन्य भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा होजाता है और मुक्ति पाता है। हे कुन्ती पुत्र ! तू इस बात को अच्छी तरह जानले कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता ॥३१॥

भावार्थ—चाहे वह कैसा ही नीच दुराचारी है यदि वह अनन्य भाव से सब कुछ त्याग कर; मेरे ही भजन मे विह्वल होजाता है; वही साधु है

क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है; अर्थात उसने भली भांति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के सिवाय और कुछ नहीं है।

इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा होजाता है; और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है; और ऐसा मेरा सच्चा और प्यारा भक्त नष्ट नहीं होता है।

(मू०) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पाप योनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ।३२।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

(२३)

(भा० प०) मेरे भरोसे पार्थ! पाते हैं परम गति पतित भी ।
हों वैश्य, अन्त्यज; नारियां; या शूद्र हों पद दलित भी३२

क्या हरिजनों राजर्षियों और क्षत्रियों की बात है ।
वे पुण्य कर्मा हैं उन्हें मिलता परम-पद तात! है ३३

अर्थ—हे अर्जुन! मेरी शरण आने से पापी, वैश्य, स्त्री और शूद्र उत्तम गति मोक्ष को पाते हैं ॥३२॥

पुण्यात्मा ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों का तो कहना ही क्या है इस अनित्य सुख रहित लोक को पाकर तू मेरा भजन कर ।३३॥

भावार्थ—चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष हो चाहे कोई किसी वर्ण का क्यों न हो जो ईश्वर को भजता है वही उत्तम गति मोक्ष पाता है। ईश्वर

किसी के ऊंचे नीचे कुलको नहीं देखता। वह तो एक मात्र भक्ति चाहता है। लोकोक्ति भी है कि "हरि भजे सो हरिका होई, नीच ऊंच पूछे नहिं कोई"।

फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण जन यानी हरिभक्त तथा राजर्षि और क्षत्रिय आदि परम गति को प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुख रहित और क्षणभंगुर इस शरीर को याद कर निरन्तर मेरा ही भजन कर अर्थात मनुष्य शरीर बड़ा दुर्लभ है, परन्तु है नाशमान और सुख रहित, इसलिये काल का भरोसा न करके तथा अज्ञान से भासने वाले विषयों के सुख भोगों में न फस कर तू सदा मेरा ही भजन कर।

(मू०) मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

[२४]

(भा०प०) सुख रहित नश्वर जगत्त में रहते हुए भजलो मुझे ।
पूजन करो मेरा, प्रणाम करो मुझे पा लो मुझे ॥
मद्-मोह-माया त्याग कर बस एक मुझ में मन लगा ।
हो योग युत भजते रहो मुझ को समझ अपना सगा ३४

अर्थ—हे अर्जुन ? तू अपना मन मुझ में लगा, मेरी ही भक्ति कर, मेरा ही यज्ञ कर, मुझे ही सिर झुका, मुझ में ही तत्पर रह, इस तरह करने से तू मेरे पास पहुंच जायगा ॥३४॥

भावार्थ—केवल मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा में ही अनन्य प्रेम से नित्य, निरन्तर अचल मन वाला हो और मुझ परमेश्वर को ही श्रद्धा सहित निष्काम भाव से नाम, गुण और प्रभाव के श्रवण, कीर्तन, मनन

और पठन पाठन द्वारा सदा भजने वाला हो, तथा मुझ शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डलादि भूषणों से युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभ मणि धारी विष्णु का मन, वाणी और शरीर के द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से विह्वलता पूर्वक पूजन करने वाला हो और मुझ सर्व शक्तिमान् विभूति, बल, ऐश्वर्य्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य, और सुहृदता आदि गुणों से सम्पन्न सबके आश्रय रूप वासुदेव को विनय भाव पूर्वक, भक्ति सहित साष्टाङ्ग, दण्डवत्, प्रणाम कर इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्मा को मेरे में एकी भाव करके, मेरे को ही प्राप्त होवेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे राजविद्या राजगुह्य योगो नाम नवमोऽध्याय ।
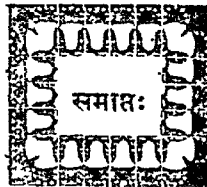
सातवें और नवें अध्याय में कृष्ण भगवान ने ईश्वर की विभूतियों का वर्णन संक्षेप में किया अब उन्हें विस्तार से फिर कहते हैं, क्योंकि ईश्वर की विभूतियों का समझना सहज काम नहीं है।

श्री भगवानुवाच ।

(मू०) भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हित काम्यया ॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

भगवान ने कहा—

(१)

(भा०प०) जो कुछ कहा मैंने उसे सुन तुम हुए हर्षित महा ।
अतएव कल्याणार्थ तुम से और कुछ हूं कह रहा ॥

सुर गण महर्षि न जानते उत्पत्ति मेरी कब हुई ।
जानें भला कैसे सभी की सृष्टि जब मुझ से हुई ॥२॥

अर्थ—हे महाबाहो ! मेरे उत्कृष्ट वचन को तू फिर सुन। तू मुझ से प्रेम रखता है, इसलिये तेरी भलाई के लिये मैं कहता हूं ॥१॥

मेरे प्रभाव को देवता और महर्षि कोई नहीं जानते, क्योंकि मैं सब देवताओं और ऋषियों का आदि कारण हूं ॥२॥

(मू०) यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

(२)

(भा०प०) मुझको चतुर्दश भुवन का स्वामी बडा जो मानता ।
मुझको अनादि तथा अजन्मा पार्थ ! जो है जानता ॥
होता वही है मुक्त पापों से नहीं प्राणी सभी ।
मद मोह उसके दूर होते प्राप्त होता ज्ञान भी ॥३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो मुझे अजन्मा, अनादि और सारे लोकों का मालिक जानता है, वह मनुष्यों में मोह रहित है, वह सब पापों से छुटकारा पा जाता है ॥३॥

भावार्थ—क्यों कि जब देवता और महर्षियों का मैं आदि कारण हूं, मेरा आदि कारण कोई नहीं है। इस लिये मैं अजन्मा और अनादि हूं। क्यों कि मैं अनादि हूं, इस लिये अजन्मा हूं।

(मू०) बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

(३)

(भा०प०) सुखदुःख शमदम भव अभाव क्षमा अभय भय ज्ञानके ।
समता अहिंसा तुष्टि तप यश अयश आदिक दानके ॥

जो भाव नाना भाँति के सब प्राणियों में दीखते ।
वे हैं हुए उत्पन्न मुझ से सब मुझी से सीखते ॥५॥

अर्थ—हे अर्जुन ! बुद्धि, ज्ञान, अव्याकुलता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, लय, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तपस्या, दान, यश, अपयश, प्राणियों के ये सब भाव मुझसे ही होते हैं ॥४-५॥

(मू०) महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

(४)

(भा०प०) मनुदेव सप्त महर्षि उनके पूर्व के चारों तथा ।
सब जान मेरे भाव जिनसे है चली लोक प्रथा ॥६॥

जो जानते हैं योग और विभूति के इस तत्व को ।
वे योगयुत होते, कभी होते न प्राप्त ममत्व को ॥७॥

अर्थ—सात महर्षि और चार मनु ये सब मेरे मन से पैदा हुए हैं और इन्हीं से इस जगत की सारी प्रजा पैदा हुई है ॥६

जो मेरी इस विभूति और शक्ति को जानता है वह निश्चल योग से युक्त होता है इसमें सन्देह नहीं है ॥७।

भावार्थ—भृगु, मरीच, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ये सात महर्षि तथा सनकादिक चार महर्षि, एवं स्वायंभुव आदि मनु ये सब सृष्टि के आदि काल में हिरण्यगर्भ रूप परमेश्वर से पैदा हुए थे। उनसे यह सब प्रजा पैदा हुई है। मतलब यह है कि इन सब महर्षियों और मनुओं से सारी प्रजा पैदा हुई है और वे सब मुझसे पैदा हुए हैं इस से साफ जाहिर है कि मैं परमात्मा सब लोकों का स्वामी हूं।

(मू०) अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

(५)

(भा०प०) मैं जन्मदाता हूं सभी का सब मुझी से हैं हुए ।
यह जान ज्ञानी जन मुझे भजते महा हर्षित हुए ।८।

मन प्राण तन मुझ में लगा कहते हुए मेरी कथा ।
रमते मुझी में नित्य वे सन्तुष्ट रहकर सर्वथा ॥९॥

अर्थ—मैं ही सब जगत को पैदा करने वाला हूं, और मुझ ही सबकी प्रवृत्ति होती है, यह जानकर बुद्धिमान लोग मुझे प्रेम से स्मरण करते हैं ॥८॥

हे अर्जुन ! वह लोग रात दिन मुझमें ही दिल लगाये हुए और अपने प्राण भी मेरे अर्पण किये हुए, एक दूसरे को मेरा ही उपदेश करते हुए हर समय मेरी ही चर्चा करते हुए सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं।

भावार्थ—मैं परब्रह्म ही इस जगत का उत्पत्ति कारण हूं यानी मैं ही इस जगत का उपादान कारण और निमित्त कारण हूं। मुझ सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान परमात्मा की प्रेरणा से ही सूर्य्य, चांद, और समुद्र आदि अपनी अपनी मर्यादा पर चल रहे हैं। मुझ आत्मा रूप परमेश्वर से सत्ता और स्फूर्ति पाकर ही बुद्धि और इन्द्रिया नाना प्रकार की चेष्टाएँ करती हैं। जो लोग मेरे इस प्रभाव को जानते हैं, वह मुझे नित्य प्रेम भाव से याद करते हैं।

(मू०) तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्। ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

(६)

(भा०प०) भजते मुझे है योग युत हो प्रेम से जो सर्वदा ।
मैं बुद्धि देता हूं उन्हें जिससे मुझे पाते सदा ॥१०॥

अज्ञान जनित विकार तम को ज्ञान दीप प्रकाश से।
मैं दूर करता हूं न वे बंधते कभी भव पाश से ॥११॥

अर्थ—हे अर्जुन? जो सदा इसतरह किया करते हैं, और प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं ऐसी बुद्धि देता हूं जिस से वे मेरे पास पहुंच जाते हैं ॥१०॥

केवल दया करके मैं, उनकी आत्मा में बसा हुआ, अज्ञान से पैदा हुए अन्धकार को प्रकाशमान ज्ञान रूपी दीपक से नाश करदेता हूं ॥११॥

भावार्थ—जो हमेशा मेरी भक्ति रखते हैं, जो बिना किसी अपने स्वार्थ साधन के, किन्तु एक मात्र मेरे प्रेम से मेरी उपासना करते हैं। मैं उन्हें ऐसा बुद्धि योग देता हूं, जिस से वे मुझ परब्रह्म को, आत्मा को अपने ही आत्मा की तरह समझने लगते हैं, और मुझ में मिलजाते हैं। फिर उनको कोई कैद नहीं रहती।

तब अर्जुन भगवान की विभूतियों और उनकी अचिन्त्य शक्ति के विषय में सुनकर कहने लगा।

अर्जुनउवाच।

(मू०) परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवजं विभुम् ॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीपि मे ॥१३॥

(७)

अर्जुन ने कहा—

(भा०प०) हो परम पावन परमब्रह्म पवित्र जग के नाथ हो।
हो परमधाम प्रभो? अनाथों के तुम्हीं इक नाथ हो १२

हो सर्वव्यापी, सर्वविभु, अज नित्य यह कहते सभी।
ऋषि-मुनि सभी देवर्षि नारद असित देवल व्यास भी १३

अर्थ—हे कृष्ण ! आप परब्रह्म हो, परम तेजो मय हो, परम पवित्र हो, सब ऋषि तथा देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको आदि देव परम पुरुष, अज और विभु कहते हैं। आप भी अपने तईं स्वयं ऐसा ही बताते हैं ॥१२-१३॥

(मू०) सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

(८)

(भा०प्र०, कहते वही हो तुम स्वयं भी, सत्य सब मैं मानता ।
भगवन् ! तुम्हारी शक्ति व्यक्ति न देव दानव जानता १४

हे सृष्टि कर्त्ता ! देव देव ! जगत्पते ! भूतेश हे ! ।
तुम जानते हो आपको अपने स्वयं प्राणेश हे ! ।१५।

अर्थ—हे केशव ! जो कुछ आप कहते हैं, और जो कुछ ये ऋषिगण कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूं, क्योंकि आपकी उत्पत्ति के कारण को न तो देवता जानते हैं और न दानव जानते हैं ॥१४॥

हे पुरुषोत्तम ! हे प्राणों के ईश्वर ! हे प्राणियों के नियन्ता ? हे देवों के देव? हे जगन्नाथ ? आपही अपने तईं जानते हैं और दूसरा कोई आप को नहीं जानता ॥१५॥

(मू०) वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

(६)

(भा०प०) कृपया कहो मुझसे प्रभो ? निज परम दिव्य विभूतियां ।
तुम व्याप्त हो सर्वत्र जिनसे कौनसी वह शक्तियां ।१६।

चिन्तन तुम्हारा कर सदा कैसे तुम्हें मैं जान लूं ।
किस वस्तु में चिन्तन करूं कैसे तुम्हें पहिचान लूं ।१७।

अर्थ—हे कृष्ण ? आप मेरे सामने अपनी उन दिव्य विभूतियों को कहिये जिनके द्वारा आप इन लोकों में व्याप्त होरहे हैं ॥१६॥

हे योगिराज ! आपका निरन्तर ध्यान करता हुआ, मैं आपको किसतरह जान सकता हूं ? आपका ध्यान किन-किन पदार्थों में करना चाहिये ॥१७॥

(मू०) विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्म विभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१६॥

[१०]

(भा०प०) योगिन् ! कृपाकर योग और विभूतियां मुझसे कहो।
होती नहीं है तृप्ति सुनकर फिर कहो सन्तोष हो ।१८।

भगवान ने कहा—

भगवान तब निज मुख्य मुख्य विभूतियां कहने लगे।
सुनने लगा कुरुश्रेष्ठ भाषण सरस अमृत में पगे ।१९।

अर्थ—हे जनार्दन ? अपनी महिमा और शक्ति को मुझे एक बार फिर खुलासा बताइये; क्योंकि आपकी अमृत रूपी बातों के सुनने से मेरा मन नहीं भरता ॥१८॥

तब भगवान कहने लगे कि हे अर्जुन ? मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है। मेरी विभूतियां अनन्त हैं। पर मैं उनमें से मुख्य मुख्य विभूतियों का हाल सुनाता हूं ॥१९॥ सुन—

भावार्थ—यद्यपि आप अपनी विभूतियों को पहले बता चुके हैं, तथापि एकबार अपने योग और ऐश्वर्य को फिर खोल खोलकर समझाइये आपकी अमृत से सनी हुई वाणी मुझे बड़ी प्यारी लगती है। आपकी बातें सुनकर मेरा जी नहीं अघाता। जितना आप कहते हैं, उतनी ही और सुनने की इच्छा बढ़ती जाती है, तब भगवान अपनी मुख्य मुख्य विभूतियों का वर्णन करने लगे।

(मू०) अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

[११]

(भा०प०) सर्वत्र रहता हूं सदा मैं वासुदेव अनन्त हूं ॥
सब प्राणियों का आदि मैं हूं मध्य मैं हूं अन्त हूं २०

मैं विष्णु रवियों में प्रकाशों में प्रकाश दिनेश हूं ।
मैं मरुत मध्य मरीचि तारा चक्र में राकेश हूं ॥२१॥

अर्थ—हे गुडाकेश ! सब प्राणियों के हृदय में रहने वाला आत्मा मैं हूं, मैं ही सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त हूं ॥२०।

हे अर्जुन ! बारह आदित्यों में विष्णु नामक आदित्य मैं हूं; प्रकाशमान ज्योतियों में अंशुमान सूर्य्य मैं हूं, उनचास मरुत्गणों में मरीचि नाम वायु मैं हूं, तारागणों में चन्द्रमा मैं हूं ॥२१॥

भावार्थ—सब प्राणियों में रहने वाला ईश्वर का ही रूप है। वही सब का आदि, मध्य, और अन्त है। अर्थात् ईश्वर ही सब का पैदा करने वाला पालन करने वाला और नाश करने वाला है।

(मू०) वेदानां सामवेदोस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणाम् मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

[१२]

(भा०प०) मैं देव गण में इन्द्र हूं हूं साम वेदों में तथा ।
मैं चेतना हूं प्राणियों में इन्द्रियों में मन तथा ॥२२॥

मैं यक्ष-राक्षस-असुर-गण के बीच मान्य धनेश हूं ॥
मैं पर्वतों में मेरु रुद्रों में प्रसिद्ध महेश हूं ॥२३॥

अर्थ—वेदों में सामवेद मैं हूं, देवताओं में इन्द्र मैं हूं, इन्द्रियों में मन मैं हूं, प्राणियों में चेतना शक्ति मैं हूं ॥२२॥

ग्यारह रुद्रों में शंकर मैं हूं, यक्ष राक्षसों में कुबेर मैं हूं, आठ वसुओं में अग्नि मैं हूं, पर्वतों में मेरु मैं हूं ॥२३॥

(मू०) पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ॥
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

[१३]

(भा०प०) मैं अग्नि वसुओं बीच सेना नायकों में स्कन्द हूं ॥
हे पार्थ ! मैं गुरुवर बृहस्पति कुल पुरोहित चन्द हूं ॥
मैं हूं समुद्र जलाशयों में कपिल सिद्धों में तथा ॥
जप यज्ञ यज्ञों में हिमालय स्थावरों में हूं तथा ॥२४॥

अर्थ—पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति इन्द्र का पुरोहित मैं हूं, सेनापतियों में स्कन्द देवताओं का सेनापति मैं हूं, झीलों में समुद्र मैं हूं ॥२४॥

(नोट) कुछ विभूतियां इधर की उधर यानी इस श्लोक से उस श्लोक और उस श्लोक से इस श्लोक की भाषा छन्द में आगई हैं, पाठक मूल श्लोक से समझलें । भाषा छन्द में भी कोई विभूतियां छूटी नहीं हैं केवल इस की उसमें और उसकी इस में होगई हैं ।

(मू०) महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ॥
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

[१४]

(आ०प०) भृगु मान्य ऋषियों में तथा ओंकार वचनों में मुझे ।
उच्चैश्रवा निकला उदधि से जान अश्वों में मुझे ।२५।

अश्वत्थ वृक्षों में, मनुष्यों में महान नरेन्द्र हूं ।
मैं वीर ऐरावत गजेन्द्रों में महान गजेन्द्र हूं ॥२६॥
(तथा ॥२७॥)

अर्थ—महर्षियों में भृगु मैं हूं, वाणी में एक अक्षर ॐ मैं हूं, यज्ञों में जप यज्ञ मैं हूं स्थावरों में हिमालय मैं हूं ॥२५॥

सब वृक्षों में पीपल मैं हूं, देव ऋषियों में नारद मैं हूं, गन्धर्वों में चित्ररथ मैं हूं, सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूं ॥२६॥

घोड़ों में [समुद्र से निकला हुआ] उच्चैश्रवा मैं हूं, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मैं हूं ॥२७॥

(मू०) आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

[१५]

(भा०प०) नारद समस्त देवर्षियों में वज्र शस्त्रों में मुझे ।
वासुकि भुजंगन आदि कामद गाय गायों में मुझे २८

मैं चित्ररथ हूं गायकों में सृष्टि कर्त्ता काम हूं ।
जल प्राणियों में वरुण आयुध धारियों में राम हूं २९

अर्थ—शस्त्रों में वज्र मैं हूं, गायों में कामधेनु मैं हूं, पैदा करने वाला कामदेव मैं हूं, सर्पों में वासुकी मैं हूं ॥२८॥

नागों में अनन्त मैं हूं, जलचरों में वरुण मैं हूं, पितरों में अर्यमा मैं हूं, शासन करने वालों में यम मैं हूं ॥२९॥

(मू०) प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

[१६]

(भा०प०) मैं हूं अकार सु अक्षरों में भक्षकों में काल हूं ।
मैं पक्षियों में गरुड पशुओं में मृगेन्द्र विशाल हूं ३०

तू जान नागों में अनन्त नियामकों में यम मुझे ।
प्रह्लाद दैत्यों में, मगर तू जान मत्स्यों में मुझे ३१

अर्थ—दैत्यों में प्रहलाद मैं हूं, गिन्ती करने वालों में काल मैं हूं, हिरनों आदि पशुओं में सिंह मैं हूं, और पक्षियों में गरुड़ मैं हूं ॥३०॥

पवित्र करने वालों में पवन मैं हूं, योद्धाओं में राम मैं हूं, मछलियों में मगर मैं हूं, नदियों में गंगा मैं हूं ॥३१॥

(सू०) सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

(१७)

(भा०प०) द्रुतगामियों में वायु गंगा जान नदियों में मुझे ।
अध्यात्म विद्या सकल विद्या मध्य जान सखा मुझे ॥
इस सृष्टि का मैं आदि हूं मैं मध्य हूं मैं अन्त हूं ।
वाद में सिद्धान्त मैं हूं अमिट काल अनन्त हूं ॥३२॥

अर्थ—प्राणियों का आदि, मध्य, अन्त मैं हूं, विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं हूं, वादियों में सिद्धान्त मैं हूं ॥३२॥

(सू०) अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतो मुखः ॥२३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमाः ॥३४॥

[१८]

(भा०प) मैं हूं विधाता सर्वतोमुख मृत्यु हूं संहारिणी ।
जो नष्ट करती सृष्टि को होती प्रलय लय कारिणी ३३

मैं बीज भावी सृष्टि का हूं पितृ गण में अर्यमा ।
स्मृति बुद्धि वाणी कीर्ति लक्ष्मी मैं नारियों में हूं क्षमा ३४

अर्थ—अक्षरों में प्रथम अक्षर "अ" मैं हूं समासों में द्वन्द्व समास मैं हूं, अक्षय काल मैं हूं, चारों ओर मुंह वाला और सब के कर्मों का फल देने वाला मैं हूं ॥३३॥

सब के नाश करने वाली मृत्यु मैं हूं, सबके उत्कर्ष और अभ्युदय का कारण मैं हूं, स्त्रियों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूं ॥३४॥

भावार्थ—स्मृति बहुत दिनकी बात याद रखने को कहते हैं । मेधा-ग्रन्थ धारण शक्ति को कहते हैं । धृति भूख प्यास तथा किसी कार्य में नुकसान होने पर या किसी आपत्ति के आने पर न घबडाने को कहते हैं ।

(मू०) बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

[१६]

(भा०प०) मैं छन्द गायत्री समासों में सुद्वन्द्व समास हूं ।
द्वादश महीनों में सुपावन मार्गशीर्ष सुमास हूं ॥
मैं साम में हूं बृहत्साम प्रसिद्ध जिसकी है कथा ।
मैं बीज भावी सृष्टि का ऋतुराज ऋतुओं में तथा ३५

अर्थ—सामवेद के मन्त्रों में बृहत्साम मैं हूं, छन्दों में गायत्री मैं हूं महीनों में मार्गशीर्ष मास मैं हूं, ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूं ॥३५॥

(मू०) द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वं सत्ववतामहम् ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जय ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

[२०]

(भा०प०) मैं द्यूत छलियों में, धनञ्जय पाण्डवों में वीर हूं ।
कवि श्रेष्ठ शुक्राचार्य कवियों में प्रवीण सुधीर हूं ।३६।

तेजस्वियों का तेज तत्व ज्ञानियों का तत्व हूं ।
मैं विजय, निश्चय, सत्वशीलों सात्विकों का सत्व हूं ३७

अर्थ--छलियों में जुआ, तेजस्वियों में तेज, विजेताओं में जय, उद्यमियों में व्यवसाय और सत्ववालों में सत्व मैं हूं ॥३६॥

यदुवंशियों में वासुदेव मैं हूं, पाण्डवों में अर्जुन मैं हूं, मुनियों में व्यास मैं हूं, और कवियों में शुक्राचार्य मैं हूं ॥३७॥

(मू०) दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

यच्चापि सर्व भूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

[२१]

(भा०प०) मैं शासकों का दण्ड हूं मैं ज्ञानियों का ज्ञान हूं ।
मैं यादवों में वासुदेव सुध्यानियों का ध्यान हूं ॥३८॥

सब प्राणियों का बीज मुनियों में महामुनि व्यास हूं ।
रहता चराचर विश्व के सब प्राणियों के पास हूं ॥३९॥

अर्थ—दण्ड देने वालों में दण्ड मैं हूं, जय की इच्छा करने वालों में नीति मैं हूं, गुप्त पदार्थों में मौन मैं हूं, ज्ञान वालों में ब्रह्म ज्ञान मैं हूं ॥३८॥

सब बीजों का बीज मैं हूं, चराचर प्राणियों में ऐसा कोई नहीं है जिस के पास मैं न हों ॥३९॥

(मू०) नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जित मेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

(२२)

(भा०प०) मेरी अनन्त विभूतियों का अन्त मिल सकता कहां ।
संक्षेप में मैंने परन्तप ! है कहा तुझसे यहां ॥४०॥

इस सृष्टि में जो वस्तुएँ श्रीयुक्त वैभव युक्त हैं ।
ये सब हुई मुझ से इसे जो जानते वे मुक्त हैं ॥४१॥

अर्थ—हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, उनका वर्णन कोई नहीं कर सकता । मैंने जो यह अपनी विभूतियों का वर्णन किया है, संक्षिप्त है ॥४०॥

अगर तू मेरे ऐश्वर्य का विस्तार जानना चाहता है तो इस तरह जान कि जो जो वस्तु ऐश्वर्यमान, कान्तिमान और श्रीमान हैं उन सब को तू मेरे तेज से पैदा हुई समझ ॥४१॥

(मू०) अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अर्थ—हे अर्जुन ? इन सब विषयों के अलग अलग जानने से क्या लाभ होगा ? तू इतना ही समझ ले कि मैंने इस सारे जगत को अपने एक अंश से धारण कर रक्खा है ॥४२॥

भावार्थ—मैंने इस सारे जगत को अपने एक अंश से धारण कर रक्खा है। मुझ से अलग कुछ नहीं है। श्रुति है, कि यह सारा विश्व परमात्मा का एक चरण है। शेष तीन चरण अपने निर्गुण स्वयं ज्योतिः स्वरूप में स्थित हैं। इस लिये मेरे को ही तत्व से जानना चाहिये।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां, योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे विभूति योगो नाम दशमोऽध्याय ।
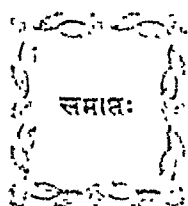
॥ विश्वरूप ॥

ईश्वर की विभूतियों का वर्णन होचुका है। अब ईश्वर का यह वाक्य सुन कर कि मैंने सम्पूर्ण जगत को अपने एक अंश से धारण कर रखा है। अर्जुन को भगवान का विश्वरूप देखने की इच्छा हुई। इसलिये अर्जुन विश्वरूप देखने के लिये प्रार्थना करता है।

अर्जुनउवाच ।

(मू०) मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

[१]

अर्जुन ने कहा—

(भा०प०) करके कृपा जो आपने मुझसे कही पावन कथा ।
सुनकर उसे जाता रहा तम मोह मेरा सर्वथा ॥१॥

हे कमललोचन ? आपने कृत् कृत्य मुझ को करदिया ।
मैंने सुना माहात्म्य पावन सफल जीवन करलिया ॥२॥

अर्थ—आपने मेरी भलाई के लिये जो अत्यन्त गूढ़ अध्यात्म ज्ञान सुनाया है उससे मेरा मोह दूर होगया है ॥१॥

मैंने आपसे जगत के पैदा होने और नाश होने का वर्णन विस्तार से सुना और हे कमल नयन ? आपका अक्षय महात्म्य भी सुना ॥२॥

भावार्थ—आपने पीछे के अध्याय में मेरी भलाई के लिये आत्मा और अनात्मा का भेद बताने वाले जो वाक्य कहे हैं । उनसे मेरा भ्रम मिट गया है । पहले जो मैं शुद्ध निर्विकार आत्मा को कर्त्ता और कर्म समझता था, अब वह बात मेरे दिल में नहीं है । अब मैं खूब समझगया हूं, कि आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द निर्विकार है । उसमें कर्त्ता और कर्म भ्रम से उसी भांति मालूम होता है । जिस भांति नाव में बैठे हुए लोगों को किनारे के वृक्ष मकान आदि चलते हुए मालूम होते हैं । परन्तु वास्तव में नाव चलती है, वृक्ष आदि नहीं चलते ।

(मू०) एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

[२]

(भा०प०) वर्णन किया है आपने हे नाथ ! जिस निज रूप का।
दर्शन किया मैं चाहता हूं आपके उस रूप का ॥३॥

यदि देख सकता हूं प्रभो ? वह रूप तो दिखलाइये।
प्रभु ? दीजिये वह शक्ति यदि असमर्थ मुझको पाइये ४

अर्थ—हे परमेश्वर ? आपने अपने तईं जैसा बयान किया है, आप वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम ? मैं ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य्य, वीर्य्य और तेज से युक्त आपका रूप देखना चाहता हूं ३।

हे भगवान यदि आप उस रूपका देखना मेरे लिये सम्भव समझते हैं, तो हे योगेश्वर ? आप मुझे अपना वह अविनाशी रूप दिखाइये ॥४॥

श्रीभगवानुवाच ॥

(मू०) पश्यमे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नाना विधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

[३]

भगवान ने कहा—

(भा०प०) भगवान ने यों देख श्रद्धा पार्थ की उससे कहा ।
देखो सहस्रों रूप मेरे जो अलौकिक हैं महा ॥५॥

देखो मरुद्गण रुद्र वसु आदित्य हैं मुझ में सभी ।
जो हैं अपूर्व जिन्हें न इसके पूर्व देखा था कभी ॥६॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तू मेरे सैकड़ों सहस्रों दिव्य रूपों को देख, मेरे रूप अनेक प्रकार के हैं। उनके अनेक रंग और अनेक आकृतियां हैं ॥५॥

हे भारत ! आदित्य, वसु, रुद्र, अश्वनीकुमार और मरुतो को देख, और अपूर्व चमत्कारों को देख ॥६॥

भावार्थ—मेरे शरीर में बारह आदित्य आठ वसु ग्यारह रुद्र दो अश्विनीकुमार और उनचास मरुतगणों को देख। और भी अनेकानेक ऐसी विस्मय जनक बातों को देख, जैसी न तो तैनें कभी देखी है, और न किसी और ही आदमी ने इस जगत में देखी है।

इतना ही नहीं—

(मू०) इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

[४]

(भा०प०) देखो चराचर विश्व प्राणी आज मेरी देह में ।
देखो सभी जो चाहते हो देखना इस देह में ॥७॥

इन चक्षुओं से योग मेरा दीख सकता है नहीं ।
देता तुम्हें हूं दिव्य चक्षु न भटक सकता जो कहीं ॥८॥

अर्थ—हे गुडाकेश ? इस मेरी देह में सारे चराचर जगत को एकही जगह देख, इसके सिवाय और जो जो तू देखना चाहता है वह भी सब देख ॥७॥

हे अर्जुन ? तू अपनी इन आंखों से सच मुच मेरे रूप को न देख सकेगा। इसी कारण से मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूं। इन से मेरे योग और ऐश्वर्य (विश्वरूप) को देख ॥८॥

भावार्थ—इस सम्पूर्ण चराचर जगत को देखने के सिवा जो जो तू देखना चाहता है वह सब देख। यानी तुझे अपनी हार जीत के विषय में जो सन्देह होगया है उसे भी मेरे शरीर में देखकर अपना भ्रम दूर करले।

दूसरे अध्याय के छठे श्लोक में अर्जुन ने अपनी हार जीत का सन्देह प्रकट किया है। इसी से भगवान ने यह ढकी बातें कही हैं, कि "तुझे और जो देखना है सो भी देखले" मैं तुझे इस विश्वरूप को देखने के लिये दिव्य दृष्टि देता हूं, क्योंकि इन आंखों से मेरे इस विराटरूप को न देख सकेगा।

संजयउवाच।

(मू०) एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

अनेक वक्त्रनयनमनेकाद्भुत दर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

संजय ने कहा—

[५]

(भा०प०) यों कह महेश्वर ने दिखाया ईश्वरीय स्वरूप को।
हा ? पार्थने देखा सु-भूषण देव दुर्लभ रूप को ॥९॥

देखे सहस्त्रों दृश्य अद्भुत नेत्र मुख गिनती नहीं ।
देखे अनेकों शस्त्र उपमा दीखती जिनकी नहीं ।१०।

अर्थ—हे राजन्! यह कहकर महा योगेश्वर श्री कृष्ण ने अपना परम ऐश्वर्य रूप दिखाया ॥९॥

उस रूप में अनेक मुख, अनेक आँखें, अनेक अद्भुत दर्शन, अनेक दिव्य आभूषण और अनेक प्रकारके दिव्य शस्त्र थे ॥१०॥

(मू०) दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

[६]

(भा०प०) देखे अनेकों आभरण जगमगित जो अति दिव्य थे ।
हा? पार्थ ने अबतक कभी देखे न ऐसे दृश्य थे ॥
आती सुगन्ध सुहावनी सर्वत्र दृश्य वसन्त था ।
था रूप क्या! आश्चर्य!! इसका आदि मध्य न अन्त था ११

अर्थ—वह रूप दिव्य मालाएँ और वस्त्र पहने हुआ था। उस पर दिव्य सुगन्धित चीजों का लेपन हो रहा था, वह रूप सब ओर से विस्मय पैदा करने वाला, प्रकाशमान, अन्त रहित था। उस के हर ओर मुख ही मुख थे ॥११॥

(मू०) दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

(७)

(भा०प०) यदि एक साथ सहस्र रवि होते उदय आकाश में ।
तो भी ठहर सकते न उनके दिव्य तेज प्रकाश में १२

छायी प्रभा प्रभु देह में थी तेज था सर्वत्र ही ।
देखा विभक्त समस्त भूमण्डल वहाँ एकत्र ही ॥१३॥

अर्थ—अगर आकाश में हजार सूर्यों का प्रकाश एक साथ हो, तो वह विश्वरूप भगवान के तेज के समान शायद हो सके ॥१२॥

अर्जुन ने उस देवों के देव के शरीर में एक ही जगह अनेक प्रकार से सारे संसार को देखा ॥१३॥

(मू०) ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे,
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ,
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

[८]

(भा०प०) यह दृश्य देखि हुआ धनञ्जय चकित पुलकित हो रहा ।
कर जोरि नतशिर हो तुरत भगवान से उसने कहा १४

अर्जुन ने कहा—

हे देव ! सुरगण आपकी इस देह में हैं दीखते ।
हा ? विश्व-प्राणी नाग-ऋषि-गण ब्रह्म भी हैं दीखते १५

अर्थ—उस विश्वरूप को देख कर अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसके रोएँ खड़े होगये । वह सिर झुकाकर और हाथ जोड़कर भगवान से कहने लगा ॥१४॥

कि हे भगवन् ? मैं आप के शरीर में सब देवताओं को, सब प्राणी समूह को, कमल पर बैठे हुए ब्रह्मा को, तमाम ऋषियों को और दिव्य सांपों को, देखता हूं ॥१५॥

भावार्थ—हे भगवन ? आपके इस आश्चर्य जनक शरीर में सारे देवताओं को, चराचर प्राणियों को, और सृष्टि के रचियता चतुर्मुख ब्रह्मा को, तथा वशिष्ठ आदि महर्षियों को एवं वासुकि आदि नागों को, देखता हूं ।

(मू०) अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं,
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं,
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥१६॥

[१६]

(भा० प०) मुख उदर बाहु अनेक आंखों युक्त रूप अनन्त हैं ।
मिलता न आदि न मध्य दिखता आपका नहिं अन्त है ॥

मैं देखता हूं आपको ही आपही सर्वत्र हैं ।
जगदीश ! मुझको देव दानव दीखते एकत्र हैं ।।१६।।

अर्थ—हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! मैं आपकी देह में हर जगह अनेक मुख, अनेक भुजाएँ, अनेक पेट और अनेक आंखें देखता हूं। न तो आपका कहीं आदि दिखाई देता न मध्य और न अन्त ॥१६॥

(मू०) किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च,
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्,
दीप्तानलार्क द्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।

[१०]

(आ०प०) सब ओर से ही जगमगित रवि अग्नि द्युति धारण किये।
सकिरीट तेज समूह सुन्दर चक्र और गदा लिये ।।
जो अप्रमेय स्वरूप जिसका देखना दुस्तर महा ।
मैं देखता हूं आपके उस रूपको प्रभुवर ! अहा ? १७

अर्थ—मुझे दीखता है कि आपने किरीट, गदा और चक्र धारण कर रक्खे हैं। आपके हर ओर तेज पुञ्ज छा रहा है। आपका रूप अग्नि और सूर्य के समान चमक रहा है उस पर नजर ठहरनी कठिन है। आपके रूपकी सीमाएँ नहीं है ।

(मू०) त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं,
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता,
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

[११]

(भा०प०) अव्यय सनातन पुरुष शाश्वत धर्म रक्षक आप हैं।
मैं समझता हूं विश्व परम निधान अक्षर आप हैं॥
देख कर यह रूप भगवन्! चित्त में आता यही।
हैं व्यर्थ जग में वस्तु सब उपमा न कोई है कहीं ।१८।

अर्थ—हे कृष्ण! आप अक्षर अविनाशी हैं, मोक्ष चाहने वालों के जानने योग्य परमब्रह्म आपही हैं, इस जगत के परम आधार आपही हैं। आपही सनातनधर्म के विनाश रहित रखवाले हैं। आपही सनातन पुरुष है, यह मेरी राय है ।१८।

(मू०) अनादि मध्यान्त मनन्तवीर्यं,
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं,
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

[१२]

(भा०प०) जो शक्तिशाली है, न जिसके आदि मध्य न अन्त है।
शशि सूर्य जिसके नेत्र जिसके उदर बाहु अनन्त हैं॥
मुख अग्नि जिसका जो तपाता विश्वको निज तेज से।
उस आपको मैं देखता हूं आपके ही तेज से ॥१९॥

अर्थ—हे कृष्ण आपका आदि मध्य और अन्त नहीं है। आपकी शक्ति का अन्त नहीं है। आपके अनेक भुजा हैं। सूर्य और चन्द्रमा आपकी आँखें हैं। जलती हुई आगके समान आपका चहरा है। आप अपने तेज से सारे जगत को तपा रहे हैं।

(मू०) द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि,
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेद,
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

(१३)

(आ०प०) आकाश पृथ्वी बीचका अन्तर भरा है आप से।
सारी दिशाएँ व्याप्त मुझको दीखती हैं आप से॥
यह देख करके उग्र अद्भुत रूप भगवन्? आपका।
हैं लोक तीनों कांपते भय मानते सब आपका ॥२०॥

अर्थ—हे कृष्ण? जमीन और आसमान के बीच की पोल और सारी दिशाओं में आप अकेले ही व्याप रहे हैं। आपके इस अद्भुत और भयंकर रूपको देख कर तीनों लोक कांप रहा है ॥२०॥

(मू०) अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति,
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

[१४]

(भा०प०) ये देवताओं के समूह प्रवेश करते आप में ।
सब देव दानव आरहे हैं जा रहे हैं आप में ॥
कितने खड़े कर जोड़ कर हैं गा रहे गुण आप के ।
कह 'स्वस्ति' सिद्ध महर्षि करते हैं विनय बहु आप के२१.

अर्थ—देवताओं के झुण्ड के झुण्ड आपकी शरण आये हैं, कितने ही भय भीत होकर आपके गुणों का बखान कर रहे हैं । महर्षि और सिद्धों के झुण्ड स्वस्ति कहकर आपकी अनेक प्रकार से स्तुति कर रहे हैं ॥२१॥

(मू०) रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याः
विश्वेऽश्विनौमरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्व यक्षा सुर सिद्ध संघाः
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

(१५)

(भा०प०) गन्धर्व यक्ष मरुत् पितर वसु रुद्र विश्वेदेव भी ।
आदित्य राक्षस सिद्ध साध्य कुमार अश्विनि देव भी ॥
हैं चकित, सबकी दृष्टि भगवन्! आपकी ही ओर है ।
फिर भी किसी को आपका मिलता न ओर न छोर है २२

अर्थ—ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वदेव, दो अश्विनीकुमार, उन्चास मरुत, पितर, गन्धर्व, देवता और सिद्ध सब आश्चर्य चकित होकर आपको देख रहे हैं ॥२२॥

(मू०) रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं,
महा बाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं,
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥

[१४]

(भा०प०) मुख नेत्र जंघे पांव उदर अनेक बाहें दीखतीं ।
विकराल रूप विराट डाढें भी भयंकर दीखतीं ॥
घबड़ा उठे भय से सभी हैं देव दानव कांपते ।
मेरी दशा भी है वही सब अंग मेरे कांपते ॥२३॥

अर्थ—हे महाबाहो ? आपके अनेक मुंह और अनेक आंखें हैं। अनेक भुजा जांघ और पैर हैं, तथा अनेक पेट हैं और अनेक डाढों से आप बहुत ही भयानक दिखाई देते हैं। आपके इस विश्वरूप को देखकर सारे लोक भयातुर हो रहे हैं, और मेरा भी वही हाल है ॥२३॥

(मू०) नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो २४

[१७]

(भा०प०) आकाश पृथ्वी व्याप्त नाना वर्ण रंजित रूप को ।
मुख नेत्र तेजस्वी विशाल भयावने इस रूप को ॥

मन देख कर घबडा उठा है धैर्य शान्ति न शेष है ।
विष्णो ! न बुद्धि रही ठिकाने ज्ञान शेष न लेष है २४

अर्थ—आपका शरीर आकाश को छू रहा है, अनेक रंगो में चमक रहा है, मुंह खुले हुए हैं, बडे बडे नेत्र आग के समान चमक रहे हैं। आपको देख कर मेरा हृदय भयभीत है। वह किसी तरह धीरज और शान्ति नहीं धारण करता ॥२४॥

(मू०) दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

[१८]

(भा०प०) प्रलयाग्नि सम मुख हैं महा विकराल इनको देखकर।
मैं ज्ञान शून्य हुआ दिशाएँ सूझनी न विशेष कर ॥
हे देव देव ! जगन्निवास ? प्रसन्न अब हो जाइये ।
विकराल रूप हटाइये अब शान्ति रूप दिखाइये ।२५।

अर्थ—आपकी डाढें, मुख भयंकर, कालाग्नि के समान मालूम होते हैं, और भयके मारे मुझे दिशाएँ नहीं सूझती, और न मुझे शान्ति मिलती है, हे देवेश ? हे जगत् निवास ? मुझपर कृपा कीजिये ।२५।

भावार्थ—आप के मुख डाढों सहित उस कालाग्नि के समान मालूम देते हैं, जो प्रलय के समय सब लोको कों भस्मी भूत कर देती है। भय के मारे मैं ऐसा ज्ञान शून्य होगया हूं कि मुझे पूरब पच्छिम आदि दिशाएँ भी नहीं जान पडती ।

उस समय अर्जुन अपने शत्रुओं की हार देख कर भगवान से कहने लगा कि हे वासुदेव ? मेरे मन में जो शत्रुओं के हराये जाने का भयथा वह भी अब दूर होगया । क्योंकि—

(मू०) अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ-
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

(१६)

(भा०प०) भगवन् ! मुखों में आप के धृतराष्ट्र सुत हैं जारहे ।
योधा हमारी ओरके भी देखिये हैं जारहे ॥२६॥

कुछ लोग दांतों में फंसे हैं जो महा विकराल हैं ।
सिर चूर कितनों के हुए कितने हुए बेहाल है ॥२७॥

अर्थ—हे कृष्ण ? धृतराष्ट्र के ये सब पुत्र, भीष्म, द्रोण, कर्ण समेत आपके मुख में जल्दी घुसे जारहे हैं । हमारी ओरके मुख्य मुख्य योधा धृष्टद्युम्न आदि भी आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं ॥२६॥

ये लोग आपकी विकराल डाढों वाले मुंह में जल्दी जल्दी घुसे जारहे हैं। इन में से कितने ही तो आपके दांतों के बीच में चिपट गये हैं और उनके सिर चूर चूर होगये हैं ॥२७॥

(मू०) यथानदीनां बहवोऽम्बुवेगाः

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोक वीराः

विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति२८

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा

विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्तिलोका-

स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः २९

[२०]

(भा०प०) जाती चली नदियां सवेग समुद्र ही की ओर ज्यों।
हैं इन मुखों में जारहे नरलोक के ये वीर त्यों ॥२८॥

ज्यों कूद पडते हैं पतिंगे काल वश हो आग में ।
त्यों जारहे हैं वीर मरने के लिये मुख भाग में ॥२९॥

अर्थ—जिस भांति नदियों की अनेक धाराएँ समुद्र की ओर दौडती हैं। उसी भांति ये नरलोक के वीर आपके प्रज्वलित मुखों में घुसे जारहे हैं २८

जिसतरह पतंग अपने नाशके लिये तेज आग में झपट कर जाते हैं उसी तरह ये सब लोग अपने नाश के लिये आप के मुखों में झपटे जारहे हैं २९

(मू०) लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।३०।

[२१]

(भा०प०) जलते मुखोंसे निगलकर सबको प्रभो ! सब ओर से ।
हैं आप जिह्वा चाटते इस ओर से उस ओर से ॥
निज तेज से सारे जगत को आपने है भर दिया ।
है आपकी जलती प्रभाने व्यग्र जगको करदिया ।३०।

अर्थ—हे विष्णो ? आप अपने प्रज्वलित मुखों से सब लोकों को खा खा कर चाटे जाते हो । आपकी उग्र कान्ति अपने तेज से सब जगत को पूर्ण करके पारही है ॥३०॥

(मू०) आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातु मिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

(२२)

(भा०प०) मुझ पर कृपा अब कीजिये, हैं कौन आप, बताइये ।
है वार वार प्रणाम मेरा भय समूल भगाइये ॥
हैं आदि आप परन्तु कौन ? प्रभो ! पता लगता नहीं ।
यह कर रहे हैं आप क्या ? आता समझ में कुछ नहीं ३१

अर्थ—हे भगवन्? आप ऐसे भयानक रूप वाले कौन हैं? मैं आपको नमस्कार करता हूं। मैं आप आदि पुरुष को जानना चाहता हूं, मैं आप के विषय में कुछ भी नहीं जानता ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच।

(मू०) कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

(३२)

भगवान ने कहा—

(भा०प०) मैं लोक भक्षक प्रलयकारी नाशकारी काल हूं।
संसार के संहार में रत काल मैं विकराल हूं॥
रिपु-सैन्य के सब वीर पार्थ? अवश्य मारे जायँगे।
मारो इन्हें तुम या नहीं सब कर्म फल तो पायँगे ३२

अर्थ—मैं लोगों के नाश करने वाला शक्तिमान काल हूं, इस समय लोकों के नाश करने में लगा हुआ हूं, ये बड़े बड़े योधा जो शत्रु सेना में सज खड़े हैं, तेरे द्वारा न मारे जाने पर भी निश्चय ही मरेंगे ॥३२॥

(मू०) तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

[२४]

(भा०प०) अतएव उठ जाओ करो यश लाभ भोगो राज्य को।
हे सव्यसाचिन्! युद्ध करके जीतलो सम्राज्य को॥
जीते नहीं समझो सभी रिपु मरचुके हैं जानलो।
हे वीर पार्थ! निमित्तमात्र बनो, यही सिख मानलो ३३

अर्थ—इस वास्ते हे अर्जुन? तू उठ और यश कमा, शत्रुओं को जीत और समृद्धशाली राज को भोग। ये तो मेरे द्वारा पहले ही मार डाले गये हैं। हे सव्यसाचिन्! (जो बांये हाथ से भी बाण चलता है) तू तो केवल निमित्त-मात्र होजा॥३३॥

भावार्थ—हे अर्जुन? तू कमर कसकर खडा होजा और इन देवताओं से भी अजेय भीष्म, द्रोण आदि को मार कर यश लूटले। मैंने इन सबको पहले ही मार डाला है। तू इनको न मारेगा तो भी ये मरेंगे। इसलिये तू इनको मारने में निमित्त मात्र होकर यशस्वी हो।

(मू०) द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

[२५]

(भा०प०) ये द्रोण कर्ण तथा जयद्रथ वीर जितने हैं यहां।
भीष्म आदिक मरचुके ये भाग सक्ते हैं कहां॥
तुम हार तो सकते नहीं रिपु जीत तुम विख्यात हो।
हे पार्थ! युद्ध करो न घबराओ विजय प्रख्यात हो ३४

अर्थ—द्रोण, भीष्म, जयद्रथ कर्ण तथा अन्यान्य और योधा मेरे द्वारा मार डाले गये हैं। इन मरे हुओं को ही तू मारडाल। मन में भय न कर, उठ, लड़; तू अपने शत्रुओं को अवश्य जीतेगा ॥३४॥

भावार्थ—अर्जुन के मनमें द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण का भय था। उनका मरण वह कठिन समझता था। दूसरे द्रोणाचार्य्य और भीष्म का लिहाज भी करता था। द्रोण अर्जुन के धनुर्विद्या सिखाने वाले गुरु थे, उनके पास दिव्य अस्त्र थे। और भीष्म किसी के मारने से नहीं मर सकते थे, क्योंकि वे इच्छा मृत्यु (इच्छा से मरना) थे। साथ ही उनके पास भी अनेक दिव्य अस्त्र शस्त्र थे। एकबार उनका और परशुराम का घोर युद्ध हुआथा उसमें भी वे न हारे। जयद्रथ के पिता ने तपस्या करके वरदान पाया था कि जो तुम्हारे बेटे का सिर काटेगा, उसका भी सिर कट कर गिर पड़ेगा। कर्ण सूर्य्य भगवान से पैदा हुए थे, उनके पास इन्द्रकी दी हुई लोक संहारिणी शक्ति थी। इन्हीं सब कारणों से अर्जुन घबड़ाता था। इसी से विश्वरूप भगवान ने कहा कि हे अर्जुन तू क्यों घबराता है ? इन सबको तो मैंने मार डाला है। मरे हुओं को मार कर तू यश लूटले।

संजयउवाच।

(मू०) एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीत भीतः प्रणम्य ३५.

[२६]

संजय ने कहा—

(भा०प०) अविवेकता वश कृष्ण का हा ? मर्म लख पड़ता नहीं ।
धृतराष्ट्र ? वाणी नेत्र भी है थकित उपमा है नहीं ॥
तव पार्थ ने कंपते हुए कर जोरि गद् गद् हो कहा ।
सिरपर किरीट सुहावना था पार्थ के सुन्दर महा ३५

अर्थ—हेराजन् ! केशव की यह बातें सुन कर, अर्जुन काँपने लगा और हाथ जोड़कर नमस्कार करने लगा जिस के सिरपर सुहावना मुकुट था भय के मारे फिर नमस्कार करने लगा और गद् गद् वाणी से बोला ।३५॥

भावार्थ—सञ्जय का इस मौके पर धृतराष्ट्र को समझाना बड़ा ही प्रयोजनीय है । कैसे ! सञ्जय को विश्वास था, कि धृतराष्ट्र महाराज अपने पुत्र को द्रोण, भीष्म, कर्ण इत्यादि के मरने से सहाय हीन समझ कर अपनी जयकी आशा परित्याग करदेंगे और सन्धि करलेंगे । इस से दोनों पक्षवालों को सुख होगा, किन्तु प्रबल भावी के वश होकर धृतराष्ट्र ने इस बात परभी कान न दिया ।

अर्जुनउवाच ।

(मू०) स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वेनमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

[२७]

अर्जुन ने कहा—

(आ०प०) अनुरक्त होता विश्व कीर्तन आपका करके अहा ! ।
चहुं ओर राक्षस भागते हैं त्रसित हो-हो कर महा॥
समुदाय सिद्धों के सभी हैं आपको नमते प्रभो ! ।
यह उचित ही है आप हैं जगदीश जब हे हे विभो ! ३६

अर्थ—हे हृषीकेश ! यह ठीक है कि आपकी महा महिमा और अद्भुत प्रभाव के कारण से जगत आपसे खुश है, और आपकी भक्ति करता है राक्षस भयके मारे दसों दिशाओं में भागे फिरते हैं, और सिद्ध लोग आपको नमस्कार करते हैं ॥३६॥

(मू०) कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

[२८]

(आ०प०) क्योंकर प्रणाम करें नहीं जब आप सबसे हैं बड़े ।
हैं आदि कारण आप ब्रह्मा के तथा उस से बड़े ॥
हे हे अनन्त ! जगन्निवास ! सुरेश ? सब हैं आपही ।
जड़, जीव भी हैं आप अक्षर ब्रह्म भी हैं आपही ३७

अर्थ—हे महात्मन् ? हे अनन्त ! हे देवेश हे जगतनिवास ? यह सब जगत आप को नमस्कार क्यों न करे, जबकि आप ब्रह्मा से भी बड़े हैं, यानी ब्रह्मा के

भी पैदा करने वाले हैं। सत असत से भी परे, जो अक्षर ब्रह्म है सो आप ही हैं ॥३१॥

(मू०) त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

[२६]

(भा०प०) हैं आदिदेव पुराण पुरुष प्रसिद्ध आप महा प्रभो! ।
हैं ज्ञेय ज्ञाता विश्व परम निधान धाम महा प्रभो?॥
हे विश्वरूप? अनन्तरूप! जगन्नियन्ता? यदुपते?।
ये विश्वसारा आपसे ही है भरा मायापते ? ॥३८॥

अर्थ—हेभगवान्! आप आदि देव और पुराण पुरुष हैं। इस सम्पूर्ण संसार के लय-स्थान आप ही हैं। आप सब के जान ने वाले हैं। आप जानने योग्य हैं। आप परम धाम हैं आप से ही यह संसार व्याप्त हो रहा है। आप अनन्त रूप हैं॥ ३८॥

भावार्थ—हे भगवन्? आप जगत के रचने वाले हैं। आप प्राचीन पुरुष हैं। जो इस जगत में जानने योग्य हैं, उसके जानने वाले आप हैं। यहां प्रलय के समय यह सब जगत आप ही में निवास करता है। हे अनन्त? आपही इस विश्व में व्याप्त हो रहे हैं। इन सब कारणों से आप नमस्कार योग्य हैं।

(मू०) वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

[३०]

(आ०प०) यम वायु पावक वरुण चन्द्र तथा प्रजापति आप हैं।
हैं आप जगदाधार प्रपितामह महामति आप हैं ॥
सादर सहस्रों बार प्रभुवर ? कोटि कोटि प्रणाम है ।
फिर भी सश्रद्धा पद कमल में बार बार प्रणाम है ३९

अर्थ—आप वायु हैं, यम हैं, अग्नि हैं, वरुण हैं, चन्द्रमा हैं, प्रजापति हैं, ब्रह्मा के पिता हैं, इसलिये हजार बार आपको नमस्कार है, और फिर भी आपको नमस्कार है ॥३९॥

भावार्थ—भगवान को बारम्बार नमस्कार करने से यह मालूम होता है। कि अर्जुन भगवान में अधिक से अधिक श्रद्धा और भक्ति रखता है इसलिये हजारों बार नमस्कार करने पर भी अघाता नहीं था।

(मू०) नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

[३१]

(आ०प०) सब ओर आगे और पीछे आप लीला धाम हैं ।
सब ओर से ही आपको अतएव नाथ ? प्रणाम है ॥

हे नाथ ! आप अनन्तवीर्य अनन्तशक्ति प्रसिद्ध हैं ।
सर्वत्र ही हैं व्याप्त इससे आप सर्व स्वसिद्ध हैं ॥४०॥

अर्थ—हे सर्व ! आपको आगे से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है, और हर ओर से नमस्कार है, आप अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य से सब में व्यापक हैं, इसी कारण से आप सर्व हैं ॥४०॥

भावार्थ—आपको पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं से नमस्कार है, और हर दिशामें नमस्कार है, क्योंकि आप सब दिशाओं में मौजूद है, जो वीर्य वान होते हैं वे साहसी नहीं होते, किन्तु आपमें अनन्त शक्ति और अनन्त साहस है । अपने एक आत्मा से आप जगत में व्यापक हैं, आपही सर्व हैं । आप के बिना कुछ नहीं है ।

(मू०) सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं ।
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

[३२]

(भा०प०) मैंने कहे जो शब्द अनुचित आपको प्रिय जानकर ।
हे कृष्ण ? हे यादव ? सखे ? इत्यादि अति अपमानकर ॥
उनको प्रभो ? सब भूल से या प्यार से मैंने कहा ।
मैं हूं क्षमा प्रार्थी हुआ अपराध मुझ से यह महा ॥४१॥

अर्थ—मैं ने आप को अपना मित्र समझकर, जो आपको हे कृष्ण ? हे यादव ? हे मित्र ? कहकर ढिठाई या प्रेम से सम्बोधन किया है, वह आपकी महिमा न जानने के कारण किया है ।

(मू०) यच्चाऽवहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

[३३]

(आ०प०) चलते चलाते बैठते सोते समक्ष अकेलभी ।
अपमान मैंने यदि किया हो आपका अच्युत ? कभी ॥
चाहे हंसी या खेल में ही वह हुआ हो क्यों नहीं ।
मैं हूं क्षमाप्रार्थी प्रभो ? होगा कभी ऐसा नहीं ॥४२॥

अर्थ—खेलने के समय, सोनेके समय, बैठने के समय, खानेके समय, अकेले में या, सभा में हे अच्युत् ! मैंने जो आपका अनादर किया हो, उस के लिए आप मुझे क्षमा कीजिये । आप अप्रमेय प्रभाव वाले हैं ।

भावार्थ—मैंने अज्ञानता के कारण आपकी महिमा नहीं जानी । मैंने आप को अपना मित्र समझकर अथवा अपने मामा का बेटा-भाई, समझ कर आप का कितने ही मौकोंपर जो अपमान किया है उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये । मैं आप से वार वार क्षमा मागता हुं । क्यों कि:—

(मू०) पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥४३॥

[३४]

(भा०प०) गुरु श्रेष्ठ पूज्य पिता चराचर विश्वके हैं आपही।
तिहुंलोक में कोई न आप समान हैं बस आपही ॥
उपमा न कोई दीखती जब खोजने से भी यहां।
कोई मिलेगा आप से बढ़कर भला सम्भव कहां ४३

अर्थ—आप इस चराचर जगत के पिता हैं, आप इस जगत के पूज्यहैं, आप सब से बड़े गुरुहैं, क्योंकि आपकी बराबरी करने वाला कोई नहीं है। हे अमित प्रभाव शालिन् आप सेबढ़ कर इस त्रिलोकी में कौन होसकताहै ॥४३।

भावार्थ—हे भगवन ! आपके प्रभाव की सीमा नहीं है। आप ही इस जगत के रचने वाले और पालने करने वाले हैं। आप इस जगत के पूज्य और महान गुरु हैं। आपकी बराबरी करने वाला कोई नहीं है। क्योंकि दो ईश्वरों का होना असम्भव है। यदि एकसे अधिक ईश्वर होता तो यह दुनियां इस भांति न रहती। क्योंकि जब एक ईश्वर सृष्टि रचना चाहता, तो दूसरा उसे नाश करना चाहता। इसबात का कोई निश्चय नहीं, कि दोनों भिन्न-भिन्न ईश्वरों का एकदिल होता, क्योंकि दोनों ही एक दूसरे से स्वतन्त्र, होने के कारण मन मानी करते। इसका फल यह होता, कि दुनिया आजकी तरह दिखाई न देती। अब अर्जुन भगवान से अपना पहला रूप धारण करने की प्रार्थना करने लगा।

(मू०) तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

[३५]

(भा०प०) मैं आप को प्रभुवर ! रिझाना चाहता हूं प्रेम से।
साष्टांग सादर कर प्रणाम सुरीति से शुचि नेम से॥
करके कृपा हे नाथ अब कर दीजिये मुझ को क्षमा।
सुतको पिता प्रिय मित्रको ज्यों मित्र करदेता क्षमा॥४४

अर्थ—इसलिये हे पूजने योग्य ? मैं सिर नवाकर सष्टांग दण्डवत् करके आपसे क्षमा प्रार्थना करता हूं। कि आप मेरे अपराधों को उसी प्रकार क्षमा कीजिये। जैसे पिता पुत्र के और मित्र, मित्र के तथा प्रेमी अपनी प्रेमिका के अपराध को क्षमा करता है।

भावार्थ—आप सारे लोकों के पिता और गुरु हैं, इसलिये ब्रह्मा से लेकर छोटे से छोटे प्राणी तक के आप पूज्य हैं। इसी से मैं अपने शरीर को लकड़ी की भांति जमीन पर पटक कर आपको प्रणाम नमस्कार करता हूं और साथ ही प्रार्थना करता हूं। कि आप प्रसन्न हों और इस अपराधी के अपराधों को आप उसी तरह क्षमा करें, जिस तरह अनेक अपराधों के करने पर भी पिता पुत्र को क्षमा करता है, मित्र, मित्र को क्षमा करता है, और पति अपनी प्रियतमा के अपराधों को क्षमा करता है।

(मू०) अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥४५॥

[३६]

(भा०प०) इस रूप से होता मुझे आनन्द अपरम्पार है ।
मन होरहा है व्यथित भय से कांपता संसार है ॥
हे देव देव ? जगन्निवास ! प्रसन्न अब हो जाइये ।
यह विश्व रूप हटाइये पुनि देव रूप दिखाइये ।४५।

अर्थ—हे देवों के देव ! हे जगत् निवास ? मैंने यह आप का रूप पहले कभी नहीं देखा था । इस रूप को देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूं । तथापि मेरा मन डरके मारे घबरा रहा है । इसलिये मुझे आप अपना पहला ही रूप दिखाइये ॥४५॥

(मू०) किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैवरूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

[३७]

(भा०प०) कर में गदा शुभ चक्र हो, सिरपर किरीट सुहावना ।
मैं चाहता हूं देखना फिर पूर्व रूप लुभावना ॥
उस रूप को ही विश्वमूर्ते ! आप धारण कीजिये ।
दर्शन चतुर्भुज रूप धारि सहस्रबाहो ? दीजिये ।४६।

अर्थ—हे महाबाहो ? हे विश्वमूर्ते ? मैं आपको पहले की भांति किरीट मुकुट धारण किये, गदा, चक्र हाथ में लिये चतुर्भुज रूप में देखना चाहता हूं ॥४६॥

भावार्थ—अर्जुन को भय भीत देख कर भगवान ने अपने विश्व रूप को समेट लिया और अर्जुन को मीठे मीठे शब्दों में धैर्य देते हुए कहा—

श्रीभगवानुवाच ।

(मू०) मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्ट पूर्वम् ॥४७॥

[३८]

भगवान ने कहा—

(भा०प०) होकर प्रसन्न तुम्हें दिखाया रूप जो मैंने अभी ।
इसको किसीने पूर्व इसके था नहीं देखा कभी ॥
यह पार्थ ! तेजोमय अनन्त विशाल मेरा रूप है ।
मैंने दिखाया योग बल से विश्वरूप अनूप है ॥४७॥

अर्थ—हे अर्जुन ? मन में खुश होकर अपनी योग शक्ति से तुझे अपना यह आदि, अनन्त, तेजोमय, परम विश्वरूप दिखाया है, जिसे तेरे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा ॥४७।

(मू०) न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदं ।
व्यपेतभीः प्रीतिमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

[३६]

(भा०प०) तप यज्ञ वेदाध्ययन अरु दानादि कर्म करके भले ।
सम्भव नहीं नरलोक में कोई इसे फिर देख ले॥४८॥
हो व्यथित मूढ न, रूप मेरा यह भयंकर देखकर ।
देखो वही फिर रूप हो निर्भय प्रसन्न विशेषकर ४९

अर्थ—हे कुरु-श्रेष्ठ ? मेरे इस रूप को तेरे सिवाय इस मृत्युलोक में कोई वेद पढ़कर, यज्ञ करके, दान करके, अग्निहोत्र करके कठिन तपस्या करके नहीं देख सका है ॥४८।

हे अर्जुन ? मेरे इस भयंकर रूप को देख कर, न तो घबरा, न भयकर, निर्भय और प्रसन्न चित्त होकर मेरे पहले रूप को फिर देख ॥४९।

संजयउवाच ।

(मू०) इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुनउवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

[४०.]

संजय ने कहा—

(सा०प०) यों कह दिखाया कृष्ण ने फिर रूप अर्जुन को वही ।
हो सौम्य रूप दिया दिलासा पार्थ को तत्काल ही ५०

अर्जुन ने कहा—

इस सौम्य मानव रूपको मैं देख स्वस्थ हुआ प्रभो?॥
आई ठिकाने बुद्धि मेरी शान्त चित्त हुआ विभो ! ५१

अर्थ—संजय कहने लगे कि हे राजन् ? ये बातें कहकर वासुदेव ने अर्जुन को अपना पहला रूप फिर दिखाया और उस महात्माने शान्तरूप धारण कर के भय भीत अर्जुन को दिलासा दिया ॥५०॥

तब अर्जुन कहने लगा कि हे जनार्दन ! आपका यह शान्त मनुष्य रूप देख कर मेरी घबराहट जाती रही, और अब मेरे जी में जी आगया ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच ।

(मू०) सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ५२
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

(४१)

भगवान ने कहा—

(भा०प०) दुर्दर्श है यह रूप देखा है यहां तुमने जिसे ॥
हा ! देवगण भी तरसते हैं देखने को नित्य इसे ५२
तप दान वेदाध्ययन अथवा यज्ञ कर देखे मुझे ॥
तुमने, 'नहीं देखा कभी' जिस भांति देखा है मुझे ५३

अर्थ—हे अर्जुन ! तूने जो मेरा यह रूप देखा है, इसका देखना कठिन है ॥ देवताभी इस रूप के देखने की इच्छा रखते हैं ॥५२॥

जो रूप तूने देखा है उसे वेद पढ़कर, तप करके, दान देकर, यज्ञ करके भी कोई नहीं देख सकता ॥५३॥

भावार्थ—हे अर्जुन मेरा यह रूप जो तैंने अभी देखा है, इसको देवताभी देखना चाहते हैं मगर उन्होंने यह रूप कभी नहीं देखा, और न कभी इसे देखेंगे । क्योंकि—

(मू०) भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

(४२)

(भा०प०) मैं दीख पड़ता जान पड़ता हूं धनञ्जय ? भक्ति से ॥
मैं तत्व से ही प्राप्त होता हूं न दूजी शक्ति से ॥
जिसका परम उद्देश्य मैं ही हूं न दूजा लक्ष्य है ।
निर्वैर जो रहता सभी से सर्वदा निष्पक्ष है ॥५४॥

अर्थ—हे परंतप ? मेरे इस रूप को मनुष्य अनन्य भक्ति द्वारा जान सकते हैं और देख सकते हैं, और तत्व ज्ञान द्वारा मुझमें प्रवेश कर सकते हैं ॥५४॥

नोट—अब आगे के श्लोक में भगवान, समस्त गीता-शास्त्र की शिक्षाओं का सार जो मोक्ष दिलाने में परम सहायक है, कहते हैं। इस पर सभी को अमल करना चाहिये।

(मू०) मत्कर्म कृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्व भूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

(४३)

(भा०प०) जो कर्म करता है सभी हे पार्थ ? मेरे ही लिये ।
रहती नहीं आसक्ति जिसमें कुछ किसी के भी लिये ॥
वह प्राप्त करता है मुझे इसमें न संशय लेश है ।
पाता नहीं आवागमन का फिर कभी वह क्लेश है ५५

नोट—इस ५५ वें भाषा छन्द का कुछ सम्बन्ध ऊपर के भाषा छन्द से भी है पाठक विचार लें ?

अर्थ—वह जो मेरे ही लिये कर्म करता है, मुझे ही परम पुरुषार्थ समझता है, मुझ में भक्ति रखता है, जो आसक्ति रहित है जो किसी प्राणी से बैर नहीं रखता, हे पाण्डव? वही मुझे पाता है ॥ ५५ ॥

भावार्थ— जो पुरुष मेरे ही लिये सब कुछ मेरा ही समझता हुआ यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्म्मों को करने वाला है, और मेरे परायण है, अर्थात मेरे को परम आश्रय और परम गति मान कर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है, अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्त्तन, मनन, ध्यान और पठन पाठन का प्रेम सहित निष्काम भाव से निरन्तर अभ्यास करने वाला है! और आसक्ति रहित है, अर्थात् स्त्री, पुत्र, और आदि सम्पूर्ण संसारिक पदार्थों में स्नेह रहित है।

और सम्पूर्ण भूत—प्राणीयों में वैर भाव से रहित है यानी सर्वत्र भगवान् ही जानने से उस पुरुष का प्रति अपराध करने वाले प्राणियों से भी वैर भाव नहीं रहता। ऐसा वह अनन्य भक्ति करने वाला पुरुष मेरे को ही प्राप्त होता है।

अथवा खुलासा यों समझिये कि जो मुझे परब्रह्म मान कर मेरे लिये अपना कर्त्तव्य पालन करता है, जो मेरा भक्त है, जिसे फलों में मोह नहीं है यानी जो कर्म फलों की इच्छा नहीं रखता जो किसी का शत्रु नहीं है और अपने दुःख देने वालों से भी वैर नहीं रखता वह मुझ ईश्वरको अवश्य पाता है।

और जो अपने स्वार्थ के लिये कर्म करता है' मुझमें भक्ति नहीं रखता' अपने कुटुम्ब, पुत्र, धन आदि में मन लगाये रहता है हर किसी से वैर रखता है' ऐसे मनुष्य को मैं नहीं मिलता।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे विश्वरूप दर्शन योगो नामैकादशोऽध्याय।
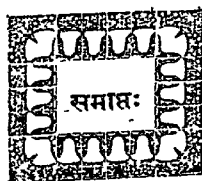
विश्वरूप को देख कर अर्जुन विचार करनेलगा कि भगवान ने इस अतुल विश्वरूप को दिखाकर मुझे आपकी गरज से काम करने का उपदेश दिया है। और दूसरे अध्याय से दशवें अध्याय तक ईश्वर की विभूतियों का वर्णन हुआ है। वहां भगवान ने उपाधि रहित अक्षर ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया है। और कितनीही जगह उपाधि सहित—सगुण—ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया है। इसी विचार से अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान से पूछनेलगा कि दोनों प्रकार की उपासनाओं में से कौनसी अच्छी है ? ईश्वर की उपासना श्रेष्ठहै या अक्षर अविनाशी ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठहै।

अर्जुनउवाच ।

(मू०) एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योग वित्तमाः ॥१॥

[१]

भगवान ने कहा—

(भा०प०) सुन्दर सगुण इसरूप में कुछ आपको हैं पूजते ।
कुछ प्रेम से अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म को हैं पूजते ॥
है श्रेष्ठ इन में कौन ? दोनों आप के ही भक्त हैं ।
कुछ मानते हैं व्यक्त तो कुछ मानते अव्यक्त हैं ॥१॥

अर्थ—हे कृष्ण ! जो हमेशा भक्ति में लवलीन होकर आपके सगुण विश्व-रूप की उपासना करते हैं, वे अच्छे हैं, अथवा जो आपको अक्षर अविनाशी अव्यक्त मानकर उपासना करते हैं, वे उत्तम हैं ॥१॥

(मू०) मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

[२]

(भा०प०) करते भजन मेरा सदा थिर चित्त हो जो चाव से ।
हैं श्रेष्ठ योगी पार्थ ? वे जो भक्ति करते भाव से ॥२॥

जो पूजते हैं ब्रह्म को जो सर्वव्यापी अचल है ।
अव्यक्त अक्षर अकथनीय अचिन्त्य अज है अमल है ॥३॥

अर्थ—हे अर्जुन ? जो हमेशा भक्ति योग में युक्त होकर, केवल मुझ में ही मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, मेरी समझ में योगियों में वे ही श्रेष्ठ हैं। और उन्हीं को ईश्वर के उपासक कहना चाहिये ॥२॥

जो मुझे अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रग, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव जानकर उपासना करते हैं ॥३॥

भावार्थ—जो भक्त मुझे विश्वरूप परमेश्वर और योगेश्वरों का भी ईश्वर समझ कर मुझ में चित्त लगाते हैं, और मुझ में हद से भी अधिक श्रद्धा भक्ति रखते हैं वे मेरी समझ में योगियों में श्रेष्ठ हैं। वे दिन रात मेरे ही ध्यान में लगे रहते हैं। इसीलिये उन्हें श्रेष्ठ योगी यानी ईश्वर के उपासक कहा है। आगे कुछ और यानी अक्षर के उपासक कहता हूं सुन—

हे अर्जुन ! अक्षर अविनाशी=जिसका कभी नाश न हो, अनिर्देश्य=जिसका वर्णन न किया जा सके, यानी अकथनीय, अव्यक्त=जो इन्द्रियों से न जाना जावे, सर्व व्यापक=जो सब जगह मौजूद हो, अचिन्त्य=जो ध्यान में नहीं आवे, अचल=जो हिले चले नहीं, ध्रुव=जो नित्य और स्थिर हो, कूटस्थ=वह है जो मालिक होकर मायाके कामों को देखे, । अक्षर ब्रह्म आकाश की तरह सर्वव्यापक है। वह अचिन्त्य है, क्योंकि वह इन्द्रियों से देखा और जाना नहीं जा सकता। वह माया के कामों का देखने वाला उसका मालिक है। इसी से वह व्यापार रहित, नित्य और स्थिर है। यही अक्षर अविनाशी अकथनीय अव्यक्त अचिन्त्य अचल ध्रुव और कूटस्थ ब्रह्म के गुण हैं।

(मू०) संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

[३]

(भा०प०) सर्वत्र ही समदृष्टि रखकर इन्द्रियों को रोक कर ।
जो लोक हित कर कार्य करते चित्तका अनुरोध कर ॥

जो पूजते उस ब्रह्म को जो सर्व व्यापी नित्य है ।
अव्यक्त अविनाशी अचल सुस्थिर दयालु अचिन्त्य है ४

अर्थ—हे अर्जुन ? अपने सब इन्द्रिय समूहों को वशीभूत करके सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रहने वाले और सब को समान बुद्धि से देखने वाले जो मनुष्य"ऊपर"कहे हुए रूप की उपासना करते हैं, वेही मुझे प्राप्त होते हैं ।४।

भावार्थ—वे लोग जो अपनी तमाम इन्द्रियों को वश में करके सब जीवों को समान समझ कर, अक्षर ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे स्वयं मेरे पास आते हैं । यह कहने की आवश्यकता भी नहीं है कि वे मेरे पास आते हैं । क्योंकि ७ वें अध्याय के १८ वें श्लोक में कहा गया है कि "बुद्धिमान मेरा ही आत्मा है" और यहभी कहने की आवश्यकता नहीं है कि वे सर्व श्रेष्ठ योगी है क्योंकि वह और ईश्वर एकही हैं ।

लेकिन—

(मू०) क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

[४]

(भा०प०) उस ब्रह्म के वे सब उपासक प्राप्त होते हैं मुझे ।
इस में नहीं संशय सुनो मैं सत्य कहता हूं तुझे ॥
पर दुःख वे पाते बहुत अव्यक्त के जो भक्त हैं ।
है कठिन उनको जानना अव्यक्त को जो व्यक्त हैं ५

अर्थ—जिनका चित्त अव्यक्त रूप में लगा हुआ है, उनको बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, क्योंकि शरीर धारियों को अव्यक्त की उपासना करना बड़ा कष्ट दायक है ।५।

भावार्थ—जो मेरे लिये ही सब कर्म करते हैं, उनको भी सच मुच बड़ा कष्ट होता है, किन्तु जो अक्षर परब्रह्म की उपासना और ध्यान करते हैं उनको और भी अधिक कष्ट होता है—क्योंकि उनको अपनी देहकी ममता भी त्यागनी पड़ती है। शरीर धारियों को परब्रह्म अविनाशी तक पहुँचना बहुत ही कठिन है, क्योंकि उनको अपने शरीर में मोह है। शरीर की ममता त्यागे बिना अक्षर ब्रह्म की उपासना होती नहीं, और शरीर की ममता छोड़ने में बड़ा कष्ट होता है।

ईश्वरोपासना से मुक्ति का वर्णन करके अक्षर ब्रह्म की उपासनाका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

(मू०) ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

[५]

(भा०प०) हे पार्थ ! सब आशा, भरोसा त्यागि मुझपर रख सदा ।
निज कर्म कर अर्पण मुझे भजते मुझे जो सर्वदा ॥
करते सदा जो ध्यान मेरा प्रिय मुझे ही जानते ।
सब नेह नाता तोड़ जो सर्वस्व मुझको मानते ॥६॥

अर्थ—लेकिन जो सब कर्मों को मेरे अर्पण करके मुझ सगुण रूप परमेश्वर को अति उच्च समझ कर, सबको छोड़कर योग द्वारा मेरा ही एक मात्र ध्यान और स्मरण करते हैं ॥६॥

(मू०) तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

[६]

(भा०प०) हे पार्थ ! उनका चित्त दृढ रमता मुझी में सर्वदा ।
भव सिन्धु से उद्धार उनका शीघ्र मैं करता सदा ।७।

मनको लगा मुझमें मुझे सर्वस्व अपना मानलो ।
देहान्त पीछे वास मुझ में तुम करोगे जानलो ॥८॥

अर्थ—जिनका चित्त मुझ में लगा रहता है उन्हें मैं शीघ्र मृत्यु रूप संसार सागर से बचा लेताहूं ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! तू अपना चित्त एक मात्र मुझ में जमादे । तू मृत्यु के बाद निस्सन्देह अकेले मुझमे निवास करेगा ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो सबको छोडकर केवल मेरी ही उपासना करते हैं, मैं परमात्मा उनको मृत्यु रूपी संसार से निकाल लेता हूं, क्योंकि उनके चित्त मेरे विश्वरूप में लगे हुए हैं ।

इसलिये अपना मन अपने कर्म और विचार मुझ विश्वरूप परमेश्वर में जमादे । अपनी बुद्धि को जो विचार करती है, मुझ में लगादे । इस से क्या फल होगा ? सुन ! तू इस काया के नाश होने बाद निश्चय ही मुझ में स्वयं मेरी तरह निवास करेगा । तू इस विषय में सन्देह न कर ।

(मू०) अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

[७]

(आ० प०) यदि चित्त मुझमें थिर नहीं है आज ऐसा मानलो ।
अभ्यास करके प्राप्त कर लोगे मुझे, यह ठान लो ।९।

अभ्यास कर सकते नहीं तो बन करो मेरे लिये ।
हा ! मुक्ति तो होगी करोगे कर्म यदि मेरे लिये ।१०।

अर्थ—हे धनञ्जय ! अगर तू अपना चित्त स्थिरता से मुझमें नहीं लगा सकता, तो बारम्बार अभ्यास योग द्वारा मेरे पास पहुंचने की चेष्टा कर ।९।

अगर तू अभ्यास भी न कर सके तो मेरे लिये कर्म करने पर लगा रह। मेरे लिये निष्काम कर्म करते हुए भी तुझे सिद्धि प्राप्त हो जायगी ।१०।

भावार्थ—अगर तुम अपना चित्त स्थिरता से जैसा कि मैंने बताया है, मुझ में नहीं लगा सकते, तो चञ्चल चित्त को बारम्बार विषयों से हटा कर अभ्यास योग द्वारा, मेरे विश्वरुप में पहुंचने का परिश्रम करो।

चित्त को बारम्बार सब ओर से हटाकर फिर फिर कर अपने ध्येय पदार्थ पर लगाने को "अभ्यास" कहते हैं। अभ्यास के माइने समाधान या चित्त की स्थिरता है जो अभ्यास करने से होती है।

अथवा यों समझिये कि स्वर, व्यंजन का जानने वाला विद्यार्थी धीरे धीरे अभ्यास द्वारा महान् विद्वान, कवि, पण्डित बन जाता है मतलब यह है कि अपने ध्येय पर इधर उधर से चित्त को (बार बार हटाकर) लगाने का ही नाम अभ्यास है।

और हे अर्जुन ! अगर तू अभ्यास भी न कर सके तो केवल मेरे लिये कर्म कर इसतरह करने से तुझे सिद्धि मिल जायगी ।

पहले तेरा चित्त शुद्ध होजायगा, इसके बाद चित्त की स्थिरता होगी, इसके बाद ज्ञान होगा, और अन्त में मोक्ष होजायगी सारांश यह है कि ईश्वर के लिये कर्म करने से चित्त की शुद्धि होजायगी और चित्तकी शुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष मिल जायगी ।

(मू०) अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

[८]

(भा०प०) तुमसे न यहभी होसके तो शरण ही मेरी गहो ।
तजकर फलाशा कर्म करके मोक्षपद पावन लहो ११

अभ्यास से है ज्ञान उत्तम ज्ञान से भी ध्यान है ।
पर ध्यान से भी कर्म फल के त्यागका बहु मान है १२

अर्थ—अगर तू यह भी न कर सके तो अपने मनको वश में कर के मेरी शरण आ और सब तरह के कर्मों के फल की इच्छा त्याग दे ॥११॥

परन्तु हे अर्जुन ! अभ्यास से ज्ञान अच्छा है, ज्ञान से ध्यान अच्छा है, ध्यान से कर्म फलों का त्याग अच्छा है, कर्म फलों के त्याग देने पर शीघ्र ही शान्ति मिलजाती है ॥१२॥

भावार्थ—अगर तू मेरे उपदेशानुसार मेरे लिये कर्म न कर सके तो तू कर्म और उन सब कर्मों को मेरे अर्पण करदे और उन कर्मों के फल की वासना त्यागदे। आगे भगवान सब कर्मों के फलों को त्यागने की प्रशंसा करते हैं कि—

अज्ञानता सहित अभ्यास से ज्ञान अच्छा है। उस ज्ञान से ध्यान सहित ध्यान अच्छा है। ज्ञान सहित ध्यान से कर्म फल का त्याग अच्छा है। मनको वशीभूत करके, कर्म फलों के त्यागने से संसार के बन्धन से शीघ्र ही छुट्टी होजाती है, इस में विलम्ब नहीं होती।

भगवान श्री कृष्णचन्द्रने अल्प मति वालों के लिये जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना कठिन समझी थी, इसीसे सगुण ब्रह्म की उपासना अच्छी बतलाई। जो लोग सगुण ब्रह्म की भी उपासना नहीं करसकते, उनके लिये पहले अभ्यास बताया। जिन से अभ्यास भी नहीं होसकता, उनके लिये सब कर्म ईश्वर के लिये करने की सलाह दी। ये सब तरीके बताने से भगवान का मतलब यह है, कि अधिकारी मनुष्य सब रुकावटों से अलग हो कर, निर्गुण-ब्रह्म-विद्या सीखे। यानी ऊपर लिखे साधन मनुष्य करे, और उसे उसके फल-स्वरूप निर्गुण ब्रह्म विद्या मिले। जब मनुष्य का मन सगुण ब्रह्म की उपासना करते करते वश में होजावे तब वह निर्गुण ब्रह्म में मन लगावे। जो अज्ञानी हैं, तीव्र मति नहीं हैं उनके लिये भगवान ने सीढी सीढी चढकर ऊपर चढने की सलाह दी है।

भगवान ने जो पहले इसी अध्याय में निर्गुण उपासना की बुराई की है वह इसलिये नहीं की है कि निर्गुण उपासना सगुण उपासना से बुरी है अथवा निर्गुण उपासना न करनी चाहिये। उनकी यह निर्गुण उपासना की निन्दा केवल सगुण उपासना की प्रशंसा के लिये है। भगवानकी राय

में निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही सर्व श्रेष्ठ है इसी से वह आगे के सात श्लोकों में निर्गुण ब्रह्म के उपासकों की तारीफ करते हैं।

(मू०) अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

[९]

(भा०प०) जो मित्र है सब प्राणियों का दुख सुख सम जानता।
तजि मोह ममता जो सभी से नेह नाता मानता॥
रखता दया सबपर किसी से द्वेष जो करता नहीं।
करुणा क्षमा हैं शस्त्र जिसके क्रोध जो करता नहीं १३

अर्थ—हे अर्जुन ? जो किसी से वैर नहीं रखता, सबसे मित्र भाव रखता है, जो सब पर दया करता है, जो ममता और अहंकार से अलग रहता है, जो सुख दुःख को समान जानता है और जो शान्त रहता है उसपर मैं शीघ्र कृपा करता हूं ॥१३॥

(मू०) सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१४॥

[१०]

(भा०प०) जो सर्वदा सन्तुष्ट दृढ निश्चय तथा है उद्यमी।
मन बुद्धि कर अर्पण मुझे जो बन गया है संयमी॥
बस वह मुझे ही चाहता मैं भी उसे हूं चाहता।
हैं चाहते उसको सभी वह है सभी को चाहता॥१४॥

अर्थ—जो जितना मिलजाय उसी में सन्तुष्ट रहता है, जो मन को वश में रखता है, जो स्थिर चित्त होकर मुझमें ही मन लगाये रहता है, जो मन और बुद्धि को मुझमें ही लगा देता है, वह मुझे प्यारा लगता है ॥१४॥

भावार्थ—जो किसी से भी ईर्षा द्वेष नहीं रखता; यहांतक कि अपनी बदी करने वाले से भी वैर नहीं रखता वह मुझे प्यारा है। जो सब जीवों को अपने समान समझता है; जो सबसे मित्रता रखता है; और सब पर दया करता है; जो किसी चीज को अपनी नहीं समझता; तथा जो अहङ्कार से रहित है यानी जिसके दिलमें "मैं" नहीं है, और जो सुख से प्रसन्न नहीं होता दुःख से दुःखी नहीं होता; जो गालियां खाने और पीटने पर भी शान्त चित्त बना रहता है; जो नित्य प्रति भोजन मिलजाने और न मिलजाने पर भी सन्तुष्ट रहता है; वह मुझे प्यारा है। और जो स्थिर चित्त रहता है, जिसे आत्मा के विषय में दृढ निश्चय है, जो सब ओर से मन हटाकर मेरी अनन्य भक्ति करता है और अपनी बुद्धि भी मुझमें ही लगा देता है वह मुझे प्यारा है। ऐसीही बात सातवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक में कही गई है कि ज्ञानी को मैं प्यारा हूं और ज्ञानी मुझे प्यारा है। यही बात यहां भी कही गयी है।

(मू०) यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

[११]

(भा०पा०) जिससे न डरते लोग जो डरता न लोगों से तथा ।
वह प्रिय मुझे है, मुक्त हर्ष विषाद से जो सर्वथा ॥१५॥

सन्तुष्ट आलस हीन ज्ञानी जो न दम्भी भक्त है ।
तज कर फलाशा कर्म जो करता वही प्रिय भक्त है १६

अर्थ— जिससे कोई प्राणी दुःखी नहीं होता, और जो किसी प्राणी से दुःखी नहीं होता, जो खुशी, रञ्ज, भय और डाह से रहित हैं वह मुझे प्यारा है ॥१५॥

जो किसी चीज की इच्छा नहीं रखता, जो पवित्र है, चतुर है, सब से बेलाग है, जिसके मन में कुछ दुःख नहीं है, जिस ने सब प्रकार के उद्यम त्याग दिये हैं, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥१६॥

भावार्थ—जिससे किसी जीव को डर नहीं लगता और जो किसी जीव से नहीं डरता; जो किसी इच्छित वस्तु के मिलने से खुश नहीं होता जो किसी वस्तु के नाश होने पर दुःखी नहीं होता और जो किसी से भी द्वेश भाव नहीं रखता वह मुझे प्यारा है ।

जो शरीर, इन्द्रियों और मन के विषयों तथा उनके आपस के सम्बन्ध से उदासीन रहता है, जो भीतर और बाहर दोनों ओर से शुद्ध है, जो मित्र और शत्रु किसी की ओर नहीं होता, जो इस लोक और पर लोक के फल देने वाले कामों को छोड देता है वह मुझे प्यारा है ।

(मू०) यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

[१२]

(भा०प०) जो हर्ष से हर्षित न होता दुःख से दुखित नहीं ।
संयोग और वियोग में रखता जिसे अन्तर नहीं ॥

जो चाहता कुछ भी नहीं शुभ अशुभ फल सम मानता।
जिसके हृदय में भक्ति है मैं प्रिय उसे हूं जानता ॥१७॥

अर्थ—जो न तो खुश होता है, न नफरत करता है, न रन्ज करता है, न कुछ इच्छा रखता है तथा जो बुरे भले को छोड देता है वही भक्त मेरा प्यारा है ॥१७॥

भावार्थ—जो अपनी मनचाही चीज के मिलने पर खुश नहीं होता, जो अप्रिय वस्तु से घृणा नहीं करता और जो अपनी प्रिय वस्तु के नाश होने पर रन्ज नहीं करता, अथवा जो किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं रखता वही मुझे प्यारा है।

(मू०) समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥

[१३]

(भा०प०) जिसके लिये सम दुःख सुख रिपु मित्र शीतल गर्म हैं।
अपमान मान समान है सम भाव जिसके धर्म हैं॥
सब प्राणियों के साथ रह कर भी न जो आसक्त है।
वह प्रिय मुझे है भक्ति करता प्रेम से जो भक्त है ॥१८॥

अर्थ—जो शत्रु, मित्र, प्रतिष्ठा, अप्रतिष्ठा को एकसा समझता है, जो सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख को बराबर समझता है, और जो किसी में आसक्त नहीं होता ॥१८।

(मू०) तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

(१४)

(भा०प०) निन्दा बडाई सम जिसे है मौन व्रत जिसने लिया ।
सन्तुष्ट जो रहता उसी में दैव ने जो कुछ दिया ॥
जो है व्यवस्थित चित्त सुस्थिर बुद्धि जो अनिकेत है।
वह प्रिय मुझे है भक्त जो विनु हेतु करता हेत है ॥१६॥

अर्थ—जो निन्दा स्तुति को एकसा समझता है, जो चुप रहता है, जो कुछ मिलजाय उसी में सन्तुष्ट रहता है, जो एक जगह घर बनाकर नहीं रहता है, जिसका चित्त चञ्चल नहीं है वह भक्त मुझे प्यारा है ॥१९॥

भावार्थ—जो किसी तरह की भी चीज से प्रेम नहीं रखता, जो शरीर चलने योग्य जीविका मिलने से भी सन्तुष्ट होजाता है। वह अच्छा है। "महा भारत" शान्तिपर्व, मोक्ष धर्म २४५-१२ में लिखा है। जो किसी चीज से भी शरीर ढक लेता है, जो किसी भी चीज से पेट भरलेता है, जो जहां चाहे पड रहता है उसे देवता 'ब्राह्मण" कहते हैं।

(मू०) ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

[१५]

(भा०प०) पूर्वोक्त धर्मामृत यहां है पार्थ ? जो मैंने कहा ।
आचरण करते हैं इसे हो मत्परायण जो अहा ॥
वे भक्त मेरे हैं मुझें अत्यन्त प्रिय सचे सही ।
तुम भक्त बन जाओ इसी से यह कथा मैंने कही २०

अर्थ—जो लोग श्रद्धा पूर्वक इस अमृत मय नियम पर चलते हैं, जो मुझ अविनाशी आत्मा की ही उपासना करते हैं वे ही भक्त मुझे प्यारे लगते हैं २०

भावार्थ—जो अभी वर्णन किये हुए अमृत रूपी नियम पर चलते हैं, वे विष्णु भगवान परम परमात्मा के बहुत प्यारे हो जाते हैं, इसलिये इस अमृत रूपी नियम पर प्रत्येक मोक्ष चाहने वाले को जो विष्णु भगवान के परमधाम को प्राप्त करना चाहता है, चलना चाहिये।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
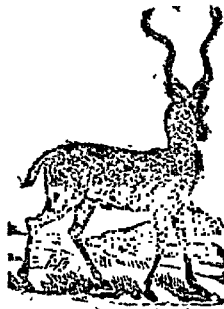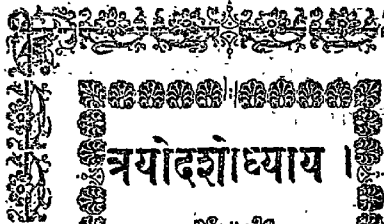
ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे
भक्ति योगो नाम द्वादशोऽध्याय।

सातवें अध्याय में परमात्मा की दो प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन किया गया था, एक तीन गुणों से बनी हुई आठ भागों में बटी हुई प्रकृति कही थी। उसका नाम "अपरा" प्रकृति कहा; क्योंकि वह जड है और संसार का कारण है। दूसरी "परा" प्रकृति का वर्णन किया था, उसे जीव रूप बताया था। इन दोनों प्रकृतियों से ही ईश्वर पैदा करने वाला, पालन करने वाला, और नाश करने वाला है। पहले भी अपरा प्रकृति को क्षेत्र और परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ कहा था। अब उन दोनों प्रकृतियों के अधिष्ठाता ईश्वर का मुख्य स्वभाव वर्णन करने की गरज से ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का खुलासा हाल समझाया जायगा।

बारहवें अध्याय के १३ वें श्लोक से अन्त तक तत्वज्ञानी-सन्यासियों के जीवन विताने के तरीके कहे गये थे। उसी से यह सवाल पैदा होता है, कि पूर्वोक्त विधि से जीवन विताने वाले सन्यासी किस प्रकार का तत्व

ज्ञान रखने से वह ईश्वर के प्यारे होते हैं ? यह अध्याय इस सवाल के जवाब में ही चलता है।

भगवान ने पिछले अध्यायों में अपने तईं अधिकारी लोगों को संसार सागर से बचाने वाला कहा है; किन्तु बिना आत्मज्ञान हुए उद्धार हो नहीं सकता। आत्मा का ज्ञान होने से ही अविद्या रूप अज्ञान की निवृत्ति होती है। जिस आत्मज्ञान से प्राणी संसार सागर से पार होता है और जैसे तत्वज्ञानी सन्यासियों का १२ वें अध्याय में जिक्र हुआ है उस आत्मज्ञान का बताना अत्यावश्यक है।

तत्वज्ञान से जीवात्मा और परमात्मा में कुछ भेद नहीं रहता। जीव ब्रह्म का भेदही अनेक अनर्थों का कारण है। जो जीव और ब्रह्म को दो समझता है, वही वारम्बार जनमता और मरता है; लेकिन जब तक जीव और ब्रह्म एक नहीं समझे जाते, तबतक यह भेद भ्रम नहीं मिटता।

ईश्वर और जीव एकही हैं, इस में अनेक लोग यह शंका किया करते हैं—'मैं सुख पाता हूं' 'मैं दुःख भोगता हूं' ऐसा अनुभव सब प्राणियों को होता है, अगर सब जीव एक होते, तो एक को जो दुःख होता, वह सभी को होता, और जो एक को सुख होता, तो सभी को सुख होता, इस से मालूम होता है कि सभी भिन्न भिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न आत्मा हैं। सब जीव एक नहीं हैं, और परमात्मा एक है और वह सुख दुःखों से रहित है। सारांश यह है कि इन उपरोक्त दलीलों के देखते हुए आत्मा और परमात्मा एक नहीं है। इस शंका को दूर करने को ही भगवान, इस अध्याय में यह दिखाते हैं, कि क्षेत्रज्ञ यानी जीवात्मा सब शरीरों में एक है, और वह देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से अलग है।

तात्पर्य यह है कि इस अध्याय में और आगे के अध्यायों में आत्म-ज्ञान यानी शरीर और जीव का भेद सब खोल खोल कर समझाया जायगा, अथवा जीव और ब्रह्म की एकता दिखायी जायगी।

श्रीभगवानुवाच।

(मू०) इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

[१]

भगवान ने कहा—

(भा०प०) इस देह को ही क्षेत्र कहते हैं धनञ्जय! जानलो।
जो जानता इस क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ उसको मानलो ॥१॥

क्षेत्रज्ञ क्षेत्रों में मुझे जानो यही सद्‌ज्ञान है।
है ज्ञान मेरा क्षेत्र अरु क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है ॥२॥

अर्थ—हे कौन्तेय? इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं, जो मनुष्य इसे जानता है, उसे शरीर—शास्त्र जानने वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥१॥

हे भारत? सब क्षेत्रों यानी शरीरों में क्षेत्रज्ञ यानी शरीर में रहने वाला जीव मुझे ही जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही मेरी समझ में ज्ञान है ॥२॥

भावार्थ—भगवान इस अध्याय में आत्म ज्ञान सिखावेंगे, क्यों कि बिना आत्म ज्ञान के छुटकारा हो नहीं सकता। इस लिये वह पहले 'क्षेत्र'

और क्षेत्रज्ञ का अर्थ बताते हैं। शरीर को क्षेत्र कहते हैं, और इस लिये कहते हैं, कि इसमें खेतों की तरह पाप और पुण्य ये फल अपने अपने समय पर पैदा होते हैं, जो इसको जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ या खेतका जानने वाला कहते हैं यानी जो क्षेत्र को सिर से पांव तक समझता है, जो इसे ज्ञान द्वारा अपने से अलग समझता है, वही क्षेत्रज्ञ यानी क्षेत्रके जानने वाला है। असल बात यह है कि प्राणी का जो शरीर है, वह क्षेत्र या खेत है, पाप, पुण्य इसी खेत में पैदा होते हैं। क्षेत्रज्ञ यानी जीवका खेत के पाप, पुण्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे श्लोक से भगवान जीव और ईश्वर की एकता दिखाते हैं।

(मू०) तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

[३]

(भा०पा०) है क्षेत्र कैसा कौन उसके कौन कौन विकार हैं।
उत्पन्न होता कौन किससे ये सुगूढ़ विचार हैं ॥
है कौन वह क्षेत्रज्ञ उसका क्या महान प्रभाव है ।
संक्षेप से सुन पार्थ! जो कुछ बात है जो भाव है ॥३॥

अर्थ—हे अर्जुन! वह क्षेत्र यानी शरीर क्या है, उस का स्वभाव कैसा है, उसके विकार क्या हैं, किन किन कारणों से क्या क्या कार्य होते हैं, वह क्या है, और उसकी शक्ति क्या है, इन सबको तू मुझ से संक्षेप से सुन ॥३॥

भावार्थ—भगवान अर्जुन के प्रति कहने लगे कि वह क्षेत्र यानी शरीर जिस का जिक्र मैं पहले कर चुका हूं किस जड़ पदार्थ से बना है; उसका स्वभाव क्या है; धर्म क्या है; वह कैसे कैसे विकारों से युक्त है; और

कैसे प्रकृति पुरुष के संयोग से पैदा हुआ है वह मैं तुझे संक्षेप से बताता हूं। साथ ही यह भी बताता हूं कि क्षेत्रज्ञ यानी जीवका स्वरूप और ऐश्वर्य्य कैसा है।

(मू०) ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

[३]

(भा०प०) बहु भांति ऋषियों ने कहा है विविध छन्दों में इसे ।
सब कार्य कारण हेतु युत सह विधि बताया है जिसे ॥
यह ब्रह्म सूत्रों के पदों में है सविधि गाया गया ।
भ्रम लेश है जिस में नहीं जो मान्य है माना गया ४

अर्थ—हे अर्जुन ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप ऋषियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है, ऋक्, साम आदि वेदों ने भी भिन्न भिन्न करके इनका स्वरूप वर्णन किया है, युक्तियों और निश्चित अर्थ वाले ब्रह्म सूत्र पदों में उनका स्वरूप अनेक तरह से कहा गया है ॥४॥

भावार्थ—यहां भगवान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में अर्जुन को उपदेश करना चाहते हैं। इसी गरज से अनेक ऋषियों और वेदों तथा व्यास कृत सूत्रों का हवाला देकर अर्जुन की दिल चस्पी बढाना चाहते हैं; जिस से वह ध्यान पूर्वक सुने। वह कहते हैं; कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप वशिष्ठ; पाराशर आदि ऋषियों ने खूब खोल खोल कर अनेक तरह से योग शास्त्रों में कहा है। ऋक् साम आद वेदों में भी इस को खुब कहा है। इन के सिवाय व्यास कृत ब्रह्मसूत्रों में यह विषय इस तरह से समझाया है कि फिर सन्देह करने को जगह नहीं रहजाती।

(मू०) महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

[६]

(भा०प०) दश इन्द्रियां; मन; महाभूत; अहंकार विषय सभी ॥
संघात; इच्छा; बुद्धि सुख दुख चेतना धृति द्वेष भी ॥५
जो तत्व हैं इनसे बना सविकार काया क्षेत्र है ॥
यह जानता है पार्थ ! जिसके ज्ञान रूपी नेत्र हैं ॥६॥

अर्थ—पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियां एक मन, और पांच इन्द्रियों के विषय ये चौबीस तत्व; और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख शरीर चेतना और धीरज इन सबसे यह शरीर बना है, यानी ये सब क्षेत्र के विकार हैं ॥५-६॥

भावार्थ—पृथ्वी; जल; अग्नि; वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं। इन सबका कारण अहंकार है, अहंकार का कारण बुद्धि है, बुद्धि को महत्व भी कहते हैं। बुद्धि का कारण सत्व; रज; तम गुणात्मक अव्यक्त है। जो अव्यक्त सब का कारण रूप है; वह किसी का भी कार्य रूप नहीं है। पांच महाभूत; अहंकार; बुद्धि (महत्व) और अव्यक्त; इन आठों कोही सांख्य शास्त्र वाले आठ प्रकार की प्रकृति कहते हैं। आंख; कान; नाक; जीभ और त्वचा (चमडा) ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। और हाथ; पांव; मुंह; लिंग और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। और इन दश इन्द्रियों के साथ ही ग्यारहवां संकल्प विकल्पों से बना हुआ "मन" है। इनके सिवा इन्द्रियों

के पांच विषय रूप; शब्द; गन्ध. रस और स्पर्श हैं। इस तरह ये चौबीस हुए। सांख्य लोग इन्हीं चौबीसों को चौबीस तत्व कहते हैं।

भागवान कहते हैं कि उनको जिन्हें वैशेषिक शास्त्रके जानने वाले लोग सहजात उपाधियां कहते हैं, एक मात्र क्षेत्र की उपाधियां हैं, किन्तु क्षेत्रज्ञ की उपाधियां नहीं है।

इच्छा—जो सुख कारी वस्तु पहले अनुभव की है. वैसे ही फिर देखने पर जो उसके लाभ करने की उत्तेजना देती है, उसे इच्छा कहते हैं। इच्छा अन्तःकरण का स्वाभाविक गुण है, वह क्षेत्र है. क्योंकि वह समझने लायक है। इसी तरह द्वेष वह है, जो दुःखदायी चीज में अनिच्छा पैदा करता है, यह भी क्षेत्र है, क्योंकि यह भी जानने योग्य है। इसी तरह सुख दुःख आदि सभी क्षेत्र हैं, और ये सब अन्तःकरण की उपाधियां हैं। ये सब क्षेत्रज्ञ की उपाधियां नहीं हैं। यहां क्षेत्र अपने विकारों सहित वर्णन करदिया गया है।

अब आगे आत्मज्ञान में वृद्धि करने वाले गुणों का वर्णन किया जायगा। क्योंकि क्षेत्रके विषय में ऊपर संक्षेप में कहा जा चुका है। क्षेत्रज्ञ के विषय में इसी १३ वें अध्याय के १२ वें श्लोक में कहा जायगा। इस जगह कृष्ण भगवान क्षेत्रज्ञ के जानने योग्य साधनों को विस्तार से कहते हैं; क्योंकि उन सब साधनों को जानने से आत्मज्ञान में सहायता मिलती है, अथवा यों कह सकते हैं कि आत्मज्ञान के उन उपायों विना आत्मज्ञान नहीं होसकता। जो आत्मज्ञान विद्या को जानना चाहते हैं, उन्हें इन उपायों को अवश्य जानना चाहिये क्योंकि ज्ञान के साधन होने से ये भी ज्ञान रूप है।

(मू०) अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रह ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

[५]

(भा०प०) पाखण्ड मान न चाहना, स्थिरता अहिंसा सरलता ।
आचार्य सेवा आत्म निग्रह क्षान्ति शौच अचपलता ५

होना विरक्त न गर्व करना दुख हटाना नेह के ।
यह जानना हैं दोष जन्म; जरा; मरण दुख देह के ८

अर्थ—अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव, गुरु सेवा, पवित्रता स्थैर्य आत्म निग्रह ॥७॥

इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य होना, अहङ्कार न होना, जन्म मरण बुढापा, रोग और दुःख की बुराइयों को बारम्बार विचारना ।८।

(मू०) असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

[६]

(भा०प०) होना नहीं आसक्त पत्नी पुत्र गृह परिवार में ।
पड़ना न उनके सुखद दुःखद प्रेम पारावार में ॥
चाहे विपत्ति पड़े महा या राज्य मन चाहा मिले ।
सम-भाव रहना शान्त चाहे दुख मिले या सुख मिले ६

अर्थ—पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि से मन को अलग रखना, उनके सुख दुःखों में मनको न लगाना, प्यारी और कुप्यारी चीज के मिलने पर एकसा रहना ॥९॥

(मू०) मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

[७]

भा०प०) शुचि शान्ति प्रिय एकान्त प्रिय होना न भीड पसन्द हो ।
रहना न उनके साथ जिनकी बुद्धि-गति-मति मन्द हो१०

अध्यात्म ज्ञान न भूलना नित तत्व ज्ञान विचारना ।
मुझमें अटल नित भक्ति रख मद-मोह रिपुको मारना११

अर्थ—मुझ परमात्मा में अनन्य योग, अथवा सर्वत्र आत्म-दृष्टि से एकान्त भक्ति होना, एकान्त-स्थान में रहना, संसारी लोगों की संगति से अरुचि ।१०।

अध्यात्म ज्ञान में सदा नित्य भाव और तत्वज्ञान के विषय मोक्ष को सर्व श्रेष्ठ मानना। अमानित्व से लेकर तत्वार्थ दर्शन तक तो ये सब क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के साधन कहे हैं। ये सब ज्ञान हैं। और इसके विपरीत मान, दम्भ आदि अज्ञान हैं ॥११॥

भावार्थ—ऊपर ७ से लेकर ११ वें श्लोकों का भावार्थ एकही जगह करदिया है। अलग अलग लिखने से पढने वालों को असुभीता होता।

१ अमानित्व=मान की चाह न होना, २ अदम्भित्व=अपनी बड़ाई न मारना, ३ अहिंसा=किसी जीव को न मारना और न दुःख देना, ४ क्षान्ति=दूसरों के दुःख देने पर भी क्रोध न करना, ५ सरल-स्वभाव=जो दिल में हो उसे ही बाहर करदेना, ६ गुरु-सेवा=ब्रह्मविद्या सिखाने वाले गुरु की टहल करना; ७ पवित्रता=दो प्रकार की है—(१) बाह्य-शौच, (२) अन्तर-शौच। जल और मिट्टी द्वारा शरीर का मैल हटाने को "बाह्य-शौच" कहते हैं। विषयों में दोष दिखाकर उनको राग-द्वेष आदि से रहित करने को "अन्तर-शौच" कहते हैं। ८ स्थैर्य—स्थिरता=सब जगह से मन हटाकर एक मात्र मोक्ष की राह में चेष्टा करना। अथवा वारम्वार विघ्न होने पर भी मोक्ष लाभ की चेष्टा से मन न हटाना। ९ आत्मा का निग्रह=शरीर और मन का स्वभाव है कि वे सब ओर जाते हैं, उन्हें सब ओर से हटा कर ठीक राहपर लगाने को "आत्म निग्रह" कहते हैं. १० इन्द्रियों का विषयों से वैराग्य—कान, आंख, नाक आदि इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में रुचि न होने देना, ११ अहंकार—गर्व—घमण्ड, १२ जन्म—माके पेट में नौ महीने तक रहना और फिर वाहर निकलना, १३ मृत्यु—शरीर छोड़ने के समय मर्म स्थान में छेदने की सी पीड़ा होना, १४ बुढ़ापा—जिस अवस्था में बुद्धि मन्द होजाय, अंग शिथिल होजाय, और घर बाहर के लोग अनादर और घृणा करने लगें उस अवस्था का नाम "बुढ़ापा" है। १५ रोग—ज्वर, अतिसार, खांसी, संग्रहणी आदि रोग कहलाते हैं। १६ दुःख—इष्ट वस्तु के वियोग होने और अनिष्ट वस्तु के संयोग से जो चित्त का परिताप-रूप परिणाम है उसी का नाम "दुःख" है।

जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग और दुःखकी बुराइयों का वारम्वार विचारना। जैसे जन्म के समय नौ महीने माके पेट में रहना, फिर खूब सिकुड़

कर छोटी राह से निकलना, माके पेट में रहते समय, मल-मूत्र रक्त आदि में रहना, और वहां के मल के कीडों द्वारा काटा जाना और माता की जठराग्नि द्वारा जलना इस तरह के अनेक दोषों का विचारना। इसी तरह मरण के समय सारी नसों का खिचाव होना, मर्म स्थानों में विच्छुओं के काटने के समान पीडा होना, ऊपर का सांस चलना, अधिक कष्ट होने के कारण वेहोशी होना, वेहोशी में पडे पडे ही मल मूत्र निकल जाना इत्यादि दुःखों पर विचार करना चाहिये। इसी तरह बुढापे में शरीर शिथिल हो जाना, आखों से दिखाई न देना, कानों से सुनाई न पडना, हाथ पैर आदि इन्द्रियों का निकम्मा होजाना, सांस चढना, उठने की चेष्टा करना और गिर पडना, शरीर कांपना, क्षुधा मन्द होजाना, हरदम खांसी के मारे खों खों करना, बाहर के तथा घरके लोगों स्त्री, पुत्र आदि द्वारा अनादर होना इत्यादि दोषों पर विचार करना, इसी तरह रोगों में दुःख पाना, और दुःखों में जी जलना इत्यादि ये सब दुःखों के ही कारण हैं। इन पर सदा विचार करते रहना चाहिये। इन विषयों पर बारम्बार विचार करने से कभी न कभी "वैराग्य" होजाता है। जन्म, मरण बुरा लगने लगता है। तब मनुष्य मोक्ष की इच्छा करके मोक्ष साधन के उपायों में चित्त लगाता है। १७ समचित्तत्व=यह चीज मेरी है, ऐसा समझ कर किसी चीज में प्रीति न रखना, स्त्री, पुत्र, मकान धन आदि से चित्त अलग रखना, अच्छी और प्यारी चीज के मिलने पर प्रसन्न न होना, बुरी और कुप्यारी चीज के मिलने पर दुःखी न होना, इसी को समचित्तता कहते हैं और यह भी ज्ञान बढाने वाली है। १८ अव्यभिचारिणी=ईश्वर और अटल चित्त से मुझ वासुदेव में ही भक्ति रखना, किसी भी कारण से किसी अवस्था में भी मेरी भक्ति से न डिगना और मुझे ही अपनी परम गति समझना, मुझ से परे किसी को भी न समझना, यही भक्ति ज्ञान का

कारण है। १९ विविक्तदेश=जहां सांप, चीते और चोरों का भय न हो जहां किसी तरह का झंझट न हो, ऐसे नदी के किनारे पर या वन में अकेले रहना, क्योंकि आत्माका ध्यान एकान्त स्थान में अच्छा होता है। विषयी या पापियों की मण्डली में न रहना, किन्तु महात्माओं की संगति करना। २० आत्मज्ञान=जिस ज्ञानके द्वारा आत्म वस्तु और अनात्म वस्तु यानी सत, असत वस्तु जानी जाय।

इस अध्याय के ७ वें श्लोक से लेकर यहां तक जो बीस नाम आत्म-ज्ञान के साधन हैं उनसे किस चीज को जानना चाहिये इसके जवाब के लिये भगवान फिर छः श्लोक कहते हैं।

(मू०) ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

[८]

(भा०प०) कहते इसे ही ज्ञान ऐसा पार्थ ! मेरा ध्यान है ।
जो कुछ तुम्हें अतिरिक्त इसके दीखता अज्ञान है ॥
अब मैं बताता हूं तुझे सुन ज्ञेय कहते हैं किसे ।
है प्राप्त अमृत मोक्ष होता जान लेने से जिसे ॥

[६]

सत भी उसे कहते नहीं कहते असत भी है नहीं ।
जड जीव दोनों के परे परब्रह्म है मानव नहीं ॥१२॥

कर पांव आखें कान सिर चहुं ओर मुख उसके सही।
अव्यक्त होकर भी सदा है व्याप्त वह सर्वत्र ही ।१३।

अर्थ—हे अर्जुन जो जानने योग्य है, उसे मैं कहता हूं, उसके जानने से मनुष्य की मुक्ति होजाती है, वह अनादि परब्रह्म है, उसे सत् असत् नहीं कहते ॥१२।

उस परब्रह्म के हर ओर हाथ और पांव है । उसके हर तरफ आंख, सिर और मुख हैं उसके हर तरफ कान हैं । वह सब को व्याप्त करके स्थित है ॥१३॥

भावार्थ—उसके चारों ओर हाथ, पांव, आखें, कान, मुख और सिर हैं । वह सब जगह फैल रहा है । कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहां वह नहीं है । सारा संसार उसी पर ठहरा हुआ है । वह सब के काम देखता और सबकी बातें सुनता है ।

हमारे नख से सिरतक वह व्याप्त है । हम उसी की सत्ता से चलते फिरते और काम करते हैं । हम उसी की चेतना से देखते, सुनते, बोलते और सूंघते हैं । जिस तरह रथ, गाडी आदि जड पदार्थ, चेतन की सहायता से चलते हैं, बिना चेतन की सहायता के नहीं चलते । ऐसे ही हाथ, पैर आदि जड पदार्थ, बिना चेतन की सहायता के कोई काम नहीं कर सकते ।

(मू०) सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

[१०]

(भा०प०) इन्द्रिय न उसके हैं यद्यपि आश्चर्य ही है होरहा ॥
पर इन्द्रियों के गुण सभी हैं दीखते उसमें अहा ! ॥
बन्धन रहित होकर स्वयं करता जगत की सृष्टि है ।
उसके नहीं हैं नेत्र पर अति तीव्र उसकी दृष्टि है १४

अर्थ—वह नेत्र दि सब इन्द्रियों के व्यापार से भासता है (तथापि) इन्द्रियों से रहित है। वह संग रहित है। तथापि सारे ब्रह्माण्ड को धारण कर रहा है॥ वह सत्व आदि गुणों से रहित है। तथापि उनका भोगने वाला है॥१४॥

भावार्थ—परब्रह्म के कान, नाक आदि इन्द्रियां नहीं है, पर वह सब इन्द्रियों में उनके गुण देने वाला है। वह इन्द्रिय बिना होने परभी सब इन्द्रियों के गुणों से मालूम होता है। असल बात यह है कि यह आत्मा आंख न होने पर भी देखता है, कान न होने परभी सुनता है. हाथ न होने पर भी पकडता है, पैर न होने पर भी चलता है, इसीसे इसका होना जान पड़ता है वह परब्रह्म असंग है, तथापि सब को धारण करता है। वह सत्व, रज और तम इन गुणों का भोगने वाला है। यानी विषयों से पैदा हुए सुख दुःख आदि का अनुभव करता हुआ जान पड़ता है। इसी लिये ब्रह्म सर्व है क्यों कि।

(मू०) बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

[११]

(भा०प०) स्थूल सूक्ष्म है सही वह दूर भी है पास भी ।
अविभक्त भी है अंश हो करता सभी में वास भी ॥१५॥

जंगम स्वयं स्थावर स्वयं है ज्ञेय भी अज्ञेय भी ।
कर्त्ता स्वयं हर्त्ता स्वयं वह ध्येय भी है श्रेय भी ॥१६॥

अर्थ—यह सब प्राणियों के भीतर और बाहर है। वह चरभी है और अचर भी है। क्योंकि वह बहुत ही सूक्ष्म बारीक है, इसी से वह जाना नहीं जा सकता। वह दूरभी है और पासभी ॥१५॥

यद्यपि उसके भाग नहीं हो सकते तथापि वह सब प्राणियों में बटा हुआ जान पड़ता है। वह केवल सब प्राणियों का पालन करने वाला, नाश करने वाला और पैदा करने वाला है ॥१६॥

भावार्थ—वह सारे चराचर प्राणियों के भीतर और बाहर है। जिस तरह चन्द्रमा की चांदनी सब जगह व्याप्त है, किन्तु कारण विशेष से कहीं दीखती है और कहीं नहीं दीखती। उसी तरह जिन की ज्ञानकी आखैं नहीं खुली हैं उन्हें वह नहीं दीखता, और जिनकी ज्ञान की आखें खुलगई हैं उनको दीखता है। वह चरभी है और अचरभी है। मनुष्य, पशु; पक्षी आदि चलने; फिरने वालों के साथ चर मालूम होता है; किन्तु पेड़; वृक्षादि एक जगह ठहरने वालों के साथ अचर (न हिलना डोलना) मालूम होता है। वह सूक्ष्म यानी बहुत छोटा है; इसी से वह जाना नहीं जा सकता। तीव्र बुद्धि वाले ज्ञान से उसे जान सकते हैं; किन्तु मोटी

बुद्धि वाले उसे नहीं जान सकते। वह पास भी है और दूर भी जो अपने आत्मा को ही क्षेत्रज्ञ परमात्मा समझते हैं; जो यह समझते हैं कि आत्मा के सिवाय और परमात्मा नहीं है; वह उनके तो पास है; किन्तु जो आत्मा के सिवाय और को परमात्मा समझते हैं; और उसकी खोज में मारे मारे फिरते हैं; उन से वह दूर है। जिस तरह मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है; मगर उसकी सुगन्ध से वह अपने में न समझ कर उसकी तलाश में मारा मारा फिरता है और उसे नहीं पाता। इसी तरह अपने भीतर ही आत्मा को छोडकर अज्ञान से उसे अपने अन्दर न समझ कर उसकी तलाश में उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक जो मारे मारे फिरते हैं उन्हें वह कभी नहीं मिलने का। क्योंकि ब्रह्म सब में एक है।

वह भिन्न भिन्न शरीरों में बटा हुआ नहीं है; वह आकाश के सामन एक है; तथापि वह भिन्न भिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न मालूम होता है। मतलब यह है कि वह सबमें एक ही है; मगर शरीरों में उपाधि के सम्बन्ध से अलग अलग मालूम होता है। वास्तव में वह निर्विकार है। किन्तु ब्रह्म सबका प्रकाशक है।

(मू०) ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

[१३]

(भा०प०) वह तेज का भी तेज है वह ज्ञेय भी है ज्ञान भी ।
ध्याता अधिष्ठाता स्वयं ही ध्येय भी है ध्यान भी १७

ज्ञानादि के सम्बन्ध में मैंने यहाँ जो कुछ कहा ।
समझो इसे फिर प्राप्त होगा परमपद पावन महा १८

अर्थ—वह ज्योतियों का भी ज्योति है, इसी लिये वह अज्ञान से परे कहा जात है वही ज्ञान है, वही जानने योग्य वस्तु है, वही ज्ञान से मिलता है, वह सब प्राणियों के हृदय में ठहरा हुआ है ॥ १७ ॥

हे अर्जुन क्षेत्र (शरीर) ज्ञान और ज्ञेय (क्षेत्रज्ञ) ये तीनों संक्षेप से कहे गये। इन्हें जानकर मेरा भक्त मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—वह जानने योग्य ब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति है, यानी वह सूर्य, चांद, बिजली आदि चमकीली चीज़ों में भी प्रकाश करने वाला है। इसी तरह वह इन बाहरी ज्योतियों का भी प्रकाशक है इत्यादि ।

इसी तेरहवें अध्याय के ५-६ श्लोकों में "क्षेत्र" का वर्णन किया गया है । सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक (अमानित्व से लेकर तत्वज्ञान के विषय मोक्ष तक) ज्ञान का वर्णन किया गया है । बारहवें से सत्रहवें तक ज्ञेय (जानने योग्य) का वर्णन संक्षेप में दिया गया है । यही गीता और वेदों का उपदेश है ।

जो मनुष्य मेरी भक्ति करता है; जो मुझे; वासुदेव; परब्रह्म; सर्व व्यापक; परम गुरु; और हर प्राणी में एक ही आत्मा समझता है यानी जिसके दिल में यह खयाल है; कि मैं जो कुछ देखता; सुनता या छूता

हूं; वह वासुदेव के सिवाय कुछ नहीं है। वह मेरी भक्ति में लीन होकर तथा ऊपर कहे हुए क्षेत्र-ज्ञान और ज्ञेय का ज्ञान प्राप्त कर के मोक्ष पाजाता है।

(मू०) प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

[१३]

(भा०प०) हैं प्रकृति पुरुष अनादि दोनों पार्थ ! ऐसा जानलो।
गुण दोष हैं उत्पन्न होते प्रकृति से यह मानलो १९

इस देह का कारण प्रकृति है कर्म करवाती वही।
सुख दुःख पड़ता भोगना इसका पुरुष कारण सही२०

अर्थ—हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। शरीर और इन्द्रिय आदि सब विकार तथा सुख दुःख, मोह आदि गुण इनको प्रकृति से पैदा हुए जानो ॥ १९ ॥

क्योंकि कार्य और कारण को पैदा करने वाली प्रकृति है और सुख दुःख को भोगने वाला पुरुष है ॥ २० ॥

भावार्थ सातवें अध्याय के छठे श्लोकमें "क्षेत्र" और "क्षेत्रज्ञ" के अनुरूप "परा" और अपरा" दो प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन किया गया था और यह भी कहा गया था कि यही सब जीवों के पैदा करने

वाली हैं। प्रश्न हो सकता है कि क्षेत्र—और क्षेत्रज्ञ दोनों प्रकृतियां सब जीवों को पैदा करने वाली किस तरह हैं? इसका जवाब भगवान देते हैं।

प्रकृति और पुरुष—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये दोनों ईश्वर की प्रकृतियां हैं। ये दोनों प्रकृति और पुरुष आदि रहित हैं, यानो अनादि हैं। जब ईश्वर अनादि है तो उसकी प्रकृतियां भी अनादि होनी चाहियें। ईश्वरका ईश्वरत्व अपनी दोनो प्रकार की प्रकृतियों के ऊपर अधिकार रखने से है। इन दोनों प्रकृतियों से ही वह जगत को पैदा करता और नाश करता है। दोनों प्रकृतियां अनादि रहित हैं और इसलिये वे संसार की कारण हैं।

कुछ लोग ऐसा अर्थ करते हैं; कि प्रकृतियां अनादि नहीं हैं इस अर्थ से वह ईश्वर को जगत का कारण ठहराते हैं। वे कहते हैं कि अगर प्रकृति और पुरुष सनातन हैं तो संसार का कारण वे प्रकृतियां ही हैं। ईश्वर जगत का रचने वाला नहीं है। यह बात ठीक नहीं है।

अगर प्रकृति और पुरुष अनादि नहीं हैं; तो इन दोनों के पैदा होने तक ईश्वर किस पर शासन करता होगा! यदि शासन करने को कोई न रहे तो ईश्वर ईश्वर नहीं है। इसके सिवाय यह भी है, कि अगर संसारका कारण ईश्वर के सिवाय और कुछ नहीं होता, तो संसार का भी अन्त नहीं होता। इस बात से शास्त्रभी निकम्मे होजाते; साथ ही मोक्ष और संसार बन्धन का भी झगडा नहीं रहता। इसलिये प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं और अनादि होने की वजह से ही संसार के कारण हैं।

अगर ऊपर की बात के विपरीत ईश्वर की प्रकृतियां अनादि मानली जाय तो यह गूढ रहस्य झटपट खुल जाता है। कैसे? शरीर इन्द्रिय आदि विकार, सुख दुःख मोह आदि गुण; तीन गुणों से बनी हुई प्रकृति माया

से उत्पन्न होते हैं। यह ईश्वरीय प्रकृति माया ही रूप बदल करती है। प्रकृति के विकार और गुण क्या हैं ?

भगवान कहते हैं।

कार्य शरीर है। कारण १३ हैं जो शरीर में मौजूद हैं; पांच ज्ञानेन्द्रिय (आंख; कान; नाक; जीभ और त्वचा) पांच कर्मेन्द्रिय (हाथ; पांव; मुंह; लिंग; गुदा) मन; बुद्धि और अहंकार ये १३ कारण हैं।

आगे यह बताया जायगा कि पुरुष संसार का कारण किस तरह है। ध्यान रखना चाहिये कि पुरुष; जीव; क्षेत्रज्ञ और भोक्ता एकही अर्थ सूचक शब्द हैं; यानी इन सब का एकही अर्थ है।

(शंका) प्रकृति अचेतन है; इसलिये वह स्वयं शरीर आदि पैदा नहीं कर सकती। पुरुष निर्विकार है इस लिये उसे सुख दुःख का भोगने वाला कहना अनुचित है।

(उत्तर) प्रकृति अचेतन है; मगर चेतन के साथ सम्बन्ध होने से वह जगत के उपादान का कारण है। इसीतरह पुरुष निर्विकार है; किन्तु जड़ प्रकृति के सम्बन्ध से भोक्ता मालूम होताहै। जिसतरह चुम्बक के पास पहुचने से लोहा चेष्टा करता है, उसी तरह प्रकृति और पुरुष पास-पास होने से आपना-आपना काम करते हैं। पुरुष के पास होने से प्रकृति कर्त्ता है। और प्रकृति के पास होने से पुरुष भोक्ता है। इस से सिद्धहोता है कि पुरुष और प्रकृति ही संसार के कारण हैं। उन में से एक शरीर और दूसरा सुख दुःखों को भोगता है।

जब पुरुष सुख दुःखों का भोगता है तो यहां पर यह सवाल पैदा होता है कि जब पुरुष द्वन्द विकार आदि से रहित निराकार निर्गुण है; तोवह सुख दुःखों को क्यों भोगता है।

तब भगवान कहते हैं हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! सुन—

(मू० पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

(१४)

(भा०प०) रहकर प्रकृति में पुरुष करता इन गुणों का भोग है।
यह भोगही उसके लिये होता धनञ्जय? रोग है॥
अच्छी बुरी जो योनियों में जन्म होता है कभी।
है मुख्य कारण पार्थ? उसका प्रकृति के ये गुण सभी २१

अर्थ—पुरुष प्रकृति से पैदा हुए सुख दुःखों को भोगता है। प्रकृति के गुणों के संग के कारण से ही उसे नीची ऊंची योनियों में जन्म लेना पड़ता है॥२१॥

भावार्थ—क्योंकि पुरुष भोक्ता प्रकृति यानी अविद्या में रहकर अपने तईं अपने शरीर और इन्द्रियों से अभिन्न समझता है यह उसकी भूल है। वह यह नहीं समझता कि शरीर और इन्द्रियां प्रकृति के विकार हैं, इसलिये वह प्रकृति के सुख दुःख आदि गुणों को भोगता है। "वह समझता है मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं मूर्ख हूं, मैं बुद्धिमान हूं,"। वह अपने तईं सुखी दुखी समझता है, इसी से उसे जन्म लेना पड़ता है।

(मू०) उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥२२॥

[१५]

(आ०प०) पालक स्वयं भोक्ता स्वयं साक्षी स्वयं जो देह में ।
देता सदा अनुमति स्वयं रह देह रूपी गेह में ॥
परब्रह्म परमात्मा महेश्वर सब उसी के नाम हैं ।
उसकी कृपासे विश्व के चलते सदा सब काम हैं २२.

अर्थ—इस देह में रहकर यह पुरुष देखने वाला (साक्षी) सलाह देने वाला पोषण करने वाला, भोगने वाला और महेश्वर परमात्मा है ॥२२॥

(मू०) य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैःसह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

[१६]

(आ०प०) इस पुरुष को अरु प्रकृति को जो त्रैगुणों से युक्त है ।
जो जानता है शीघ्र होता जन्म बन्धन मुक्त है ।२३।

कुछ लोग अपने आप में ही देखते मन ध्यान से ।
कुछ शुद्ध अन्तःकरण करके देखते हैं ज्ञान से ॥२४॥

अर्थ—हे अर्जुन जो इस तरह से पुरुष को जानता है, और गुणों सहित प्रकृति को जानता है, वह संसार में रहता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता ॥२३॥

कितने ही मनुष्य मन से ध्यान करके अपने में ही आत्मा को देखते हैं। कितने ही सांख्य-योग यानी प्रकृति पुरुष के विचार से देखते हैं, और कितने ही कर्मयोग से देखते हैं ॥२४॥

भावार्थ—ऊँचे दर्जे के योगी या उत्तम अधिकारी सब ओर से चित्त को हटा कर उसे आत्मा में लगाते हैं। ध्यानका प्रवाह लगातार जारी रहने से उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उन्हें अपने ही भीतर आत्मा—परमात्मा—दिखाई देने लगता है। सांख्य योग वाले ऐसा विचार करते हैं कि सत्व, रज, तम तीन गुण हैं। आत्मा सनातन और उनके कामों को देखने वाला है और इन गुणों से अलग है। इस तरह का विचार करने वाले मध्यम अधिकारी कहलाते हैं। ये लोग आत्मा में आत्मा को आत्मा द्वारादेखते हैं; यह कर्म-योग है; यानी वह कर्म जो ईश्वर की सेवा के लिये कियाजाता हैं, वह योग है। ऐसे कर्म को योग इसलिये कहते हैं, कि योग की वह राह दिखलाता है। कुछ लोग इस कर्म योग से आत्मा को देखते हैं, यानी ईश्वर के लिये कर्म करने से चित्त शुद्ध होजाता है और फिर ज्ञान होजाता है।

(मू०) अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणाः ॥२५॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

[१७]

(भा०प०) कुछ लोग ऐसे भी जगत में देखते सुनते वही।
करते सश्रद्धा भक्ति होते मुक्त-भव-बन्धन सही २५

जड़ जीव जंगम सृष्टि में जो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं।
वह क्षेत्र अरु क्षेत्रज्ञ के संयोग के फल पार्थ? हैं ॥२६॥

अर्थ—हे अर्जुन? कितने ही ऐसे हैं, जो सांख्य-योग और कर्म-योग दोनों नहीं जानते, किन्तु दूसरों से सुनकर ही उपासना करते हैं, वे भी श्रद्धा पूर्वक उन के सुनने से संसार सागर से तरजाते है, ॥२५।

हे अर्जुन संसार में जो स्थावर और जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ क मिलने से पैदा होते हैं, ऐसा जान ॥२६।

(मू०) समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

(१८)

(भा०पा०) सब प्राणियों में पार्थ ? जो रहता सदा सम भाव है।
होता न जिसका प्रलय के पश्चात् पार्थ? अभाव है॥
जिसने उसे देखा वही पण्डित उसी जाना सदा।
पाया उसी ने सत्य पथ यह मुनि सभी ने है कहा॥२७॥

अर्थ—हे अर्जुन? जो सारे प्राणियों में परमेश्वर को समान भाव से देखता है और प्राणियों के नाश होने पर भी आत्मा को अवि नाशी देखता है वही देखता है ॥ २७॥

(मू०) समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् २८

[१९]

(भा०प०) चलकर कुपथपर जो न करता आप अपना घात है ।
जो जानता सर्वत्र ही सम भाव ईश्वर व्याप्त है ॥
करता भजन जो प्रेम से चलता सदा सन्मार्ग पर ।
मिलता उसे पद परम जो होता महा कल्याण कर२८

अर्थ—जो देखता है कि, ईश्वर सब में समान भाव से वर्त्तमान है, वह आत्मा से आत्माको कष्ट नहीं करता, इसलिये उसकी मोक्ष होजाती है ॥२८॥

भावार्थ—जो ईश्वर या जीव को विकारवान् समझता है, वह अपना नाश आप करता है। जो आत्मा को ईश्वर की तरह सब जगह देखता है, ईश्वर और आत्मामें भेद नहीं समझता वह आत्माको नाश नहीं करता, मोक्ष पाजाता है।

(मू०) प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते सदा ॥३०॥

(२०)

(भा०प०) आत्मा अकर्त्ता कर्म करती प्रकृति जो यह जानता।
पण्डित वही ज्ञानी वही है सत्य को पहचानता ॥२९॥

हैं भूत यद्यपि भिन्न भिन्न तथापि अर्जुन ! एक हैं।
उस एक से विस्तार हो होते असंख्य अनेक हैं ॥३०॥

अर्थ—जो पुरुष यह समझता है, कि सारे काम प्रकृति ही करती है, आत्मा कुछ नहीं देता, वही आत्मा को ठीकतरह से पहचानता है ॥२९॥

हे अर्जुन ? जो पुरुष स्थावर, जंगम सब प्राणियों के जुदे जुदे भेदोंको, प्रलय कालमें, ईश्वर की एकही शक्ति—प्रकृति में टिका हुआ मानतीहै, और इसी प्रकृति में सब प्राणियों के विस्तार को मानता है वह ब्रह्म होजाताहै ॥३०॥

भावार्थ—जो यह समझता है कि सभी भले बुरे कर्म शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण द्वारा होते हैं, आत्मा कुछ भी नहीं करता, वही आत्मा को अच्छी तरह जानता है और उस की मोक्ष होती है।

(मू०) अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

(३१)

(आ०प०) जब दीखने ऐसा लगे तब ब्रह्म होता प्राप्त है।
जो नित्य थिर होकर अजन्मा विश्वभर में व्याप्त है॥
कौन्तेय ! यह अव्यक्त परमात्मा न करता कुछ कभी।
इस देह में रहता यदपि बन्धन न लगता पर कभी।३१।

अर्थ—हे अर्जुन? यह परमात्मा अनादि, गुण रहित और अविनाशी है। यद्यपि वह देह में रहता है, तथापि न कर्म करता है और न कर्म फलों में लिप्त होता है॥३१॥

भावार्थ—आत्मा अनादि और निर्गुण है, इसी से वह कभी नाश नहीं होता। जो आदि सहित और गुण युक्त होता है। उस का नाश होजाता है। इस लिये सिद्ध हुआ कि परमात्मा अविनाशी है। यद्यपिवह शरीर में रहता है, तथापि वह काम नहीं करता। क्यो कि वह कर्म नहीं करता, इसी से उसे कर्म-फलों में लिप्त होना नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि जो कर्त्ता है वही कर्म फल भोगता है; लेकिन यह आत्मा तो अकर्त्ता है इसी से कर्म फलों मे दुखित नहीं होता।

(मू०) यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

[२२]

(भा०प०) रहता भरा है शून्य होकर भी सदा आकाश ज्यों ।
रहती सदा निर्लिप्त आत्मा देह में कर वास त्यों ॥३२॥

संसार को रवि एक करता है प्रकाशित पार्थ? ज्यों ।
क्षेत्रज्ञ करता है प्रकाशित क्षेत्र को सब पार्थ! त्यों ॥३३॥

अर्थ— हे अर्जुन! जिस तरह सर्वत्र व्यापक आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारण से दूषित नहीं होता, उसी तरह सारे देह में बैठा हुआ आत्मा भी दूषित नहीं होता ॥ ३२ ॥

जिस भांति एक सूर्य सारे जगत में प्रकाश करता है, उसी तरह एक क्षेत्री सारे शरीर में प्रकाश करता है ।३३॥

भावार्थ—शरीर के किये दोषों से आत्मा कभी दूषित नहीं होता । जिस तरह एक सूर्य्य सारे जगत में उजाला करता है. उसी तरह एक क्षेत्री यानी शरीर में रहने वाला आत्मा. सारे शरीर में वर्तमान है ।

(मू०) क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

[२३]

(आ०प०) जो क्षेत्र अरु क्षेत्रज्ञ दोनों बीच अन्तर पार्थ ! है ।
जो प्रकृति से सब प्राणियों का मोक्ष धर्म यथार्थ है ॥
जो जान लेते हैं उसे निज दिव्य ज्ञान प्रकाश से ।
वे प्राप्त करते हैं परम पद छूटकर भव पाश से ॥१४॥

अर्थ—जो ज्ञान की आंखो से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अन्तर अच्छी तरह से देखते हैं, और प्रकृति से मोक्ष के उपाय धारणा आदि को जानते हैं उनकी मोक्ष होजाती है ॥३४॥

भावार्थ—बन्धन का कारण भी प्रकृति है और मोक्ष का कारण भी प्रकृति है। तमोगुण, रजोगुण के सम्बन्ध से बन्धन होता है, किन्तु सतोगुण के सम्बन्ध से मोक्ष होती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ
विभाग योगो नाम त्रयोदशोऽध्याय ।
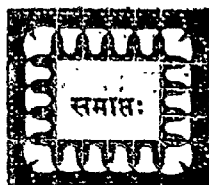
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ईश्वर के आधीन हैं, और वेही संसार के कारण ठहरते हैं, यही दिखाने के लिये कहा गया है, कि क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र में रहना और उस का गुणों में अनुराग होनाही संसार का कारण है। किसतरह और किन गुणों में क्षेत्रज्ञ का अनुराग है। गुणक्या हैं। वह उसे किसतरह बन्धन में फंसाते हैं। गुणों से छुटकारा किस तरह होसकता है। मुक्त आत्मा के स्वभाव के विशेष लक्षण क्या हैं। इन सब बातों तथा जगत की उत्पत्ति का ज्ञान मोक्ष के लिये जानना आवश्यक है। इस अध्याय में उपरोक्त बातों का ही विवरण कियाजायगा।

भगवानुवाच ।

(मू०) परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

(१)

भगवानने कहा—

(भा०प०) भगवान ने फिर भी कहा सुन लो सखे ! वह ज्ञान भी ।
सुनकर जिसे मिटता तुरत है घोर-तम-अज्ञान भी ॥
जिस ज्ञान से हो युक्त मुनि-गण तर गये इह लोक से ।
पायी सभोंने सिद्धि छूट कर्म-बन्धन-शोक से ॥१॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं तुझे उत्तम से और सब से उत्तम ज्ञान का उपदेश फिर करता हूं, जिसको जान कर सम्पूर्ण मुनि लोग मोक्ष पागये ॥१॥

(मू०) इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

[२]

(भा०पा०) पाते मुझे हैं प्रेम से जो श्रवण करते यह कथा ।
आवागमन के जाल में पड़ते नहीं वे सर्वथा ॥ २ ॥

कौन्तेय ? मैं हूं बीज दाता प्रकृति मेरी योनि है।
मैं सर्व भूतों का पिता हूं प्रकृति उनकी योनि है ३-४

अर्थ—इस ज्ञान का सहारा लेकर जो मुनि लोग मेरे साधर्म्य को प्राप्त होगये हैं, वे न तो सृष्टि रचना के समय पैदा होते हैं और न प्रलय के समय दुःख भोगते हैं ॥२॥

महत् ब्रह्म मेरी योनि है, उस में मैं बीज डालता हूं, हे भारत ? उसी से सब प्राणी पैदा होते हैं ॥३॥

हे कौन्तेय ! सब योनियों से जितने प्रकार के शरीर पैदा होते हैं, उन सब की योनि "प्रकृति" है, और मैं उस में बीज डालने वाला पिता हूं ॥४॥

भावार्थ—जिस ज्ञान का उपदेश मैं तुझे अभी करने वाला हूं, वह ज्ञान ऐसा उत्तम है कि उसके सहारे से जो मुनि लोग मेरे अनुरूप होगये हैं, उन्हें कभी जन्म लेना और मरना नहीं पडता।

महत ब्रह्म से यहां मतलब प्रकृति से है। यानी प्रकृति मेरी स्त्री है। मैं उसमें हिरण्यगर्भ के पैदा होने के लिये बीज डालता हूं। उस से सब जगत पैदा होता है। मेरे अधिकार में दो शक्तियां हैं यानी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूपी दो प्रकृतियां हैं। मैं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का मिलान करदेता हूं। क्षेत्रज्ञ, अविद्या नाम कर्म में युक्त होजाता है। इस तरह गर्भाधान करने से हिरण्यगर्भ की पैदायश होती है। और उस से समस्त जगत पैदा होता है।

हे अर्जुन ? देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि जो सब योनियों से पैदा होते हैं उन सबकी कारण रूप माता "प्रकृति" है। और गर्भाधान करने वाला पिता मैं हूं।

(मू०) सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

[२]

(भा० प०) हे पार्थ ? देही नित्य अव्यय पड गुणों के फेर में ।
इस देह में रहता बंधा फिर छूटता है देर में ॥
गुण सत्व रज तम प्रकृति से उत्पन्न होते पार्थ ! हैं ।
गुण दोष दोनों प्रकृति के ही धर्म भाव यथार्थ हैं ॥५॥

अर्थ—हे महाबाहो ? सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, ये तीन गुण प्रकृति से पैदा होकर अविनाशी जीव को देह में बांधते हैं ॥५॥

(मू०) तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुख संगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्नि बध्नाति कौन्तेय कर्मसंगनदेहिनम् ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥

[४]

(भा०प०) निर्दोष निर्मल सत्व का सुख ज्ञान माया जाल है ।
आसक्ति, तृष्णा, द्वेष रजकी प्रबल देही चाल है ६-७

गुण सत्व सुख से अरु रजोगुण कर्म से है बांधता ।
भारत ! तमोगुण ज्ञानहर अज्ञान रज्जु से बांधता ८-९

अर्थ—हे पाप रहित ! इन तीनों गुणों में से सतोगुण निर्मल, रोग रहित और शान्ति स्वरूप है । इसी से यह सुख और ज्ञान के लालच में बांधता है ॥६॥

हे अर्जुन ! रजोगुण को रागात्मक जान । इस से तृष्णा और संग की पैदायश होती है । रजोगुण जीव को काम में लगाकर बन्धन में बांधता है ॥७॥

हे भारत? तमो गुण अज्ञान से पैदा होता है, इस लिये वह सब शरीर धारियों को भूल में डालता है । वह आलस्य, नींद और प्रमाद से जीव को बांधता है ॥ ८ ॥

हे भारत? सतो गुण जीव को सुखमें लगाता है । रजो गुण मनुष्य को काम में लगाता है । तमो गुण ज्ञान को ढक कर जीवको प्रमाद में लगाता है, यानी आवश्यक कर्त्तव्य कार्यों से रोकता है ॥ ९॥

भावार्थ—हे अर्जुन ! इन तीनोगुणों में सतोगुण निर्मलहै ! यह ज्ञान का प्रकाशक है । इस के सिवा यह शान्ति स्वरूप है, इसीसे सुख कारी है । सतोगुण के कारण से "मैं सुखीहूं" मैं ज्ञानी हूं" ऐसा खयाल आत्मा करता है । यह अहंकार है, और इस अहंकार से ही आत्मा का बन्धन होता है ।

रजोगुण मनुष्य को संसारी विषयों में लगाता है, और विषयों में प्रीति कराता है। जिससमय रजोगुण का दौर-दौरा होता है तब मनुष्य जो-जो चीज़े देखता या सुनता है, उन सब के पानेकी इच्छा करता है। मन में सोचता है, कि इस चीज़ के मिलने से मुझे सुखहोगा जब वह इच्छित वस्तु मिलजाती है, तब उस का उसमें प्रेम होजाता है। जब वह चीज उस से अलग होजाती है, तब उसे दुःख होताहै। या यों समझिये कि रजोगुण ही आत्मा को काम में लगाता है। आत्मा कुछभी करनेवाला नहीं है। रजोगुण उस आत्मा के दिल में यह ख्याल पैदा करके कि "मैं करताहूं" काम कराता है। रजोगुण ही मनुष्यों को काम करने के लिये उकसाया करता है। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य कर्म करने लगता और देह के बन्धन में फंसता है। क्योंकि रजोगुण ही ज्ञान पर पर्दा डाल ने वाला भ्रम पैदा करने वाला है। आगे भगवान इन्हीं तीनों गुणों के विषय में संक्षेप से कहते हैं कि:—

हे अर्जुन! सतोगुण जीव को सुख में लगाता है। रजोगुण मनुष्य को काम में लगाता है। तमोगुण ज्ञान को ढककर जीव को प्रमाद में लगाता है।

ऊपर कहे हुए कार्य्य गुण कब करते हैं! क्या वे अपने कार्य एक साथ करते हैं अथवा अलग अलग समयों पर अपनी अपनी वारी से ? इसका जब भगवान नीचे स्वयं देते हैं।

(मू०) रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥१०॥

(५)

(भा०प०) रज तम दवें जब, सत्व का होता तभी प्राबल्य है ।
जब सत्व तम दब जाँय रज का समझलो प्राबल्य है॥
योंही समझलो सत्व रज पर विजय तम पाता कभी।
इस सृष्टि की हैं भिन्न होतीं वस्तुएँ इससे सभी ॥१०॥

अर्थ—रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण प्रगट होता है। सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण प्रकट होता है और सतोगुण तथा रजोगुण को दबाकर तमोगुण प्रकट होता है ॥१०॥

भावार्थ—जब एक गुण प्रकट होता है तब दूसरे दो गुण दबजाते हैं। तीनों या दो गुण एक समय नहीं रहते। जब सतोगुण का जोर होता है तब रजोगुण, तमोगुण दबजाते हैं। इसी तरह औरों को समझलो जिस समय रजोगुण प्रकट होगा, उस समय सतोगुण का काय अच्छा लगेगा। उस समय ज्ञान चर्चा अच्छी लगेगी। इसी तरह जब रजोगुण का समय होगा तब ज्ञान चर्चा तो अच्छी न लगेगी, किन्तु नाच, गान, थियेटर आदि अच्छे लगेंगे। सतोगुण के समय यही नाच, गान, स्त्री आदि अच्छे नहीं लगते। इसी तरह तमोगुण के समय नाच, गान, स्त्री तथा ज्ञान चर्चा कुछभी अच्छी न लगेगी। उस समय केवल नींद और आलस्य आदि नाना भांति के प्रमाद घेरेंगे।

(मू०) सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्व मित्युत ॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

[६]

(भा०प०) जब देह की सब इन्द्रियों में ज्ञान सूर्य प्रकाश हो ।
तब सत्व-गुण प्राबल्य है तम रज चला है नाश हो ११

जब लोभ इच्छा कामना अतृप्ति और अशान्ति हो ।
समझो रजोगुण बढ चला है मोह जब हो भ्रान्ति हो १२

अर्थ—हे अर्जुन ? जिस समय इस देह और इन्द्रियों में ज्ञान का प्रकाश हो, उस समय "सतोगुण की वृद्धि" होती है ॥११॥

और जब "रजोगुण की वृद्धि" होती है तब मनुष्यों में लोभ बढ जाता है और उसकी काम करने की इच्छा होती है । उस समय वह काम करने लगता है तथा अशान्ति और तृष्णा पैदा होजाती है ॥१२॥

भावार्थ—जिस समय दूसरे का माल अपना करने की इच्छा हो, जिस समय काम करने को जी चाहे, जिस समय चित्तमें खुशी या प्रेम आदि न हो, किन्तु बेचैनी हो, जिस समय देखी या सुनी चीजों को प्राप्त करने की इच्छा हो, उस समय समझना चाहिये कि रजोगुण की प्रबलता है ।

(मू०) अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देह भृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

(७)

(भा०प०) जब मोह हो आलस्य हो जब बढ चला अज्ञान हो ।
समझो तमोगुण है बढ़ा कर्तव्य का नहि ज्ञान हो १३

जब सत्व का प्राबल्य हो उस समय यदि देहान्त हो।
तो स्वर्ग में जाकर विचरता पार्थ ? प्राणी शान्त हो १४

अर्थ—जिस समय तमोगुण की प्रबलता होती है, उस समय अप्रकाश अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह पैदा होता है। यानी जिस समय ज्ञान न रहे, काम में मन न लगे, काम में भूल होने लगे तथा असावधानता होने लगे उस समय समझना चाहिये, कि तमोगुण की प्रबलता है ॥१३॥

हे अर्जुन ? अगर कोई मनुष्य सतोगुण की प्रबलता के समय में मरे तो वह हिरण्यगर्भ आदि के उपासकों के निर्मल लोक में आता है ॥१४॥

(मू०) रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलं ।
रजसस्तु फलं दुखमज्ञानं तमसः फलं ॥१६॥

[८]

(भा०प०) रज का रहे प्राबल्य तो है कर्म गति मिलती उसे ।
तम की अधिकता जो रहे पशुयोनि मिलती है उसे १५

सत्कर्म का फल सुखद होता दुखद राजस कर्म का।
अज्ञान-फल निकृष्ट मिलता नित्य तामस कर्म का १६

अर्थ—जो रजोगुण की प्रबलता के समय मरता है, वह कर्म-संगी मनुष्यों में पैदा होता है, और जो तमोगुण के समय मरता है वह पशु-पक्षियों की योनी में जन्म लेता है ॥१५॥

इसलिये हे अर्जुन ? अच्छे कर्मों का फल सात्विक और निर्मल है। रजोगुण सम्बन्धी कर्मों का फल दुःख है। और तमोगुण सम्बन्धी कर्मों का फल अज्ञान है ॥१६॥

भावार्थ—जो सतोगुण सम्बन्धी कर्म करते हैं उन्हें सुख मिलता है। और जो रजोगुण सम्बन्धी कर्म करते हैं उन्हें धन, पुत्र, स्त्री आदि में लिप्त होकर दुःख उठाना पड़ता है। जो तमोगुण सम्बन्धी कर्म करते हैं उन्हें अपने उन कर्मों का फल "अज्ञान" मिलता है।

(मू०) सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

[६]

(आ०प०) उत्पत्ति रज से लोभ की है सत्व से है ज्ञान की ।
तम से न केवल मोह की प्रत्युत महा अज्ञान की १७
सात्विक पुरुष हैं स्वर्ग जाते मध्य रहते राजसी ।
पाते अधोगति नीच गुण अरु वृत्ति वाले तामसी १८

अर्थ—हे अर्जुन ? सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से असावधानता, मोह और अज्ञान पैदा होता है. १७॥

सतोगुणी ऊपर के लोकों में जाते हैं, रजोगुणी मध्य लोकों में जाते हैं, और तमोगुणी नीचे के लोक में जाते हैं ॥१८॥

भावार्थ—जो सतोगुण के काम करते हैं, वे सत्यलोक में जाते हैं। यानी उत्तम गति पाते हैं; जो रजोगुण के काम करते हैं वे मृत्यु लोक में जन्म लेते हैं, और अनेक प्रकार के जन्म मरण आदि के दुःख भोगते हैं, जो तमोगुण सम्बन्धी कर्म करते हैं, वे नीच लोक में जाते हैं, यानी पशु, पक्षी, कीट आदि अनेक नीचे योनियों में जन्म लेते हैं।

(मू०) नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१६॥

[१०]

(भा०प०) कर्त्ता प्रकृति-गुण हैं, इसे साक्षी पुरुष जब जानता।
इनके सिवाय कर्त्ता न कोई अन्य है, जब मानता॥
जो कुछ परे है इन गुणों से जब उसे पहंचानता।
तब प्राप्त मेरा भाव करता है मुझे पहंचानता॥१६॥

अर्थ—जो विवेकी पुरुष गुणों के सिवाय और किसी को कर्त्ता नहीं जानता, और आत्मा को "गुणों से परे साक्षीरूप" जानता है वह मेरे रूप को प्राप्त होता है ॥१८॥

भावार्थ—जो यह समझता है कि सब कामों के करनेवाले "गुण" हैं, आत्मा कुछ नहीं करता है, आत्मा तो साक्षी मात्र है, वह शुद्धसच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त होता है।

(मू०) गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

[११]

(श्वा०प०) हे पार्थ ! देहोत्पत्ति के कारण गुणों को पार कर ।
आवागमन के दुःख दायी बन्धनों को काटकर ॥
वह प्राप्त करता है अमरपद मुक्त हो जग-जाल से ।
फिर फिर न आता जगत में वह छूटता भव-जञ्जाल से ।२०।

अर्थ—जो देहधारी शरीर से पैदा हुए प्रकृति के तीनों गुणों (सत्य, रज, और तम) का उल्लंघन करता है, वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और सब रोगों से छुटकारा पाकर अमर होजाता है ॥२०।

भावार्थ—सत्व, रज, तम ये तीन गुण देह की उत्पत्ति के बीज हैं। इनकी ममता तथा इन का संग छोड़देनाही इन को जीत लेना है। इन (तीनगुणों के सम्बन्ध से ही जन्म, मृत्यु, और बुढ़ापा आदि दुःख होते हैं। (इन के सम्बन्ध से ही) आत्मा अपने शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल जाता है। इन के छोड़ने में चेष्टा करनी और तकलीफ़ उठानी पड़ती है; किन्तु परमानन्द की प्राप्ति में इतनी कोशिश और तकलीफ़ की दरकार नहीं होती।

अर्जुनउवाच।

(मू०) कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

भगवानुवाच।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

(१५)

अर्जुन ने पूछा—

(भा०प०) उसने किया है पार कैसे ज्ञात हो बतलाइये ।
किस भांति करता पार है, आचार क्या, समझाइये ।२१

भगवान ने कहा—

पाकर प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह न द्वेष जो करता कभी ।
रखता न उनकी कामना मिलते न हों जब वे सभी २२

अर्थ—हे प्रभो ? जो इन तीन गुणों को उल्लंघन करता है, उसकी क्या पहचान है ? उस का आचरण कैसा है ? इन तीनों गुणों का उल्लंघन कैसे होता है ॥२१॥

तब भगवान कहने लगे कि हे पाण्डव ? प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के वर्त्तमान रहने पर, वह इनसे द्वेष नहीं करता। और इनके वर्त्तमान रहने पर वह इनकी चाह नहीं रखता ।२२।

भावार्थ—प्रकाश, सतोगुण का कार्य रूप है। प्रवृत्ति (काम में लगना) रजोगुण का कार्य रूप है। मोह तमोगुण का कार्य रूप है। इन तीनों गुणों के कार्य के मौजुद होने पर वह इनसे घृणा नहीं करता; और इन के मौजूद न रहने पर इनकी चाह नहीं रखता। जिसको शुद्ध ज्ञान नहीं होता; वह इनसे इस भांति नफरत करता है। इस समय मेरा तामसी भाव है; जिससे मुझे मोह हो रहा है; इस समय मुझ में राजसी प्रवृत्ति है; जो दुःखदायी है। इस रजोगुण को काम में लाने से मैं अपने स्वभाव से नीचे गिर गया हूँ। इस समय मुझ में सतोगुणी भाव है। सतोगुण मुझे सुख का लालच दिखाकर मुझे बन्धन में फंसाता है। ये सब दुःख-

दायी हैं ! जो मनुष्य गुणों को उल्लंघन कर जाता है; वह इनसे न तो घृणा करता है और न इनकी चाह ही रखता है; बल्कि उदासीन सा रहता है।

(मू०) उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

(१३)

(भा०प०) रहता उदास न जो गुणों से पार्थ ! तिलभर टर सके।
गुण कर रहे हैं काम अपना जान जो थिर रह सके २३
जो स्वस्थ है जिस के लिये सुख दुःख दोनों एक हैं ।
जिसके लिये सम स्वर्ण, पत्थर और मिट्टी एक हैं २४

अर्थ—हे अर्जुन ! जो उदासीन की तरह रहता है, और सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के सुख दुःख रूपी कामों से चलाय मान नहीं होता और ऐसा समझता है, कि ये तीनों गुण अपने-अपने काम में आपही लगे हुए हैं; वह "गुणातीत" है ॥२३॥

जो सुख दुःख को समान समझता है. जो मानसिक विकारों से अलग रहता है, जो कंकर, पत्थर, और सोने को समान समझता है, जो प्यारी और कुप्यारी चीज को एकसी समझता है, जो बडाई और बुराई को समान समझता है, वह गुणातीत है २४॥

(मू०) मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

(भा०प०) जो धीर हैं जिनके लिये प्रिय अप्रिय एक समान हैं।
निन्दा बड़ाई एक सम, सम मान अरु अपमान है ॥
रिपु-मित्र सम जिसके लिये हैं कर्म जिसने तज दिये।
कहते उसे हे पार्थ ? त्रिगुणातीत यह रक्खो हिये ॥२५॥

अर्थ—जो मान अपमान को एकसा समझता है, जो शत्रु मित्र को बराबर समझता है, जो किसी काम में हाथ ही नहीं लगाता वह गुणातीत है ॥२५॥

भावार्थ—वह दृश्य और अदृश्य फलों के देने वाले कामों को त्याग देता है, केवल इतना ही करता है, जो शरीर रक्षार्थ आवश्यक है।

(मू०) मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

(१४)

(भा प० जो भक्त भजता है मुझे ही तात ? अविरल भक्ति से।
वह ब्रह्मपद पाता गुणों को पार कर शुचि शक्ति से ॥२६॥
आधार अमृत ब्रह्म का मैं, पार्थ ? जगदाधार हूं।
मैं परम सुख का और शाश्वत धर्म का आधार हूं ॥२७॥

अर्थ—जो कोई अखण्ड भक्ति से मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणों को पार करके ब्रह्म भाव से प्राप्त होने योग्य होजाता है यानी मोक्ष के योग्य होजाता है ॥२६॥

अविनाशी निर्विकार ब्रह्म का स्थान मैं हूं, सनातन धर्म का स्थान मैं हूं और एकान्त सुख का स्थान मैं हूं ॥२७॥

भावार्थ—मैं अविनाशी ब्रह्म, सनातन धर्म भक्ति योग एकान्त सुख अपने स्वरूप की प्राप्ति का आधार हूं, इसलिये जो अखण्डित भक्ति योग से मेरी सेवा करता है वह सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों को उल्लंघन करके यानी गुणातीत होकर मेरे भाव को प्राप्त होता है यानी ब्रह्म हो जाता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे गुण त्रय विभाग योगो नाम चतुर्दशोऽध्याय।
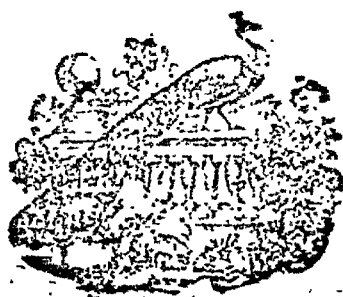
क्योंकि सब जीव कर्म फलों के लिये और ज्ञानी अपने ज्ञान फल के लिये मेरे आधीन हैं; इस वास्ते जो लोग भक्ति योग से मेरी सेवा करते हैं, ज्ञान प्राप्त करके मेरी कृपासे गुणों को पार कर जाते हैं, और मुक्ति पालेते हैं। इसी तरह वहभी मोक्ष पा जाते हैं, जो आत्मा के असली तत्व को जान जाते हैं। इसी कारण से भगवान अर्जुन के विना पूछे आत्मा के असली तत्व का वर्णन इस अध्याय में करते हैं।

"वैराग्य विना" ज्ञान और भक्ति दोनों ही का होना महा कठिन है। इसी वजह से भगवान वृक्ष के रूपालङ्कार से संसार के स्वरूप का वर्णन करते हैं। क्योंकि मनुष्य विना विरक्त हुए ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य नहीं होते।

श्रीभगवानुवाच ।

(मू०) ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

[१]

भगवान ने कहा—

(भ०प०) अश्वत्थ अव्यय वृक्ष के सम्बन्ध में प्रभु ने कहा ।
है मूल ऊपर डालियां नीचे गईं जिसकी अहा ! ॥
जिसका न होता नाश सुन्दर पर्ण जिसके वेद हैं ।
वे तत्वज्ञानी हैं सही जो जानते यह भेद हैं ॥१॥

अर्थ—कहते हैं कि अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष की जड़ ऊपर है और शाखा नीचे है। इसकी पत्तियां वेद हैं। जो इसे जानता है वह वेदों को जानता है।

भावार्थ—कठोपनिषद में लिखा है—इसकी जड़ ऊपर की ओर, और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। यह अश्वत्थ अनादि है, यानी यह वृक्ष ब्रह्म के अधिकार में है। वही इसकी रक्षा करता है, वही इसका शासन करता है। इसको अनादि इसलिये कहा है कि ज्ञान के सिवा और किसी चीज से काटा नहीं जासकता। पुराण में भी कहा है—ब्रह्म के अनादि वृक्ष की जड़ अव्यक्त है। वह अव्यक्त की शक्ति से बढ़ा है। उसका धड़ बुद्धि है। इन्द्रियों के छेद उसके खोखले हैं। महाभूत उसकी शाखाएँ हैं। इन्द्रियों के विषय उसकी डाली और पत्ते हैं। धर्म और अधर्म उसकी कलियां हैं। सुख और दुःख उसके फल हैं, जो सब प्राणियों की जीविका है। यह ब्रह्म के आवागमन की जगह है। ज्ञान रूपी तेज तलवार से जो इस वृक्षका छेद काटकर परमगति पाजाता है, उसे फिर नहीं लौटना पड़ता।

और भी कहा है कि यह माया मय संसार वृक्ष के समान है; जिनकी जड़ ऊपर है। महत अहङ्कार तन्मात्राएँ उनकी शाखाओं के समान हैं और वह नीचे की ओर फैली हुई हैं। इसीसे इसकी डालियां नीचे हैं। इस वृक्ष को अश्वत्थ इसलिये कहते हैं। कि यह कलतक भी न ठहरेगा। क्योंकि इसका नाश हर क्षण होता है। संसारि माया अनादि है; इसीलिये यह वृक्ष भी अनादि कहा जाता है। जन्म बराबर होता रहता है। यानी जन्मने का तार कभी नहीं टूटता इसी से इसे अनादि कहा है। वेद इसके पत्तों के समान हैं। जिस तरह पत्तों से वृक्ष की रक्षा होती है; उसी तरह ऋक; यजु; सामसे संसार वृक्ष की रक्षा होती है। जो संसार वृक्ष और उसकी जड़ को जानता है, वह वेदकी शिक्षाओं को जानता है। इस संसार वृक्ष और उसकी जड़ के जान लेने पर कुछभी और जान लेने को बाकी नहीं रहता। जो इसके विषय में जानता है वह सर्वज्ञ है।

आगे इस वृक्ष के अवयवों यानी हिस्सों का दूसरा रूपालङ्कार बतलाया जाता है।

(मू०) अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषय प्रवालाः ॥
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि ।
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

[२]

(भा०प० ऊपर तथा नीचे सभी हैं डालियां फैली हुई।
विषयांकुरों से युक्त सिञ्चित जो गुणों से हैं हुई॥

इसकी जड़ें जो रूप पातीं कर्म का नर लोक में।
फैली हुई हैं दूर तक वे पार्थ ! मानव-लोक में ॥२॥

अर्थ—गुणों से पोषण होकर उसकी शाखाएँ नीचे और ऊपर फैली हुई हैं। इन्द्रियों के विषय उसकी कोंपल हैं; नीचे मनुष्य लोक में कर्मों के परिणाम स्वरूप उसकी जड़ें फैली हुई हैं ॥२॥

भावार्थ—संसार वृक्षकी शाखाएँ सत्व; रज; और तम इन गुणों से सींची जाने के कारण ऊपर और नीचे फैल रही हैं। इन्द्रियों के विषय शब्द; रूप; रस; गन्ध; स्पर्श इसकी कोंपलें हैं।

मनुष्य लोक में कर्मों के फल-स्वरूप जड़ें फैल रही हैं। मतलब यह है कि जो सतोगुण के कर्म करते हैं; वे देवताओं के लोक में जन्म लेते हैं; और जो नीच कर्म करते हैं; वे पशु; पक्षी आदि नीच योनियों में जन्म लेते हैं; जो जैसा कर्म करता है; उसे वैसाही फल मिलता है। इसलिये हे अर्जुन ! संसार रूपी वृक्ष को काट कर मूल कारण की खोज करना चाहिये। किस तरह ?

आगे भगवान कहते हैं—

(मू०) न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥

[३]

(भा०प०) नहिं दीखता इस रूप में इस लोक में पर वह कहीं।
उसका किसीको आदि अथवा अन्त तक मिलता नहीं॥

अश्वत्थ की गहरी जड़ों को काट सकता है वही ।
आसक्ति की मात्रा न जिसमें तनिक भी बाकी रही ३

अर्थ—इसके रूप, इसके आदि अन्त और इसके अस्तित्व का पता नहीं लगता। इस मजबूत जडवाले अश्वत्थ को उदासीनता की तेज तलवार से काट कर, संसार के मूल कारण ईश्वर की खोज करनी चाहिये, जहां जाकर फिर लौटना नहीं पडता। उस आदि पुरुष की शरण जाना चाहिये, जिस से इस पुरातन संसार का निकास हुआ है ॥३॥

भावार्थ—जैसे वृक्ष का बयान पहले कर आये हैं, उसका रूप किसी को नहीं दीखता, क्योंकि वह स्वप्न, मृगतृष्णा अथवा मायावी द्वारा रचे हुए गन्धर्व नगर के समान है। वह दीखता है और नहीं दीखता। इसी से उसका न अन्त है, और न आदि—कोई नहीं जानता कि वह किस जगह से निकला है। उसका अस्तित्व भी किसी को मालूम नहीं होता। उस मजबूत जड वाले वृक्ष की जड वही काट सकता है जो धन, दौलत, स्त्री, पुत्र और इस जगत से मोह न रक्खे। एक चित्त होकर परमात्मा में मन लगावे, और तत्व ज्ञान के विचारों में लीन हो।

इस तरह माया ममता के त्याग की तेज तलवार से उस वृक्ष की जड काट कर, फिर उस वृक्ष के परे खोजी को, मूल कारण की खोज करनी चाहिये। जो इस मूल कारण ईश्वर के पास पहुंच जाते हैं उन्हें फिर इस संसार में लौटना नहीं पडता। उस आदि पुरुष की शरण के मार्थी होने से वह मिलजाता है। वह आदि पुरुष वह है, जिस से माया रूपी संसार के वृक्ष का कुला (अङ्कुर) फूटा है।

(मू०) ततःपदं तत्परिमार्गितव्यम्
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

(४)

(भा०प०) आसक्ति जिसमें है नहीं जो मान मोह विहीन है ।
अध्यात्म-विद्या-ज्ञान में जो नित्य रहता लीन है ॥४॥

जो मुक्त है सुख दुःख द्वन्द्वों से तथा निष्काम है ।
मिलता उसी ज्ञानी पुरुष को परम मेरा धाम है ॥५॥

अर्थ—जिनको मान अपमान का ख्याल नहीं है, जिनको मोह नहीं है, जिनका स्त्री, धन, पुत्र आदि में मन नहीं है, जिनका ध्यान आत्मा के ज्ञान में हर समय लगा रहता है, जिनकी सब सांसारिक वासनाएँ दूर होगई हैं, जिन को सुख दुःख, सरदी गर्मी, हानि लाभ, आदि द्वन्द्वों से पीछा छूट गया है—ऐसे ही ज्ञानी उस सनातन आदि पुरुष मूल कारण को पाते हैं ॥४-५॥

(मू०) न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

[५]

(भा०प०) वह धाम है जाकर जहां पर जन्म बन्धन टूटता ।
है मुक्ति भी मिलती जहां भव बन्ध भी है छूटता ॥

रहता प्रकाशित नित्य ब्रह्म प्रकाश से वह धाम है।
जहँ सूर्य-चन्द्र-प्रकाश का रहता निशान न नाम है ६

अर्थ—जिस को सूर्य चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते वह मेरा परम धाम है, जहां पहुंच कर किसी को लौटना नहीं होता ।६।

(शंका) यह कहागया है कि "वहां पहुचनेपर लौटना नहीं पड़ता"। लेकिन इस बातको हर एक मनुष्य जानताहै कि जो आताहै वह जाताहै, जो जाताहै वह आताहै, जो मिलताहै वह अलगहोता और जो अलग होताहै वह मिलताहै। फिर यह बात कैसे कही गयी कि उस धाम में पहुच ने पर लौटना नही पड़ता। इस के लियो भगवान कहते हैं सुनोः—

(मू०) ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

[६]

(भा०प०) मेरा सनातन अंश होकर जीव करता जोर है।
मनसहित वह पञ्चेन्द्रियों को खींचतानिज ओर है॥७॥

जब जीव आकरदेह में फिर छोड़ता है देह को।
तब इन्द्रियों को साथ लेता वायु जैसे मेह को ॥८॥

अर्थ—हे अर्जुन! इस जीव लोक में सनातन जीव मेरा अंशहै। वह जीव प्रकृति में स्थितहोकर आख, कान, नाक आदि पाच ज्ञानेन्द्रियों और छठे मन को सांसारिक भोगों के लिये खींचता है॥७॥

जब यह देह का मालिक शरीर धारण करता है और इसे छोडता है, तब यह इन्हें इस तरह लेजाता है, जिस तरह हवा सुगन्ध को लेकर दूसरी जगह चली जाती है ।८॥

भावार्थ—संसार में सनातन जीव मेरा परमात्मा का अखण्ड अंश है। वह हर शरीर में अपने तईं कर्त्ता और भोक्ता प्रकट करता है। वह उस सूर्य के समान है जो जल में दिखाई देता है, किन्तु पानी के हटा लेने पर वह पानी में दीखने वाला सूर्य असली सूर्य में मिल जाता है। और उसी सूर्य के समान रहता है। अथवा वह घडे में आकाश के समान है जो घडे की उपाधि से सीमा बद्ध है! यह घडे का आकाश अनन्त आकाश का एक अंश मात्र है। जो घडे के फोड देने पर उसी में मिलजाता है फिर नहीं लौटता। इसी तरह उपाधि रहित होने पर जो मुझ परमात्मा में मिल जाता है वह फिर नहीं लौटता।

(शंका) परमात्मा के खण्ड नहीं हैं इसलिये इसका टुकडा कैसे हो हो सकता है। अगर उसके खण्ड हैं तो वह अपने खण्डों के अलग होने पर नाश हो जायगा।

(उत्तर) हमारी कल्पना में यह शंका नहीं हो सकती वह खयाली खण्ड मान लिया गया है। तेरहवें अध्याय में सिद्ध करदिया गया है, कि यह परमात्मा का अंश नहीं है, बल्कि परमात्मा ही है।

एक आत्मा या जीव जो मेरा खयाली अंश है, किस तरह दुनियां में रहता है और किस तरह उसे छोड़ता है? यानी जब कि परमात्मा है तो उसे संसार या दुनियां से जाने वाला क्यों कहते हैं! सुनो वह अपने गिर्द कान आदि इन्द्रियों और छठे मन को खींचता फिरता है। ये छः

इन्द्रियां प्रकृति में रहती है। जैसे कान इन्द्रिय कान के छेद में रहती है। वह उन्हें कब खींचे फिरता है ?

भगवान कहते हैं—

जब देह इन्द्रिय और मन का स्वामी कर्मों की वासना से दूसरा शरीर धारण करता है, अथवा मरने के समय पहला शरीर छोडता है तब अपने पहले शरीर के मन और इन्द्रियों को सङ्ग लेकर दूसरे शरीर में इस तरह चला जाता है, जिस तरह हवा फूलों से सुगन्ध लेकर दूसरी जगह चली जाती है।

(मू०) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

(७)

(भा०प०) है भोगता यह जीव विषयों को कभी रह कान में ।
मन नाक जिह्वा में कभी तो फिर त्वचादि मकान में ॥९॥

है कौन रहता हृदय में इससे निकलता कौन है ।
ज्ञानी इसे हैं जानते जो भोगता है कौन है ॥१०॥

अर्थ—हे अर्जुन ? वह कान, आंख, नाक, जीभ और त्वचा तथा मन को काम में लाकर इन्द्रियों के विषयों को भोगता है ॥९॥

शरीर को छोडते हुए शरीर में ठहरे हुए, विषय भोगों को भोगते हुए, सत्व, रज, तम इन गुणों से युक्त हुए आत्मा को मूढ लोग नहीं देखते, वे देखते हैं जिन की ज्ञानकी आंखे हैं ॥१०॥

भावार्थ—जीव का शरीर बदलना यानी एक को छोडना और दूसरे में जाना; सबको क्यों नहीं दिखाई देता ?

जो शरीर में रहता है; जो एक दफे के धारण किये हुए शरीर को छोडता है; जो शरीर में ठहरता है; जो शब्द; रूप; रस आदि का अनुभव करता है; जो हमेशा गुणों (सत्व; रज; तम) के सङ्ग रहता है; यानी जो हमेशा सुख, दुःख; मोह आदि का अनुभव करता है; उसे मूढ लोग नहीं देखते । यद्यपि वह (जीव) बिलकुल उनकी नजर के सामने रहता है; तथापि वह (मूढ लोग) उसे नहीं देख पाते; क्योंकि उनके चित्त देखी और अन देखी विषय भोग की चीजों में लगे रहते हैं; लेकिन जिनकी ज्ञान की आखें ज्ञान से खुल गई हैं; यानी जिन में विचार-शक्ति आगई है वे उसे देखते और पहँचानते हैं ।

(मू०) यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

[८]

(भा०प०) करके अनेकों यत्न आत्मा को यती पहँचानते ।
निर्मल नहीं है बुद्धि जिनकी वे न उसको जानते ११

होता प्रकाशित जगत जिससे सूर्य में जो तेज है।
जो तेज पावक चन्द्र में वह पार्थ! मेरा तेज है ॥१२॥

अर्थ—जो योग-युक्त होकर (समाधिस्थ होकर) चेष्टा करते हैं, वे अन्तःकरण में आत्म-स्वरूप को देखते हैं। जो ज्ञान रहित हैं, जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, वे चेष्टा करने पर भी उसे नहीं देखते ॥११॥

वह तेज जो सूर्य में रहकर तमाम जगत में प्रकाश फैलाता है, वह तेज जो चन्द्रमा में है और वह तेज जो अग्नि में है, उस तेजको तू मेराही जान ॥१२॥

भावार्थ—जो चित्त को ठिकाने करके चेष्टा करते है, वे उसे यानी आत्मा को अपनी बुद्धि में ही रहता हुआ देखते हैं। वे उसे पहचानते हैं, यह "मैं हूं" लेकिन जिनका चित्त तप और इन्द्रियों के वश न करने से शुद्ध नहीं हुआहै, जिन्हों ने कुकर्म नहीं छोड़ेहैं, जिनका अहंकार नहीं गयाहै, वे उसे शास्त्रों की सहायता से नहीं देखसकते। मतलब यह है कि जिनका मन शुद्ध नहीं हुआहै, जिन्होने नित्य-अनित्य, असली और नक़ली का भेद नहीजाना है, वे केवल शास्त्र बुद्धि और विचारों कीसहायता से उसे नहीं देखसकते।

जिस पर ब्रह्म-पद को सारे जगत में प्रकाश करनेवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि नहीं प्रकाश करते, जहां पहुंचकर मोक्ष के खोजी फिर संसार में नहीं आते, जीव जिसके अंश मात्र हैं और जो उपाधि के कारण से अलग दीखते हैं। जैसे; घड़े में आकाश घड़े की उपाधि से महा आकाश से अलग दीखता है; किन्तु असल में उसी का अंशहै; घड़े के फूटतेही वह उसी महा आकाश में जामिलता है। इसीतरह जीव अविद्या आदि उपाधियों से निवृत्त होनेपर परब्रह्म में मिलजाते हैं; दोनों में कुछ भेदनहीं रहता। यह बात दिखाने के लिये कि वह पर ब्रह्म रूप-पद सब का आत्मा और

सारे व्यवहारों का साधक है। भगवान आगेके चारश्लोकों में संक्षेप से अपनी विभूतियों को कहते हैं।

हे अर्जुन! सूर्य्य; चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज है; वह मेराही तेज है।

यहां तेज से मतलब चैतन्यता करने वाली ज्योति से भी होसकता है।

(शंका) जब एक परब्रह्म का तेज सब चराचर चीजों में समान भाव से है; तब सूरज चन्द्रमा और अग्नि में वह तेज अधिकता से क्यों दिखाई देता है।

(उत्तर) यद्यपि चर अचर पदार्थों में चैतन्यता की ज्योति तो समान ही है; तथापि सतोगुण की उत्कर्षता से सूर्य्य; चन्द्रमा आदि अधिक तेजवान दीखते हैं। जिस वस्तु में रजोगुण या तमोगुण प्रधान है उनमें वह ज्योति उस तरह साफ नहीं दीखती; जिस तरह हम अगर अपना मुंह लकडी के तख्ते या दीवार में देखें तो साफ न दीखेगा; लेकिन कांच (आईना) जितना अधिक साफ होगा; उसमें हमारा मुंह उतनाही अच्छा दीखेगा। कांचभी जितना कम साफ होगा; उतनाही मुंह कम साफ दीखेगा।

(मू०) गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

(६)

(भा०प०) जाकर मही में प्राणियों को मैं उसी से पालता ।
मैं हो रसात्मक सोम पौदों को स्वयं हूं पालता १३

मैं हूं स्वयं विख्यात वैश्वानर सभी की देह में ।
जठराग्नि हो जो नित्य रहता देह रूपी गेह में ॥१४॥

अर्थ—मैं ही पृथ्वी-रूप होकर, अपने बलसे, प्राणियों को धारण करता हूं, और रसात्मक सोम (चन्द्रमा) होकर सबका पोषण करता हूं ॥१३॥

मैं ही वैश्वानर के रूप में, प्राणियों की देह में घुसकर, प्राण और अपान वायु को संग लेकर चारों प्रकार के भोजनों को पचाता हूं ॥१४॥

भावार्थ—हे अर्जुन ! मेरा बल ही पृथ्वी को थाम्हे (पकडे) रहने को उसके अन्दर घुसा हुआ है। मेरे उस बल के कारण से ही पृथ्वी नीचे नहीं जाती और इसके टुकडे टुकडे नहीं हो जाते। इसी से कहा है कि मैं पृथ्वी रूप होकर या पृथ्वी में घुसकर सब चराचर प्राणियों को धारण करता हूं। मैं ही रसात्मक सोम (चन्द्रमा) होकर पृथ्वी पर पैदा होने वाली औषधियों (गेंहू; जौ; चावल आदि) को पोषण करता हूं। क्योंकि यह बात सच है कि चन्द्रमा ही सारी वनस्पतियों को रस डाल कर पोषण करता है।

वैश्वानर या जठराग्नि उस अग्नि को कहते हैं जो पेट में रहती और भोजन पचाती है।

भोजन चार प्रकार के होते हैं; भक्ष्य; भोज्य; चोष्य; लेह्य।

भक्ष्य—उसे कहते हैं जो चीज दांतों से खाई जाती है; जैसे सेव रोटी; पूरी आदि।

भोज्य—उसे कहते हैं जो दांतों की बिना सहायता जीभ हिलाने से गले के भीतर चला जाता है; जैसे खीर; हलुआ आदि।

लेह्य—उसे कहते हैं; जो चीज जीभ पर पहुंच कर उसके स्वाद से भीतर चली जाती है; जैसे चटनी; अमरस; सिखरन आदि।

चोष्य—उसे कहते हैं; जो चीज चूसी जाती है; जैसे ऊख वगैरः।

जो यह समझता है कि खाने वाला वैश्वानर अग्नि है और जो खाया जाता है सो सोम-रूप है; अग्नि और सोम दोनों सर्व रूप हैं; उसे बुरे भोजन का दोष नहीं लगता।

(मू०) सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

[१०]

(भा०प०) मैं हूं पचाता अन्न को हो युक्त प्राण अपान से।
मैं हूं चराचर विश्व में देखो विचारो ध्यान से॥
सबके हृदय में मैं अधिष्ठित हूं धनंजय ? जानलो।
स्मृति ज्ञान एवं नाश उनका है मुझि से मानलो ॥१५॥

अर्थ—मैं ही सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ हूं, मुझसे ही पहली बातें याद आती हैं, मुझसे ही रूप आदि का ज्ञान होता है और मुझ से ही स्मृति और ज्ञान का अभाव होता है। सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूं। मैं वेदान्त का कर्त्ता और वेदों का जानने वाला हूं ॥१५॥

भावार्थ—जो पापी हैं उन में स्मृति और ज्ञान का अभाव करदेता हूं। जो पुण्यात्मा हैं उन में स्मृति और पैदा करता हूं। एक बात और है कि मैं प्राणियो के हृदय में रहकर, उनके दिलो के बुरे भले कामों को देखाकरता हूं। मैं तार खीचनेवाला सूत्रधार हूं जगत रूपी मशीनके पीछे खड़ा हुआ सब कामोंकी देख भाल किया करता हूं।

इस अध्यायके बारहवें श्लोकसे यहांतक ईश्वरकी विभूतियों का वर्णन कियागया। अब आगे के श्लोकों में कृष्ण महाराज ईश्वर के क्षर अक्षर से परे निरुपाधिक शुद्ध रूपका वर्णन करते हैं।

(मू०) द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

[११]

(भा०प०) हूं जानने के योग्य मैं ही सकल वेदों से सखे ?।
मैं ही सुनो वेदान्त करता वेदविद् भी हूं सखे ? ॥
नश्वर तथा अक्षर पुरुष दो हैं जगत में जानलो।
सब भूत नश्वर और है कूटस्थ अक्षर जानलो ॥१६॥

अर्थ—इस जगत में दो प्रकार के पुरुष हैं; क्षर और अक्षर। जो देहधारी हैं, वे क्षर हैं और जो कूटस्थ (विकार-रहित) हैं, वे अक्षर हैं ॥१६॥

(मू०) उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

[१२]

(भा०पा) उत्तम पुरुष है अन्य वह परमेश परमात्मा वही।
त्रैलोक्य में हो व्याप्त करता है वही पोषण सही ॥१७॥

क्षर और अक्षर से परे उत्तम पुरुष मैं सिद्ध हूं।
है नाम पुरुषोत्तम इसी से लोक वेद प्रसिद्ध हूं ॥१८॥

अर्थ—लेकिन इन दोनों से अलग उत्तम पुरुष है, जिसे "परमात्मा" कहते हैं। वह अविनाशी ईश्वर, तीनों लोकों का पालन करता है ॥१७॥

हे अर्जुन ! मैं क्षर से उत्तम हूं और अक्षर से भी उत्तम हूं, इसी से दुनिया और वेद में मैं "पुरुषोत्तम" नाम से प्रसिद्ध हूं ॥१८॥

भावार्थ—ऊपर के तीन श्लोकों का सारांश यह है कि दुनियां में तीन चीजें हैं—(१) क्षर (२) अक्षर (३) पुरुषोत्तम। क्षर–प्रकृति को कहते हैं, क्योंकि, वह हमेशा बदलती रहती है। अक्षर—नाम जीवका है। उसे अक्षर इसलिये कहते हैं, कि उसका कभी नाश नहीं होता, और वह विकार रहित है। तीसरा पुरुषोत्तम है। वह क्षर और अक्षर दोनों से बड़ा और उनसे अलग है। वही मूल कारण है। उसी के हाथ में जगतकी बागडोर है। वही संसार रूपी नाटक का सूत्रधार है। वही संसार वृक्ष की वह मूल है, जहां से यह संसार निकला है। वही इस जगत में व्याप्त होरहा है। वही सबका पालन करने वाला, और नाश करने वाला है। वही सर्वेश्वर है। उसके ऊपर और कुछ नहीं है।

गीता अध्याय ७ वें में ४-५ वें श्लोक में जो अपरा और परा प्रकृति के नाम से कहे गये हैं तथा अध्याय १३ श्लोक १ में जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

के नाम से कहे गये हैं उन्हीं दोनों को यहां क्षर और अक्षर के नाम से वर्णन किया है।

(मू०) योमामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

[१३]

(भा०प०) तजि मोह मद जो पार्थ ! पुरुषोत्तम मुझे है मानता।
सब भाव से वह है मुझे भजता तथा सब जानता १९
हे अनघ ! मैंने गुह्यतम यह शास्त्र तुम से है कहा।
होगा सुबुध कृतकृत्य इसको जान यह उत्तम महा २०

अर्थ—हे भारत ! जो क्षर और अक्षर से अलग नित्यमुक्त शुद्ध सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम को जानता है, वह सर्वज्ञ विद्वान सम्पूर्ण भावोंसे मुझे भजता है ॥१९॥

हे पाप रहित अर्जुन ! मैंने तुझ से यह बहुत गुप्त विषय कहा है, इस के जान लेने पर मनुष्य बुद्धिमान और कृतकृत्य होजाता है ॥२०॥

भावार्थ—जिसे आत्मज्ञान होजाता है वह सदा आत्मानन्द में रत रहता है, अथवा यों कह सकते हैं कि जिसे ईश्वर के उपरोक्त रूप का ज्ञान होजाता है वह सदा ईश्वर की भक्ति में लगा रहता है।

यों तो सारा गीताही शास्त्र है, तथापि उपरोक्त वाक्य से मालूम होता है, कि यह पन्द्रहवां अध्याय ही गीता शास्त्र है। बातभी सच है। समस्त गीता का सारांश इस अध्याय में कह दिया गया है।

गीता के उपदेश ही नहीं, वेद की शिक्षाओं का सार-तत्व यहां कह दिया गया है। यह कहा गया है, कि जो इस (अश्वत्थ वृक्ष) को जानता है, वह वेद को जानता है और जिसे वेदों द्वारा जानना चाहिये वह "मैं" हूं इस उपरोक्त उपदेश के जान जाने पर मनुष्य बुद्धिमान हो जाता है। जो इसे जान जाता है वह अपने तमाम कर्त्तव्य कर्म पूरे कर चुकता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे पुरुषोत्तम योगो नाम पंचदशोऽध्यायः ।

षोडशोध्यायः।
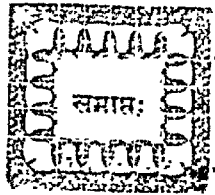
दैवी सम्पति अथवा प्रकृति।

नवें अध्याय में विचार-शक्ति रखनेवाले जीवों की तीन प्रकार की
प्रकृतियां कही गयी थीं; :—(१) यानी दैवी प्रकृति, आसुरी प्रकृति (३)
राक्षसी प्रकृति। इस १६ वें अध्याय में वही बात बढ़ाकर विस्तार से बताई
जाती है। इन तीनों प्रकृतियों में से "दैवी प्रकृति" संसार बन्धन से छूटने
की राह बताती है और "आसुरी प्रकृति" तथा "राक्षसी प्रकृतियां" संसार
बन्धन की राह दिखाती हैं अब इस मौके पर दैवी और आसुरी तथा राक्षसी
तीनों प्रकृतियों का वर्णन इस मतलब से किया जायगा कि दैवी प्रकृति

समझदारों को ग्रहण करना चाहिये और यह दूसरी दोनों प्रकृतियां छोड़ देना चाहिये।

ये क्रमशः सात्त्विकी, राजसी और तामसी प्रकृतियां हैं जो मनुष्यों में उन पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार होती हैं। ये वासना हैं। जो अपने तई कर्म रूप में प्रकट कर रही हैं। इन को १५ वें अध्याय के दूसरे श्लोक में संसार की अधःमूल जड़ कहा है।

श्रीभगवानुवाच।

(मू)१ अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

(१)

भगवानने कहा—

(भा०प०) अभयत्याग सात्विक शुद्ध वृत्ति तथा व्यवस्था ज्ञानकी।
दम यज्ञ तप स्वाध्याय शान्ति प्रवृत्ति सात्विक दानकी॥१

मृदुता अहिंसा कर्मफल का त्याग लाज अचपलता।
अक्रोध तृष्णा-त्याग सत्य स्वभावकी शुचि सरलता॥ २

अर्थ—निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, इन्द्रिय-निग्रह, यज्ञ, वेद पढ़ना, तप, सीधापन॥१॥

अहिंसा, सच-बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, चुगुल खोरी न करना, प्राणी मात्र पर दया, निर्लोभता, कोमल स्वभाव रखना, लज्जा चंचलता का त्याग ॥२॥

भावार्थ—निर्भयता=संशय रहित हो कर शास्त्रके उपदेशानुसार चलना। अन्तः करण की शुद्धि=छल कपट और झूठको सब व्यवहारों में छोड़ देना। ज्ञान और योग में निष्ठा=शास्त्रों से आत्मा का स्वरूप समझना और सब जगह से मन हटाकर हर समय उसी स्वरूप में लीन रहना। दान=सुपात्रों को अन्न, धन, धरती आदि अपनी शक्ति अनुसार देना। इन्द्रिय-निग्रह=बाहरी इन्द्रियों को वशी भूत करना। यज्ञ=श्रुति में लिखेहुए अग्निहोत्र, सोम याग आदि करना तथा स्मृतियों में लिखे हुए देव-यज्ञ आदि करना। वेद पढ़ना=पुराणों की उत्पत्ति के लिये ऋग्वेद आदि पढ़ना। तप=कायिक, वाचिक और मानसिक तप करना। इनतीनों तपोंको विस्तार पूर्वक आगे कहेंगे।

अहिंसा—किसीको तन, मन, वाणी द्वारा कष्ट न पहुंचाना। सच—जिसमें अनर्थ नहो ऐसा सच बोलना। क्रोध न करना—अगर कोई गाली दे या मारेतो भी क्रोध न करना। त्याग—संन्यासः कर्मोंका त्याग; त्याग के माइने दानके भी हैं, मगर यहां वह माइने नहीं लिये गये हैं, क्योंकि "दान" के विषय में पहले कह आये हैं। शान्ति—चित्त में किसी प्रकार की उद्विग्नता न होने देना। चुगलखोरी न करना—किसीके पीठ पीछे दूसरों के सामने निन्दा बुराई न करना। प्राणी मात्र पर दया सब जीवों को अपने समान समझ कर उनके कष्टों से उन्हें छुडाने का भरसक यत्न करना। निर्लोभता-विषय भोगों के मौजूद होनेपर और उनके भोगने योग्य शक्ति रहने पर भी उन में मन लगाना,। कोमल स्वभाव—किसी से कड़वी बात नकहना, छोटे

बड़े, नीचे, ऊंचे सबसे मीठी बातें बोलना। लज्जा—न करने योग्य कामों के सदा करने से लजाना। चंचलता का त्याग—बिना मतलब या बिना काम न बोलना और वृथा हाथ-पैर आदि न चलाना।

(मू०) तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

[२]

(भा०प०)सबपर दया तेजस्विता धृतिद्वेष ना करना कभी।
अभिमान से भी रहित होना मनसे क्षमा करना सभी॥
ये गुण उन्हें ही प्राप्त होते हैं न पाते अन्य हैं।
जो पुरुष दैवी प्रकृति में जन्में हुए हैं धन्य हैं॥३॥

अर्थ—तेज, क्षमा, धीरता, पवित्रता; किसी से घृणा या वैर न करना; अपने तई बड़ा समझ कर घमण्ड न करना। ये २६ दैवी सम्पातियां हैं। ये उन्हीं में होती हैं जिनका आगे भला होने वाला होता है॥३॥

तेज—सामर्थ्य, प्रभाव। क्षमा—सामर्थ्य होने और अपने को सताने पर भी क्रोध न करना। धीरता—शरीर और इन्द्रियों के व्याकुल होने पर उनकी व्याकुलता दबाने की चेष्टा करना। पवित्रता—शौच; शौच दो प्रकार के हैं (१) बाह्य शौच (२) आभ्यान्तरिक शौच। जल और मिट्टी से शरीर शुद्ध करने को बाह्य शौच कहते हैं। छल, कपट, द्वेष, आदि से मन के अलग रखने को आभ्यान्तरिक शौच कहते हैं। किसी से घृणा या वैर न करना किसी को तकलीफ़ पहुचाने की इच्छा न रखना। ये दैवी सम्पातियां उन्हीं लोगों में होती हैं जो सज्जन हैं, भक्त है यही २६ सीढियां है जिन पर क्रमशः चढ़कर यानी काम में लाकर फ़िर लौटना नहीं पड़ता।

आसुरी सम्पत्ति अथवा प्रकृति ।

(मू०) दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

[३]

(भा०पा०) हे पार्थ ? दम्भ कठोरता अज्ञान भी अभिमान भी ।
पाखण्ड निष्ठुरता भयानक क्रोध अरु अतिमान भी ॥४॥

मिलता उन्हें जो जन्म लेते आसुरी सम्पत्ति में ।
रहते फसे वे नित्य नूतन दुःख में आपत्ति में ॥५॥

अर्थ—दम्भ, दर्प, अभिमान् क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ये छः प्रकृतियां उनकी होती है । जिन का बुरा होने वाला होता है ॥४॥

दैवी प्रकृति से मोक्ष होती है आसुरी से वन्धन होता है । हे पाण्डव ? तू सोच मत कर तू दैवी प्रकृति लेकर जन्मा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—दम्भ अपने को बड़ा साबित करने को लोगों के सामने अपना धर्म्मात्मापन दिखाना । दर्प—विद्या, धन, और ऊंचेकुल आदि का घमण्ड करना निष्ठुरता—किसी के सामने रूखी (कड़वी) बात कहना । अज्ञान—कर्त्तव्य विषयों की विचार-हीनता । क्रोध-इच्छा पूरी न होने पर कुपित होना । अभिमान—आप कुछ भी न हो कर अपने को बड़ा समझना अथवा आपे से बाहर होना ।

भावार्थ—जिस की प्रकृति दैवी होती है, वे ही तत्वज्ञान के अधिकारी होते हैं। तत्व ज्ञान से उन की मोक्ष हो जाती है और जिन की प्रकृति आसुरी होती है, उनको निश्चय ही संसार-बन्धन में जाना पड़ता है। यह सुनते ही अर्जुन के मन में सन्देह हुआ कि मैं आसुरी प्रकृति वाला हूं या दैवी प्रकृति वाला भगवान ने उसके चेहरे से ही यह बात समझ कर कह दिया कि तू सोच मतकर तू दैवी प्रकृति लेकर जनमा है। यानी तेरी प्रकृति दैवी है, तू तत्व ज्ञान का अधिकारी है! तेरी मोक्ष होगी।

(मू०) द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

(४)

(भा०पा०) सम्पत्ति दैवी मोक्ष देती, आसुरी है हानिकर।
पाण्डव! तुम्हें सम्पति दैवी है मिली कल्याणकर ॥६॥

सुन देव या आसुर द्विविधि होते मनुज इस लोक में।
हैं दैव तो रहते सुखी आसुर सदा ही शोक में ॥७॥

अर्थ—इस संसार में दो तरह के जीवों की सृष्टि है (१) दैवी और (२) आसुरी। दैवी का वर्णन विस्तार से कर दिया गया है।

हे पार्थ! अब आसुरी का वर्णन सुन—

(मू०) प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

[५]

(भा०पा०) रहता नहीं है आसुरों को ज्ञान निज कर्त्तव्य का ।
रहती न उनमें शुद्धता न विचार सत्यासत्य का ॥ ७ ॥

संसार को निस्सार ईश्वर-हीन हैं वे जानते ।
वह मूल-कारण सृष्टि का हैं वासना को मानते ॥८॥

अर्थ—आसुरी प्रकृति वाले लोग यह नहीं जानते कि उन्हें क्या करना चाहिये, और क्या न करना चाहिये । उनमें न पवित्रता है, न आचार है और न सत्य है ॥ ७ ॥

वे कहते हैं कि जगत असत्य है, आधार हीन है, अनीश्वर है । यही स्त्री-पुरुष के संयोग से पैदा हुआ है । इसका कारण काम है । इसके सिवाय दूसरा कारण नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थ—असुर प्रकृति वाले कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रखते । इसके सिवाय वे अपवित्र, बदचलन और झूठे होते हैं ।

असुर रूपी (नास्तिक) मनुष्य कहते हैं। कि जिस भांति हम असत्य हैं उसी तरह यह जगत मिथ्या है । धर्म और अधर्म इसके आधार नहीं हैं । धर्म अधर्म के अनुसार इस जगत का शासन कर्ता कोई ईश्वर नहीं है। यह जगत बिना ईश्वर के है । सारा जगत स्त्री पुरुष के संयोग से पैदा हुआ है । इसके सिवाय जगत का कारण क्या हो सकता है । आसुरी प्रकृति वालों की यही राय है ।

(मू०) एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

कामसाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

[६]

(आ०पा०) वे मूढ़ आते हैं जगत को नष्ट करने के लिये ।
रहते सदा तत्पर पराई हानि करने के लिये ॥६॥

वे मोह मद प्रेरित हुए फिरते सदा ज्ञानान्ध हो ।
वे कर्म करते क्रूर अति निर्लज्ज हो कामान्ध हो ॥१॥

अर्थ—हे अर्जुन? पूर्वोक्त दृष्टि का आश्रय ले कर, ये नष्टात्मा, अल्प बुद्धि, भयंकर कर्म करने वाले और जगत के शत्रु जगत के नाश करने को पैदा हुए हैं ॥ ६ ॥

असुर प्रकृति के लोग ऐसी - ऐसी कामनाएँ किया करते हैं, जो बड़े बड़े कष्ट उठाने पर भी पूरी न हों, उनमें छल-कपट और मद भरा रहता है। क्रूरता से अशुभ कर्मों को ग्रहण करके वे वेद विरुद्ध कर्म करते हैं ॥१०॥

भगवान्—भगवान ने उन्हें नष्टात्मा इस लिये कहा है कि उन्हों ने उच्च लोकों में जाने का अवसर गवां दिया है। अल्प बुद्धि इस लिये कहा है कि उन की बुद्धि में विषय भोगों के सिवाय और कोई चीज़ नहीं जंचती; भयंकर कर्म करने वाले इस लिये कहा है कि वे रात-दिन दूसरों को कष्ट देने का काम किया करते हैं।

(मू०) चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

(७)

(भा०पा०) आजन्म हैं रहते फँसे वे कठिन चिन्ता-जाल में ।
वे लीन रहते हैं विषय-सुख-भोग में हर काल में ॥११॥

कामोपभोग प्रधान जीवन लक्ष्य वे हैं मानते ।
सर्वस्व अपना वे उसे विश्वासपूर्वक जानते ॥१२॥

अर्थ—वे ऐसी घोर चिन्ताओं में लगे रहते हैं, जो उन की मृत्यु के समय ही उनका पीछा छोड़ती हैं, विषय भोगों को वे परम पुरुषार्थ समझते हैं ॥११॥

वे आशा रूप अनेक फाँसियों में फसे हुए, काम और क्रोधके अधीन हुए विषय भोग भोगनेके लिये अन्याय कर्मों से धन जमा करनेकी चेष्टा करते हैं ।

भावार्थ—असुर स्वभाववाले इन्द्रिय-सुखकोही परम पुरुषार्थ समझते हैं । उनका खयाल है कि इस सुखसे बढ़कर और सुखनहीं है । इन्द्रिय सुख के सामान जुटाने के लिये वे रात-दिन चिन्ता में फसे रहते हैं । उन की चिन्ता का अन्त उनके अन्त होनेके समयही होताहै। चिन्ता के सिवाय हज़ारों प्रकार की आशाएँ उनको लगी रहती हैं । वे इन्द्रियों के सुख भोगने के लिये धन जमा करने की अनेक चेष्टाएँ किया करते हैं चोरी करना, दूसरों का गला काट देना, निन्दा, स्तुति में हर समय मगन रहना आदि अनेक घृणित कामों में लगे रहना ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझते है ऐसा कोई बुरा काम नही है, जिसे स्वार्थ-साधन करने के लिये वे न करते हों ।

(मू०) इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

(८)

(भा०पा०) मुझको मिला यह आज कल होगी सफल यह कामना।
धन पास इतना है मिलेगा और भी इतना घना ॥१३॥

इस शत्रु को मारा तथा कल और लूंगा प्रान मैं ।
मैं सिद्ध ईश्वर हूं सुखी भोगी तथा बलवान मैं ॥१४॥

अर्थ—असुर प्रकृतिवाले सदा ऐसी बातों के फेर में पड़ेरहते हैं आज मुझको यह मिलगया है, मेरा यह मनोरथ पूराहोगा, यह मेरा है, और भविष्य में यह धन मेरा होजायगा ॥१३॥

उस दुश्मन को मैंने मारडाला, दूसरों को कल मारूंगा, मैं मालिक हूं, मैं सिद्धहूं, कृतकृत्यहूं मैं बलवान और तन्दुरुस्त हूं । १४॥

भावार्थ—अमुक अजेय शत्रु को मैंने मारडाला, दूसरों को भी मारडालूंगा ये ग़रीब क्या करसकते है ? मेरी बराबरी करनेवाला कोईनहीं है किसतरह ? मैं मालिकहूं, मैं भोगता हूं, मैं हरतरह से काम वाला हूं, मेरे वे पोते हैं, मैं साधारण आदमी नहींहूं, मैं अकेलाही बलवान और स्वस्थहूं ।

(मू०) आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

(९)

(भा०प०) धनवान और कुलीनहूं है कौन अब मुझसे भला।
मख दान सुख अतिही करूंगा मोह-तम में वह पला १५

सुख-स्वप्न में भूला हुआ, तम-मोह में जकड़ा हुआ।
गिरता नरक में पुरुष कामासक्ति से अन्धा हुआ ॥१६॥

अर्थ—मैं अमीरहूं, मैं अच्छे कुल में पैदा हुआहूं, मेरी बराबरी कौन करसकता है? मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान करूंगा, मैं आनन्द करूगा, इसतरह अज्ञान से भूलकर ॥१५॥

ये आसुरी प्रकृति वाले अनेक प्रकार के खयालातों में भ्रमते हुए, अज्ञानके जाल में फंसे हुए, विषयोंकी तृप्ति में लगेरहकर घोरनरक में पड़ते हैं ॥१६॥

(मू०) आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

(१०)

(भा०प०) धन आत्मश्लाघा मानमद से युक्त जितने शठ हैं।
वे दम्भ से यश के लिये विधि हीन करते यज्ञ हैं॥१७॥

जिनमें अहंकृति दर्प बल अति क्रोध काम विशेष है।
निन्दक वही करते स्व-परमें थित मुझी से द्वेष है ॥१८॥

अर्थ—ऐसेलोग अपनी बड़ाई आप कियाकरते हैं, किसी का सत्कार नहीं करते, तथा धनके नशे और मद में चूर रहते हैं। ॥१७॥

ये लोग अहंकार, बल, घमण्ड काम और क्रोध के आधीन रहते है। ये दुरात्मा अपने और परायेशरीर में रहने वाले मुझ—अन्तरयामी—से घृणा करते हैं।

भावार्थ—ये शास्त्रों में लिखी ईश्वर-आज्ञाओं को जानना और उनका पालन करना पसन्द नहीं करते।

(मू०) तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमांगतिम् ॥२०॥

(२१)

(श्ला०प०) मैं भेजताहूं क्रूरद्वेषी अधम पुरुषों कोवहां।
मिलती उन्हें संसार की गति आसुरी भारत ? जहां १९

वे मूढ़ आसुर योनि ले बहु जन्म हैं रहते वहीं।
गति नीच से भी नीच पाते पर मुझे पाते नहीं ॥२०॥

अर्थ—मुझ से द्वेष रखनेवाले इन निर्दयी नराधमों को, इन कुकर्मियोंको इस संसार के बीच वारम्बार असुर योनियों में ही डालताहूं ॥१९॥

वे मूर्ख जन्म जन्म में असुर योनि पानेसे—मुझतक कभी नहीं पहुंचते। इस से हे अर्जुन ? वे और भी नीचीगति को प्राप्तहो जाते है ॥२०॥

भावार्थ—असुर योनियों से मतलब शेर, चीते, व्याघ्र आदि हिंसक क्रूर योनियों में डालने सेहै।

वे मूढ़ लोग जन्म जन्म में तामसी योनियों में जन्म लेते और नीची से नीची गति को प्राप्त होते हैं। बताई हुई राहपर न चलने से वे नीच योनियों में जन्म लेते हैं। सबका सारमर्म यह है कि आसुरी स्वभाव पापोत्पादक मानवी उन्नति का शत्रु है। मनुष्यको उसे अपनी स्वतन्त्रता में अलग कर देना चाहिये। ऐसा न हो कि उसे कोई ऐसी योनि मिलजाय जिस में वह पर-तन्त्र होजाय और फिर कुछभी न कर सके। सब प्रकार की उन्नति और मोक्षके लिये मनुष्य का चोला उपयुक्त है। जिसने इस मनुष्य चोले में कुछ नहीं किया, वह अन्य चोलों में कुछ भी न कर सकेगा। (२०)

आगे तमाम आसुरी प्रकृति का तीन सूरतों में खुलासा कर दिया जाता है। इन तीन सूरतों से बचने पर मनुष्य सारी आसुरी प्रकृति से जो सब दोषों की खानि है, बच जाता है।

(मू०) त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

[१२]

(भा०प०) ये काम एवं क्रोध लोभ त्रिविध नरक के द्वार हैं ।
ये आत्मनाशी हैं इसी से त्याज्य सर्व प्रकार हैं ॥२१॥

इन नरक द्वारों से पुरुष जो छूट जाता पार्थ ! है ।
करता हुआ निज श्रेय वह पाता सुगति यथार्थ है २२

अर्थ—हे अर्जुन ? नरक के तीन द्वार हैं। काम, क्रोध और लोभ ये तीनों आत्मा के नाशक हैं, अतः मनुष्य को इन तीनों से बचना चाहिये। यानी त्याग देना चाहिये ॥२१॥

जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ इन तीन नरक द्वारों को त्याग देते हैं, हे अर्जुन ?, वह अपनी आत्मा का भला करते हैं और परम गति को प्राप्त होते हैं ॥२२॥

(मू०) यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वाः शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुं मिहार्हसि ॥२४॥

[१३]

(आ०प०) जो शास्त्र विधि को छोड़ मन से सकल करता काम है।
मिलती न उसको सिद्धि सुख मिलता न उत्तम धाम है २३

अतएव शास्त्र प्रमाण कार्य अकार्य में हैं मानलो ।
है शास्त्र विधि से कर्म करना उचित जगमें जानलो २४

अर्थ—जो मनुष्य शास्त्र की मर्य्यादा छोड़कर अपनी इच्छानुसार चलता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है, और न मोक्ष मिलती है २३

क्या करना उचित है, और क्या करना अनुचित है, इस व्यवस्था में शास्त्र प्रमाण है। अब तुम शास्त्र विधि से अपने कर्तव्य कर्म करना उचित है २४

भावार्थ—जो मनुष्य वेद विहित कर्म नहीं करता है, मनमें आता है वही करता है, उसे सिद्धि, तथा इसलोक में सुख और देह छोडने पर स्वर्ग या मोक्ष कुछभी नहीं मिलता ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे देवासुर सम्पद विभाग योगो नाम षोडशोऽध्याय ।
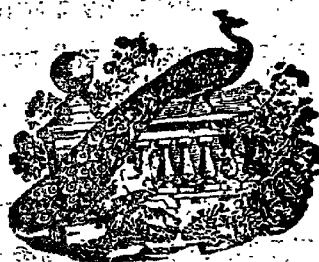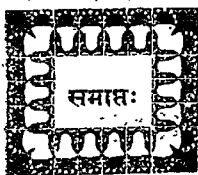
सप्तदशोऽध्यायः

सुखं किन्तु श्रद्धा वन् ।

भगवान ने पिछले १६ वें अध्याय के २४ वें श्लोक में जो शब्द कहे हैं, उन्ही को सुन कर अर्जुन को शंका हुई यानी प्रश्न करने का मौका मिला है। अर्जुन के मनमें यह शंका होती है, कि कर्म करने वाले तीन तरह के होते हैं। कितने लोग तो ऐसे हैं, जो शास्त्र विधि को जानते हैं, किन्तु शास्त्र में श्रद्धा न होने से शास्त्र विधि की उपेक्षा करते हैं। और मनमानी रीति से थोडे बहुत कर्म करते हैं। ऐसे लोग असुर कहलाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जो शास्त्र विधि को जानते हैं, और उस में अत्यन्त श्रद्धा रखकर, शास्त्र-विधि के अनुसार अच्छे कर्म करते हैं। ऐसे लोग

देव कहलाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जो आलस्य से शास्त्र नहीं देखते, किन्तु पूर्व पुरुष जिन कर्मों को करते आये हैं उन कर्मों को वेभी श्रद्धा पूर्वक करते हैं, और जिन कर्मों को पूर्व पुरुषों ने बुरा समझा उनको त्याग देते हैं। इस तीसरी सीढ़ी के लोगों का शास्त्र विधि पर ध्यान न देना, यह उनका असुर धर्म है, और श्रद्धा सहित बड़ों की देखा देखी अच्छे कर्म करना यह उनका देव धर्म है ऐसे देव धर्म और असुर धर्म से मिले हुए पुरुष किस एक श्रेणी में गिने जायेंगे, इस संशय को मनमें लेकर अर्जुन भगवान से पूछता है।

अर्जुनउवाच।

(मू०) ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन ने कहा—

[१]

(भा०प०) शास्त्रोक्त विधि को छोड़ जो करते सश्रद्धा यजन हैं।
जो पूजते हैं और को, करते नहीं प्रभु-भजन हैं ॥
उनकी प्रकृति निष्ठा प्रभो ! कहिये मुझे समझाइये।
है सात्विकी या राजसी या तामसी बतलाइये ॥१॥

अर्थ—हे कृष्ण ? जो लोग शास्त्र विधि को छोड़ कर श्रद्धा सहित यज्ञ करते हैं, उन लोगों की निष्ठा कैसी है, सात्विकी है या राजसी है अथवा तामसी है ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

(मू०) त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

भगवान ने कहा—

[२]

(भा०प०) श्रद्धा सभी में पार्थ ? त्रिविधा है सुनो मेरी कही ।
है सात्विकी, है राजसी, है तामसी तीनों यही ॥२॥

होती प्रकृति अनुसार श्रद्धा, पुरुष श्रद्धा युक्त है ।
होता पुरुष वैसा हुआ जिस भाँति श्रद्धा-युक्त है ॥३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! शरीर धारियों की श्रद्धा स्वभाव से तीन प्रकारकी होती है, सात्विकी, राजसी और तामसी। उसके विषय में सुन २।

हे भारत ? सब देह धारियों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुसार होती है। यह पुरुष श्रद्धा मय है। जिस की जैसी श्रद्धा होती है वह वैसाही होता है ॥३॥

भावार्थ—ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसकी कहीं श्रद्धा न हो। जिनकी श्रद्धा सात्विकी है, वे सात्विक हैं, जिनकी श्रद्धा रजोगुणी है, वे रजोगुण युक्त हैं और जिनकी श्रद्धा तमोगुणी है, वे तमोगुण युक्त है।

सबकी श्रद्धा अपने-अपने अन्तःकरण के अनुसार होती है, जिनके अन्तःकरण में सत्व गुणकी प्रधानता है, उनकी श्रद्धा सात्विकी है। जिनके

अन्तःकरण में रजोगुण की प्रधानता है, उनकी श्रद्धा रजोगुण युक्त है। इसी भांति जिनके अन्तःकरण में तमोगुण की प्रधानता है, उनकी श्रद्धा तमोगुण युक्त है। पुरुष की श्रद्धा किस तरह जानी जा सकती है? सुनो—

(मू०) यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

[३]

(भा०प०) सात्विक पुरुष करते यजन हैं देवगण का प्रेम से ।
राजस पुरुष करते यजन हैं यक्षगण का नेम से ॥
तामस प्रकृति के पुरुष करते हैं यजन भूतादि का ।
निज-निज प्रकृति अनुसार करते नेम सब पूजादि का ॥

अर्थ—सतोगुणी पुरुष सत्वगुण वाले देवताओं की उपासना करते हैं, रजोगुणी पुरुष यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं, तमोगुणी पुरुष भूत-प्रेतों को पूजते हैं ॥४॥

भावार्थ—शास्त्र ज्ञानसे शून्य पुरुष अपनी स्वाभाविक श्रद्धा से महादेव आदि सात्विक देवताओं को पूजते हैं वे सतोगुणी हैं। जो लोग रजोगुणी कुबेर आदि यक्षों तथा राक्षसों को पूजते हैं, वे रजोगुणी हैं। जो तमोगुणी भूत-प्रेतों को पूजते हैं, वे तमोगुणी हैं। लोगों की उपासना से अथवा उनकी श्रद्धा से भली भांति जाना जा सकता है कि वे सतोगुणी हैं या रजोगुणी हैं अथवा तामसी या तमोगुणी हैं।

एकबात और है कि जो जैसे को भजता है वह वैसा ही होजाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि लोग जो अपने धर्म से गिर कर भूत-प्रेतों को

और कुछ पूजते हैं, आगे जाकर भूत-प्रेत होते हैं। जो राक्षसों को पूजते हैं वह राक्षस होते हैं। जो अच्छे देवताओं को पूजते हैं, वे देव होते हैं। जो एक मात्र ब्रह्म की उपासना करते हैं वे ब्रह्म होजाते हैं। अब पाठकों तथा श्रोताओं को स्वयं ही विचार कर लेना चाहिये कि कौनसी उपासना श्रेष्ठ है।

(मू०) अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

[५]

(भा०प०) जो दम्भ-ममता-युक्त कामासक्ति से होकर बली ।
तप घोर शास्त्र विरुद्ध करते, हैं बडे वे ही छली ॥५॥

देहस्थ भूतों को मुझे भी कष्ट जो देते महा ।
वे हैं बडे ही मूढ उनमें कुछ विवेक नहीं रहा ॥६॥

अर्थ—हे अर्जुन ? जो कपटी हैं, जो घमण्डी हैं, जो कामासक्त यानी विषयानुराग के बल से युक्त हैं, जो शास्त्र के विरुद्ध घोर तप करते हैं ॥५॥

वे शरीर के पंच महाभूतों को बलहीन कर डालते हैं तथा अन्तरयामी रूपसे मुझ अन्दर रहने वाले को भी दुर्बल करते हैं वे मूर्ख हैं, उनको निश्चय आसुरी समझ ॥६॥

भावार्थ--आज कल ऐसे ढोंगी साधुओं की गिन्ती करना कठिन हैं। कितने तो वृक्षों में झूला डालकर ऊपर पैर और नीचे सिर करके लटकते हैं, कितने ही लोहे के शूलों की शैया बनाकर उसपर सोते हैं, कितने ही अपनी लिङ्गेन्द्रिय को जंजीरों से कस डालते हैं; कितने चारों ओर आग सुलगा कर उसमें बैठे रहते हैं, कितने ही तप्त (गर्म) शिलाओं पर बैठकर तपते हैं, कहां तक गिनायें आज कल सैंकडों प्रकार के ढोंगी साधु देखे जाते हैं। ये लोग ऐसे-ऐसे कितने ही कठिन काम लोगों को दिखाने और वाह वाही लूटने को करते हैं, अथवा अपनी कोई सांसारिक कामना पूरी करने को करते हैं। ऐसे तपों की शास्त्रों में आज्ञा नहीं है। दूर जानेकी क्या आवश्यकता है? भगवान कृष्णचन्द्र के इस महा वाक्य को देखने से क्या इस बात पर अविश्वास रह सकता है? भारत में आज कल प्रायः ऐसे बनावटी साधु हर जगह पाये जाते हैं। कुम्भ आदि के मेलों में मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग आदि तीर्थों की रेतीली भूमि में ऐसे साधुओं की भरमार रहती है। ये पाखण्डी अपना अड्डा ऐसी जगह जमाते हैं, जहां से आदमियों का जमघट, विशेष कर स्त्रियों के झुण्डके झुण्ड निकलते हैं, हमारे देशके अधिकांश पुरुष ढपोल शंख हैं स्त्रियां तो कच्ची बुद्धि की होती ही हैं। पुरुष तो इन्हें पूजते ही हैं, मगर स्त्रियों की भक्ति इन में जल्दी पैदा होजाती है। ऐसे-ऐसे महात्मा अच्छे-अच्छे घरों की बालाओं को तीर्थ स्थानों से उडा लेजाते हैं, और उनका कुल-धर्म, पतिव्रत-धर्म नष्ट कर देते हैं। बहुत से साधु पबलिक को अनेक प्रकार के धोखे यानी "तान्त्रिक" द्वारा रसायन, धन, पुत्र आदि का लालच देकर अपने तईं सिद्ध बन कर पुजाते हैं और मौका लगने पर धन हडप करके या अपनी इच्छा पूरी कर चल देते हैं। जो ऐसे दुष्टों की पूजा करते हैं। वे भगवान की आज्ञा को

नहीं मानते। वह शास्त्र ज्ञान से अन्धे हैं। इसलिये उन्हें भी नरक यात्रा करनी पडती है।

अब आगे भगवान भोजन, उपासना, तप, और दान की तीन-तीन अवस्थाएँ (किस्में) बतलाते हैं। इन किस्मों के जानने से मनुष्य सतोगुण को बढ़ा सकता है, और रजोगुण तथा तमोगुण को घटा सकता है। इस के सिवाय भोजन आदि की किस्मों के सतोगुण की पहचान भी जान सकता है। जो सतोगुणी भोजन करता है। वह सतोगुणी है। जो रजोगुणी भोजन करता है, वह रजोगुणी है और जो तमोगुणी भोजन करता है, वह तमोगुणी है। इसी तरह जो सात्विक तप, दान, उपासना करता है, वह सतोगुणी है। और रजोगुणी तमोगुणी को उनके तप, दान, उपासना आदि से समझना चाहिये।

(मू) आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

[५]

(भा०पा०) है सर्वप्रिय आहार होता, त्रिविध तप मख दान भी।
भारत! सुनो मैं हूं बताता भेद उनका भान भी ॥
भोजन तथा तप यज्ञ अथवा दान के जो मर्म पर।
है जानता चलता वही शास्त्रोक्त सात्विक धर्म पर ७

अर्थ—हे अर्जुन! जिस तरह तीन प्रकार का आहार सबको अच्छा लगता है, उसी तरह उपासना, तप और दान भी सबको तीन प्रकार का अच्छा। लगता है उनके भेद सुनः।

(मू०) आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥८॥

[६]

(भा०प०) बल आयु सुख आरोग्य जिससे प्रीति सत्य बढ़े सदा ।
सुस्निग्ध रुचिवर्द्धक स-रस आनन्द प्रद जो सर्वदा ॥
रस रूप हो स्थिर रहे जिससे न होते रोग हैं ।
भोजन वही है प्रिय उन्हें जो पार्थ सात्विक लोग हैं ॥८॥

अर्थ—आयु, उत्साह बल, आरोग्यता और प्रसन्नता बढ़ाने वाले रसीले, चिकने और बहुत समय तक देह में ठहरने वाले तथा हृदय को हितकारी भोजन सात्विकी लोगों को प्यारे लगते हैं ॥८॥

(मू०) कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

[७]

(भा०प०) अत्युष्ण खारे दाह कारक चरपरे कटु लटपटे ।
आहार जो हैं तेज एवं रोग-दुख-प्रद चटपटे ॥
यह अन्न खाते राजसी खाते न सात्विक अन्न हैं ।
होते वही हैं प्रिय उन्हें जो पुरुष रज-सपन्न हैं ॥९॥

अर्थ—अति कड़वा, अति खट्टा, अति नमकीन, अति चरपरा, अति रूखा, और दाह पैदा करने वाला भोजन जिस से दुःख शोक और रोग बढ़ते हैं, रजोगुणी को अच्छा लगता है ॥९॥

(मू०) यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

[८]

(आ०प०) उच्छिष्ट नीरस नहिं पवित्र सड़ा हुआ बासी तथा ।
जन तामसी हैं चाहते भोजन दुखद जो सर्वथा ॥
राजसी अरु तामसी जो वस्तु सब को त्याग कर ।
रहले वही सुख-मय कहा हे पार्थ ? इसको याद कर१०

अर्थ—एक पहर का रक्खा हुआ, रस-रहित, सड़ा हुआ, बासा, जूठा और अपवित्र भोजन तमोगुणी लोगों को अच्छा लगता है ॥१०॥

(मू०) अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

[९]

(आ०प०) जो यज्ञ भारत ? है किया जाता फलाशा त्यागकर ।
शास्त्रानुकूल सविधि तथा कर्त्तव्य अपना मानकर ॥
वह यज्ञ सात्त्विक है न जिसमें चित्त तनिक अशान्त हो ।
मन शुद्ध शान्त अमल रहे भटके नहीं पथ-भ्रान्त हो ११

अर्थ—हे अर्जुन ? यज्ञ करना कर्त्तव्य धर्म है, ऐसा विचार कर जो यज्ञ बिना फल-प्राप्ति की इच्छा के किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक कहलाता है ११

(मू०) अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरत श्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

विधि हीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धा विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

[१०]

(भा०प०) फल कामना से जो किया जाता धनञ्जय ? यज्ञ है ।
या यज्ञ जो दम्भार्थ होता राजसी वह यज्ञ है ॥१२॥

हो यज्ञ विधि से हीन अन्न-विहीन मन्त्र विहीन जो ।
है यज्ञ तामस पार्थ ? श्रद्धा-दक्षिणा से हीन जो ॥१३॥

अर्थ—हे अर्जुन ? जो यज्ञ फल की कामना से अथवा ढोंग फैलाने को किया जाता है, वह यज्ञ रजोगुणी है ॥१२।

जो यज्ञ शास्त्र विधि के विरुद्ध किया जाता है, जिस में भोजन नहीं कराया जाता, जिसमें वेद मन्त्र नहीं बोले जाते, जिस में दान नहीं दिया जाता और जो श्रद्धा-रहित किया जाता है, वह यज्ञ तमोगुणी है ॥१३॥

(मू०) देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

(११)

(भा०प०) द्विज-देव-गुरु विद्वान का पूजन अहिंसा मित्रता ।
हैं पार्थ ? कायिक-तप कहाते ब्रह्मचर्य पवित्रता ।१४।

कहना वही जो वचन प्रिय हितकर सुखद यथार्थ हैं ।
स्वाध्यायका अभ्यास वाचिक तप कहाता पार्थ!है १५

देवता, द्विज, गुरु और तत्वज्ञानियों की पूजा करना, भीतर, बाहर पवित्र रहना, सबके सामने नम्र रहना, ब्रह्मचर्य्य व्रतका पालन करना, किसी को कष्ट न देना, यह शारीरिक तप कहलाता है ॥१४॥

अपनी बात से किसी का दिल न दुखाना, सच बोलना, प्यारी और हितकारी बात कहना, और वेद का अभ्यास करना यह वाचिक तप कहाता है ॥१५॥

भावार्थ—देवता=ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य्य, इन्द्र आदि। द्विज=वह ब्राह्मण जो सदाचारी शास्त्रों का जानने वाला है। गुरु=माता, पिता और विद्या पढाने वाले तथा इष्ट गुरु। आर्जव=नम्रता और सरलता धारण करना, छल, कपट, कुटिलता, मिथ्या, दम्भ, पाखण्ड इत्यादि का त्याग। ब्रह्मचर्य्य=ब्रह्म का अर्थ है-ईश्वर, अथवा विद्या। सो ईश्वर अथवा विद्याके लिये जो आचरण किया जाता है उसका नाम ब्रह्मचर्य्य है। परन्तु ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ आज कल वीर्य रक्षासे लिया जाता है। वेद में कहा है "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु मुपाघ्नत" अर्थात् ब्रह्मचर्य्य और तपके बल पर ही देवता लोग मृत्यु को जीत लेते हैं। भीष्म पितामह की कथा सबको मालूम है। पातञ्जलि ने अपने योग शास्त्र में लिखा है "ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्य लाभः" अर्थात् ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से ही बल वीर्य्य की प्राप्ति होती है। वीर्य को नाश करने वाले आठ प्रकार के मैथुन विद्वानों ने बतलाये हैं।

> दर्शनं स्पर्शनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं ।
> संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
> विपरीतं ब्रह्मचर्यं जह्यात्तत्र कदाचन ॥

अर्थात् १ दर्शन, २ स्पर्श, ३ केलि, ४ नेत्र कटाक्ष, ५ एकान्त में भाषण, ६ संकल्प, ७ प्रयत्न, ८ कार्यनिष्पत्ति ये आठ प्रकार के मैथुन (स्त्री प्रसंग) विद्वानों ने बतलाये हैं, इनसे बचना ही ब्रह्मचर्य्य है।

रामायण के पढ़ने वालों को मालूम है कि महाबली मेघनाथ को मारने की किसी में शक्ति न थी। उस समय भगवान रामचन्द्रजी ने कहा कि इस महाबली राक्षस को वही मार सकेगा। जिसने बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का साधन किया हो। लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजी के साथ वनमें बारह वर्ष से पूर्ण ब्रह्मचारी थे। इनके मनमें कभी कोई अपवित्र भाव नहीं उठाथा। लक्ष्मणजी आठ प्रकार के मैथुन से सदा अलग थे। इसलिये लक्ष्मणजी ने ब्रह्मचर्य के सहारे से ही महाबली मेघनाद पर विजय प्राप्त की। इसी प्रकार महाभारत में चित्ररथ गन्धर्व को अर्जुन द्वारा जीते जाने की कथा है। उस में लिखा है कि महावीर अर्जुन ने जब चित्ररथ को जीतलिया तब चित्ररथ ने कहा—

ब्रह्मचर्य्यपरोधर्मः स चापि नियतस्त्वयि।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मिन् विजितस्त्वया॥

अर्थात् हे पार्थ? ब्रह्मचर्य ही परमधर्म है। इस का तुमने साधन किया है; और इसी कारण तुम मुझको युद्ध में पराजित कर सके हो।

कहांतक कहें, ब्रह्मचर्य की जितनी महिमा कही जाय, थोड़ी है।

शारीरिक तपमें शरीर प्रधान है, लेकिन इसके सहायक और भी हैं। केवल शरीर से जो तप किया जाता है, उसे शारीरिक तप नहीं कहते, इस विषय में भगवान आगे १८ वें अध्याय में कहेंगे।

(मू०) मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥१७॥

(१२)

(भा०प०) व्रत मौन, भाव विशुद्धि शान्ति प्रसन्नता मनकी तथा ।
हे पार्थ ! मानस तप यही करना स्ववश मन सर्वथा।१६

फल कामना तजि योगयुत तप त्रिविध ये यदि प्रेम से ।
जाते किये हैं तो यही सात्विक कहाते नेम से ॥१७॥

अर्थ—चित्त प्रसन्न रखना, चित्त में शान्ति रखना, मौन रहना, मनको वश में रखना, कपट न रखना, इसे मानसिक तप कहते हैं ॥१६॥

पहले जो शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के तप कहे हैं। वे सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण तीन प्रकार के होते हैं।

फल की इच्छा त्यागकर, अत्यन्त श्रद्धा से एकाग्र चित्त मनुष्य जो तीन प्रकार के तप करते हैं वह "सात्विक तप" कहलाते हैं ॥१७॥

(मू०) सत्कार मान पूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

मूढ़ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

(१३)

(भा०प०) सत्कार-पूजा-हेतु तप जो दम्भ से होते वही ।
अस्थिर सुचंचल पार्थ! तप राजस कहाते हैं सही ॥१८॥

जो मूढ़ सह पर-हानि-हित मनमें कुराग्रह ठान कर ।
तप है किया जाता वही तामस, नहीं कल्याण कर १९

अर्थ— जो तप अपना मान बढ़ाने की इच्छासे, अपने को पुजाने की इच्छा से केवल दिखाने के लिये किया जाता है "राजस तप" कहलाता है । वह तप तुच्छ और अनित्य है ॥१८॥

जो तप मूर्खता से, अपने आत्मा को दुःख देकर, दूसरे को दुःख पहुंचाने या नाश करने के लिये किया जाता है वह "तामस तप" कहलाता है ॥१९॥

(मू०) दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥२०॥

[१४]

(भा०प०) यह दान देना है परम कर्त्तव्य ऐसा जान कर ।
जिससे न प्रत्युपकार हो, शुभ धर्म अपना मान कर ॥
थल काल पात्र विचार कर जाता दिया जो दान है ।
कहते उसे ही हैं उसी का नाम सात्विक दान है २०

अर्थ—जो दान अपना कर्त्तव्य-धर्म समझ कर किया जाता है, जो दान उत्तम देश और उत्तम काल में ऐसे सुपात्रों को दिया जाता है, जिसने कभी अपना उपकार यानी स्वार्थ न किया हो वह "सात्विक" दान कहलाता है २०

भावार्थ—हट्टे, कट्टे, बदमाश, गुण्डों को देना अच्छा नहीं है। विद्वान् ब्रह्मचारी, लोक की भलाई के लिये परिश्रम करने वालों को दान देना अच्छा है। ऐसे ही लोग सुपात्र कहलाते हैं। जिससे कभी उपकार की आशा हो, या जिसने कभी उपकार किया हो, उस को दान देना शास्त्रोक्त मना है। कुरुक्षेत्र, प्रयाग आदि अच्छे-अच्छे स्थानों तथा संक्रान्ति आदि अच्छे शुभ पर्व-दिनों में दान देना चाहिये।

(मू०) यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसंस्मृतम् ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

(१५)

(भा०प०) जाता दिया जो दान प्रत्युपकार फल उद्देश से ।
वह दान राजस है सही जाता दिया जो क्लेश से २१

जो दान पार्थ ? अपात्र में बिन देश काल विचार के।
जाता दिया है, है वही तामस बिना सत्कार के २१

अर्थ—जो दान बदले में भलाई की इच्छा से दिया है, या फल की कामना से दिया जाता है, या चित्त से दुखी होकर दिया जाता है, वह राजसी" दान कहलाता है ॥२१॥

जो दान निषिद्ध देश और काल में अयोग्यों को दिया जाता है, अथवा योग्यों को निरादर और तिरस्कार के साथ दिया जाता है, वह "तामस दान" कहलाता है ॥२२॥

अब आगे भगवान नीचे लिखे हुए विधि और नियम अंगहीन क्रिया ओं यानी यज्ञ, दान, और तपादिक के पूर्ण करने या उनमें सिद्धि प्राप्त करने को दिये जाते हैं।

(मू०) ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधिःस्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताःपुरा ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

[१६]

(भा०प०) ये नाम 'ॐ तत्सत्' बताते ब्रह्म के तत्वज्ञ हैं ।
निर्मित हुए हैं पार्थ ! जिस से वेद ब्राह्मण यज्ञ हैं २३

इस हेतु ही सब ब्रह्मवादी ॐ प्रथम पद सर्वदा ।
तप यज्ञ दान सुकर्म जो शास्त्रोक्त हैं करते सदा २४

अर्थ—हे अर्जुन ? "ओं तत्सत्" यह तीन अवयवों वाला नाम परब्रह्म का है। इस नाम से ही प्राचीन काल में ब्राह्मण, वेद, और यज्ञ उत्पन्न किये गये थे ॥२३॥

इस लिये हे पार्थ? वेद जानने वाले शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि के करने से पहले "तत" का उच्चारण करते है ॥२४॥

भावार्थ—जिस भांति अकार, उकार, मकार इन तीन अवयवों वाला (अ+उ+म=ॐ, ओं) ॐ अथवा प्रणव परब्रह्म का नाम है, उसी तरह से "ओं, तत, सत्" भी परब्रह्म के नाम हैं। वेदान्त जानने वालों ने पहले इसका स्मरण किया था। अधिकारी मनुष्य यदि यज्ञ दान आदि

के पहले और पीछे तीन-तीन बार "ओं तत् सत्" उच्चारण करें तो उसके यज्ञ दान आदि में दोष न रहें हों। इसके उच्चारण करने से अंग हीन क्रिया भी सात्विकी फल देगी। यह विधि अनादि काल से चली आती है। आगे भगवान "ओं तत् सत्" इन तीनों का महात्म्य अलग-अलग कहेंगे।

(मू०) तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः २५
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

[१७]

(आ०प०) तत् शब्द को पढ़कर फलाशा त्याग करके सर्वथा ॥
तप यज्ञ दानादिक सुकर्म मुमुक्षु भी करते तथा २५
सद्भाव में होता सदा 'सत्' शब्द का उपयोग है।
होता सुमंगल कार्य में यह पार्थ ? नित्य प्रयोग है २६

अर्थ—जो केवल मोक्ष चाहते हैं, और किसी फल को चाहना नहीं रखते, वे लोग यज्ञ, तप, दान, आदि के पहले "तत्" का उच्चारण करते हैं ॥२५॥

हे अर्जुन ? सद्भाव और साधुभाव में, "सत्" शब्द कहा जाता है, विवाह आदि मांगलिक कामों में भी इस "सत" शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥२६॥

(मू०) यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

[१८]

(आ०प०) तप यज्ञ एवं दान में जो पार्थ ? स्थिति है 'सत' वही ।
इनके लिये जो कर्म होते हैं सभी वे "सत्" सही २७

श्रद्धा बिना होमादि या तप आदि जो कृत कर्म हैं ।
कहते उसे हैं "असत्" पर उससे न होता धर्म है २८

अर्थ—यज्ञ तप और दान के काम को 'सत्' कहते हैं। ईश्वर के लिये जो कर्म किये जाते हैं उसे भी 'सत्' कहते हैं। परमात्मा के लिये जो यज्ञ आदि कर्म किये जाते हैं, यदि वे अंगहीन और गुण रहित भी हों तो भी 'ओं तत् सत्" का पहले उच्चारण करने से पूर्ण हो जाते हैं ॥२७॥

हे पार्थ ! जो यज्ञ तप दान आदि बिना श्रद्धा के किया जाता है वह "असत" कहलाता है उसका फल न तो इस लोक में मिलता है और न परलोक में ॥२८॥

भावार्थ—इस अध्याय का सारांश यह है। कि वे भक्त हैं जो शास्त्र के न जानने पर भी श्रद्धावान हैं। और जो अपनी श्रद्धानुसार सात्विक, राजसी और तामसी श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। इनको चाहिये कि राजसी, तामसी, आहार, यज्ञ, दान और तपको छोड कर सात्विकी आहार, यज्ञ, दान आदि करें। जब कि उन की यज्ञ, दान आदिक क्रियाओं में दोष हो तो वे "ओम् तत् और सत् का उच्चारण करें" इस से उन के कार्य पूर्ण हो जायँगे। इसभांति अन्तःकरण शुद्ध करके उन्हें शास्त्र

पढने चाहिये, और आगे चलकर ब्रह्मकी खोज में लगना चाहिये। इस तरह करने से उन्हें सत्यका अनुभव होगा और उनकी मोक्ष होजायगी।

(१६)

(भा०प०) इस लोक में भारत ? न कुछ भी काम वह आता कभी।
परलोक में भी पार्थ ? वह होता न हितकारी कभी ॥
जो कुछ सुना तुमने धनञ्जय ? या यहां जो कुछ कहा।
रखना सदा तुम ध्यान में उपदेश मंगल मय महा २८

अर्थ—हे अर्जुन? राजसी औ तामसी यज्ञ, दान, तप आदि न तो इस लोक में काम आते और न पर लोक में हित कारी होते। इस लिये इस विषय में जो कुछ कहा है, उस महा मंगल मय उपदेश को तू सदा ध्यान में रखना।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीता सुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन सम्वादे श्रद्धात्रय
विभाग योगो नाम सप्तदशोऽध्याय।
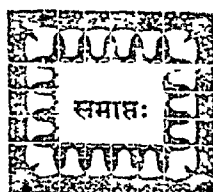
अष्टदशोऽध्यायः

संन्यास और त्याग का भेद।

इस अध्याय में भगवान सारे गीता-शास्त्र और वेद के सारांश को एक जगह करके उपदेश देते हैं। पहले के अध्यायों में जो उपदेश दिया गया है, वह सब निस्सन्देह इस अध्याय में मिलेगा। लेकिन अर्जुन केवल यही जानना चाहता है कि "संन्यास" और "त्याग" शब्दों के अर्थ में क्या भेद है।

अर्जुनउवाच।

(मू०) संन्यासस्य महाबाहो तत्व मिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश प्रथकेशिनिषूदन ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अर्जुन ने कहा—

[१]

(श्ला०प०) केशव ? मुझे संन्यास एवं त्याग-तत्व बताइये ।
कृपया महाबाहो ? मुझे सब पृथक्-पृथक् समझाइये ?

भगवान ने कहा—

सब काम्य कर्मों को धनञ्जय ? छोडना संन्यास है ।
कहते सुबुध हैं, त्याग कर्मों के फलों का न्यास है ॥२॥

अर्थ—हे महा बाहो? हे हृषीकेश? हे केशी राक्षस के मारने वाले?संन्यास और त्याग के तत्व को अलग-अलग जानना चाहता हूं ॥१॥

तब भगवान कहने लगे कि हे अर्जुन? पण्डित लोग काम्य कर्मों के छोड़ने को "सन्यास' कहते हैं; विचार कुशल पुरुष सब कर्मों के छोड़ने को" त्याग ' कहते हैं ॥२॥

भावार्थ—हे भगवन् ? संन्यास और त्याग शब्दों में क्या फर्क है ? उसे आप मुझे कृपा करके समझाइये । सन्यास और त्याग शब्दों की बात अनेक जगह पिछले अध्यायों में आयी है, मगर उनका खुलासा अर्थ कहीं नहीं किया गया, इसी से अर्जुन पूछता है और भगवान आगे समझाते हैं ।

कुछ विद्वान समझते हैं, कि फलों की इच्छा सहित ही अश्वमेध यज्ञ आदि काम्य कर्मों को छोडना "सन्यास" है । पस, असल की आ-

लोचना करने वाले विद्वानों की राय है, कि नित्य नैमित्तिक कर्मों के फल छोड़ने को "त्याग" कहते हैं।

सन्यास और त्याग दोनों का एकही अर्थ है। उसमें इतना फर्क नहीं है जितना कि "घड़े" और "कपड़े" में। हां दोनों में जरासा भेद है। सन्यास का अर्थ है। अश्वमेध आदि काम्यकर्मों का छोड़ना और त्याग का अर्थ है कर्म फलों का छोड़ना।

(शंका) नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका फल होते तो कहीं नहीं कहागया है। क्या सबब है जो यहां उन के फल त्याग कीबात कहीगयी ! यह बात तो वैसे ही है जैसे वांझ स्त्री का पुत्र त्याग करना।

उत्तर—यहां ऐसी शंका नहीं उठाई जासकती, क्योंकि भगवान की राय में नित्य नैमित्तिक कर्मों का फल होता है। वह इसी १८ वें अध्याय के १२ वें श्लोक में बतायेंगे कि वे सन्यासी जिन्हों ने कर्म फल की इच्छाओं को त्यागदिया है। उनके फलों से सम्बन्ध नहीं रखते, किन्तु जो सन्यासी नहीं हैं उन्हें तो अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों का फल भोगना ही होगा, जिन जिन के करने को वे बाध्य हैं।

(मू०) त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

(३)

(भा०प०) हैं दोष मय सबकर्म उनको छोड़ना ही चाहिये।
कुछ पण्डितों की राय है कुछ भी न करना चाहिये॥
कुछ यज्ञ तप दानादि कर्मों को उचित हैं मानते।
करते सदा रहना इन्हें कर्त्तव्य अपना जानते ॥३॥

अर्थ—कितनेही तत्व ज्ञानी कहते हैं कि राग द्वेष आदि की तरह कर्म छोड़ देने चाहिये: कुछ कहते हैं कि यज्ञदान और तपको न छोड़ना चाहिये ॥३॥

भावार्थ—नित्य-नैमित्तिक एवं काम्यकर्म आदि सभी मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, क्योंकि वे राग द्वेष आदि के समान दोषों से भरे हैं। इसलिये अज्ञानी (जिसका अन्तः करण शुद्ध नहीं है) को वे सब कर्म छोड़देना चाहिये। दूसरे पक्ष के विद्वान कहते हैं, कि अज्ञानी को भी अन्तः करणकी शुद्धि द्वारा, ज्ञान की उत्पत्ति के लिये यज्ञ दान तप इन कर्मों को कदापि न छोडना चाहिये। भगवान यहां दो प्रकार के लोगों का मत कह कर आगे अपना निश्चय बताते हैं।

(मू०) निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरत सत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधिः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्य मेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

[२]

(भा०प०) सुनलो विषय में त्याग के जो पार्थ ? मेरी राय है।
है त्याग तीन प्रकार का यह पण्डितों की राय है ॥४॥

तप दान यज्ञ सुकर्म पार्थ ? न त्याग करने योग्य हैं।
यह पण्डितों के भी लिये कर्त्तव्य कर्म सुयोग्य हैं ॥५॥

अर्थ—हे भारतकुल श्रेष्ठ? इस त्याग के विषय में मेरे निश्चय को सुन। हे पुरुष श्रेष्ठ? त्याग तीन भांति का कहागया है ॥ ४ ॥

यज्ञ तप और दान कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिये उनका करना जरूरी है। यज्ञ दान और तप ज्ञानी के शुद्ध करने वाले हैं॥ ५॥

भावार्थ—यज्ञ, दान, तप तीनों प्रकार के कर्म अवश्य करने चाहिये। क्योंकि ये ज्ञानी के मन को शुद्ध करते हैं, यानी जो फलों की इच्छा नहीं रखते उन ज्ञानियों को शुद्ध करने वाले हैं।

(मू०) एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

[४]

(भा०प०) तज कर्म-फल आशा सभी ये कर्म भी कर्त्तव्य हैं।
उत्तम सुनिश्चित मत यही है, कर्म ये अति भव्य हैं॥६॥

अनुचित बड़ा ही नियत कर्मों का न करना त्याग है।
यदि मोह वश हो त्याग तो वह त्याग तामस त्याग है ७

अर्थ—ये कर्म भी आसक्ति और कर्म फल की आशा छोड़कर करने चाहिये। हे पार्थ ? यह मेरा निश्चित और श्रेष्ठ मत है ॥६॥

नित्य कर्मों का त्याग निश्चय ही अनुचित है। मूर्खता से उनको त्याग देना "तामसी" त्याग कहलाता है ॥७॥

भावार्थ—यज्ञ दान. और तप ये तीन कर्म "मैं करता हूं" ऐसा अभिमान छोड़कर अथवा अपने किये हुए कर्मों से धन, पुत्र, स्त्री, स्वर्ग

आदि फलों की आशा न रख कर, करने चाहिये। मतलब यह है कि उन किये हुए कर्मों में आशक्ति न रखनी चाहिये, और उनसे किसी फल के मिलने की आशा न रखनीं चाहिये। अगर ये कर्म आसक्ति और फल- आशा त्याग कर किये जाय, मनुष्य को बन्धन में न फसावें लेकिन जो ऐसा समझते हैं, कि हम ये कर्म करते हैं, हमें इनके करने से स्वर्ग, धन, पुत्र, स्त्री आदि मिलेगी, वे कर्म के बन्धन में पड़ेंगे, उनकी मोक्ष न होगी।

अज्ञानी—मोक्ष की इच्छा करने वाला-कर्म करने को बाध्य है; अतः उनको नित्य कर्मों का त्याग करना ठीक नहीं है, क्योंकि कहा जा चुका है कि नित्य कर्मों से अज्ञानी का मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध होने से मुक्ति का मार्ग दिखाई देने लगता है।

(मू०) दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत्।
सकृत्वा राजसं त्यागं नैव त्याग फलं लभेत् ॥८॥

(५)

(भा०पा०) है क्लेश होता देह को इस भाव से भय मानकर।
या कर्म होते हैं सभी दुखःद यही जिय जानकर ॥
यदि कर्म कोई छोड़दे तो त्याग राजस है वही ॥
मिलता न उसको त्याग का फल पार्थ! है यह सत्यही ॥

अर्थ—जो कोई शारीरिक कष्ट के भय से कर्म को दुःखदाई समझ कर छोड़ देता है उसका यह त्याग "राजस" त्याग है, इस त्याग का फल उसे कुछ भी नहीं मिलता।

(मू०) कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशय ॥१०॥

(६)

(भा०पा०) यदि संग-फल तजि मानकर कर्त्तव्य कर्म नियत करे।
तो त्याग सात्विक है वही भव-बन्ध भी जिससे टरे ९

हित कर्म में जो निरत द्वेष अकुशल का करता नहीं।
वह सत्व शील सुविज्ञ त्यागी है तनिक संशय नहीं १०

अर्थ—हे अर्जुन ? "यह नियमित कर्म आवश्यक करना है।" ऐसा समझ कर, जो कर्म आसक्ति तथा फल की आशा त्याग कर किया जाता है वह "सात्विक" कहलाता है ॥९॥

सात्विक त्यागी मनुष्य सतोगुण से व्याप्त होने पर तत्वज्ञानी होजाता है। उसके सन्देह दूर होजाते हैं, तब वह दुःखदायी कर्मों से परहेज नहीं करता, और सुखदायी कर्मों से प्रसन्न नहीं होता ॥१०॥

भावार्थ—कर्म करना चाहिये, किन्तु कर्म फल की इच्छा न करनी चाहिये। फल की इच्छा त्याग देने को ही सात्विक त्याग कहते हैं।

जबकि आदमी कर्म के त्याग होने पर नित्य नैमित्तिक कर्म करता है और अपने कर्मों से प्रेम नहीं रखता एवं उनके फलकी इच्छा नहीं करता, उसका अन्तःकरण शुद्ध होजाता है। जब अन्तःकरण शुद्ध और शान्त होजाता है तब उस का अन्तःकरण आत्म-ध्यान करने के योग्य होजाता

है। अब भगवान यह सिखाते हैं कि जिसका अन्तःकरण नित्य कर्मों से शुद्ध होजाता है और जो आत्म-ज्ञान प्राप्तकरने योग्य होजाता है। धीरे धीरे ज्ञान निष्ठा प्राप्त कर सकता है।

जो दुःखदायी कर्मों को संसार का कारण समझ कर, उनसे घृणा नहीं करता, और जो सुखदायी कर्मों यानी नित्य कर्मों को अन्तःकरण शुद्ध करने वाला और ज्ञान पैदा करके मोक्ष की राह बताने वाला समझ कर उनसे प्रसन्न नहीं होता, वह मनुष्य ठीक है। यह हालत मनुष्य की उस समय होती है, जब कि उसमें सतोगुण व्याप्त होजाता है। और उस सतोगुण के कारण से उसे आत्मा और अनात्मा का ज्ञान होजाता है। उस समय उसके अज्ञान से पैदा हुए सन्देह नाश होजाते हैं तब उसे विश्वास होजाता है कि आत्म तत्व में लीन होने से ही मोक्ष होगी। इसके सिवाय मोक्ष का और उपाय नहीं है।

सारांश यह है कि जब मनुष्य कर्म-योग के योग्य होकर ऊपर लिखी विधिसे कर्म-योग करता है, तब धीरे धीरे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। उस समय वह अपने तईं जन्म रहित और निर्विकार आत्मा समझने लगता है। इस तरह का खयाल होजाने से वह परमानन्द स्वरूप आत्मा के मुकाबिले में सब कर्म-फलों को तुच्छ समझता है।

(मू०) न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

[७]

(भा०प०) सम्भव न कोई देहधारी कर्म करना छोड़दे ।
त्यागी वही है कर्म-फल से जो पुरुष मुंह मोडदे ॥११॥

फल इष्ट मिश्र अनिष्ट होते त्रिविध कर्मों के सभी ।
मर कर करे फल-भोग अत्यागी, नहीं त्यागी कभी १२

अर्थ—देहधारी से कर्मों का एक दम त्याग होना असम्भव है, जो कर्म फलों को त्याग देता है, वह निश्चय ही त्यागी है ॥११॥

कर्मों के फल तीन प्रकार के होते हैं-अनिष्ट, इष्ट और मिश्र। ये फल मरने बाद उन्हें मिलते हैं, जो कर्म फल का त्याग नहीं करते। और सन्यासियों को यह फल भोगने नहीं पडते ॥१२॥

भावार्थ—अज्ञानी देहधारी सारे कर्मों को नहीं छोड सकता, किन्तु वह कर्मों के फलों को छोड सकता है। कर्मों के फल त्यागने से, अन्तः-करण शुद्ध होजाता है, पीछे ज्ञान होता है। जबतक अज्ञान का नाश न हो, तबतक काम न छोडने चाहिये। जो अज्ञानी जरूरी काम करता है, किन्तु अपने फल की चाहना छोड देता है, वह काम करता हुआभी त्यागी कहलाता है।

सब कामों को वही त्याग सकता है, जो परब्रह्म तत्व को जान गया है, और शरीर को आत्मा नहीं समझता। मतलब यह निकला, कि अज्ञानी काम करना नहीं छोड सकता, लेकिन कामों के फलको छोड सकता है; परन्तु आत्मज्ञानी (शरीर और आत्माको अलग समझने वाला) सारे कर्मों को छोंड सकता है। वह समझता है कि आत्मा कुछ नहीं करता,

जो कुछ होता है वह शरीर से होता है, इसलिये वह काम करता हुआभी काम नहीं करता।

जो फलों की इच्छा सहित काम करते हैं, उनको अनिष्ट, इष्ट, और मिश्र फल भोगने पड़ते हैं,। पाप-कर्म का फल "अनिष्ट" होता है। पुण्य का फल "इष्ट" होता है। पाप और पुण्य का फल "मिश्र" होता है। जो पाप कर्म करते हैं वे नरक में जाते हैं यानी पशु पंक्षियों की नीच योनि में जन्म लेते हैं। जो पुण्य करते हैं वे स्वर्ग में जाकर देवता होते हैं। जो पाप और पुण्य दोनों करते हैं वे मनुष्य योनियों में जन्म लेते हैं।

इस सब का सारांश यह है, कि इन तीनों प्रकार के फलों को वे भोगते हैं जो अत्यागी हैं यानी जिन्होंने कर्म फलों की चाहना नहीं छोड़ी हैं। तथा जो अज्ञानी हैं, जो कर्म योग के अनुयायी हैं, जो पक्के त्यागी (सन्यासी) नहीं हैं। किन्तु जो सच्चे सन्यासी हैं, जो एक मात्र ज्ञान निष्ठा में लगे हुए हैं, और जो सन्यासियों की सर्वोच्च श्रेणी में हैं, जो परमहंस-परिव्राजक हैं। उन्हें ये तीन प्रकार के फल नहीं भोगने पड़ते।

(मू०) पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

(८)

(भा०प०) हे पार्थ ! कारण सिद्धि के हैं पाँच बतलाये गये ।
वर्णन हुआ है सांख्यग्रन्थों में वहीं जो हैं सर्व ॥१३॥

हैं स्थान कर्त्ता करण, चेष्टायें विविध भी साथ हैं ।
है दैव पञ्चम पांच येही, सिद्धि कारण पार्थ ! हैं ॥१४॥

अर्थ—हे महाबाहो ! सब कर्मों की समाप्ति करने वाले सांख्य शास्त्र में सब प्रकार के कर्मों के जो पांच प्रकार के कारण कहे हैं, उन्हें तू मुझ से सुन ॥१३॥

वे पांच कारण ये हैं (१) अधिष्ठान यानी शरीर (२) कर्त्ता यानी उपाधि सहित चैतन्य (३) कारण यानी मन और पांच इन्द्रियां (४) प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान वायु (५) दैव।

भावार्थ—अधिष्ठान=शरीर, क्योंकि यही इच्छा, द्वेश सुख, दुःख और ज्ञान, अज्ञान का आधार है। (२) कर्त्ता=चैतन्य और जड़के मेलवाला अहङ्कार अथवा स-उपाधि चैतन्य। (३) करण=मन और पांच इन्द्रियों के व्यापार। (४) पांच प्रकार की वायु=जिनसे सांस के आने जाने आदि की क्रियाएँ होती हैं। (५) दैव=जैसे सूर्य्यादि देवता, जिनकी सहायतासे आंख आदि इन्द्रियां अपने-अपने काम करती हैं।

सांख्य=वेदान्त (उपनिषद्) इसे कृतान्त भी कहते हैं। क्योंकि यह सब कर्मों का अन्त कर देता है। दूसरे अध्याय के ४६ वें और चौथे अध्याय के ३३ वें श्लोक उपदेश करते हैं कि जब आत्म ज्ञान का उदय होता है, तब सब कर्मों की समाप्ति हो जाती है; इसी से वेदान्त को, जो आत्मज्ञान देता है "कृतान्त" कहते हैं।

(मू०) शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

[६]

(भा०प०) जो कार्य मन वच देह से अच्छे-बुरे होते सभी ।
सब के यही पूर्वोक्त कारण हैं, सुना जिनको अभी १५

जो एक अपने आपको ही पार्थ ! कर्त्ता मानता ।
उसकी असंस्कृत बुद्धि है वह कुछ नहीं है जानता १६

अर्थ—हे अर्जुन ? मनुष्य शरीर, मन और वाणी से जो भले-बुरे कर्म करता है उनके ये ही (जो ऊपर कहे गये हैं) पांच कारण हैं ॥१५॥

हे अर्जुन ! सब कर्म उपरोक्त पांच कारणों से होते हैं। इस बात के निश्चय होजाने परभी जो मूढ़ अपने शुद्ध आत्मा को कर्मों का कर्त्ता समझता है, वह दुर्बुद्धि नहीं देखता है ॥१६॥

भावार्थ—सब काम उपरोक्त पांच कारणों से होते हैं, किन्तु मूर्ख, मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण उन पांच कारणों के साथ अपने आत्मा को समझता है, और शुद्ध आत्माको काम का करने वाला मानता है । असल में काम उन पाचों से होता है। काम से आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा कभी कुछभी नहीं करता। आत्मा उदासीन और असङ्ग है। जिसने वेदान्त नहीं पढा है, जिसने ब्रह्म ज्ञानी गुरु से ब्रह्म-विद्या का उपदेश नहीं पाया है, जिसने तर्क-शास्त्र नहीं सीखा है, ऐसा वह मूर्ख

ही, आत्माको काम का करने वाला समझता है। ऐसा आदमी मूर्ख है। वह असल मार्ग से भूला हुआ है। ऐसी समझ वाले को बारम्बार जन्मना और मरना पडता है। यद्यपि ऐसा आदमी देखता है, तथापि वह उस आदमी के समान तत्व को नहीं देखता, जो आंखों में तिमिर (धुन्ध) रोग होने से एक चांदकी जगह अनेक चांद देखता है, या उस मनुष्य के समान है जो चलते बादलों में चन्द्रमा को चलता हुआ देखता है, अथवा उसके समान है जो गाडी में बैठा हुआ अपने तईं चलता हुआ समझता है, जब कि उस गाडी को खीचने वाले बैल चलते हैं।

(मु०) यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः ॥१८॥

[१०]

(भा० प०) नहिं लिप्त जिसकी बुद्धि है, जो अहंभाव विमुक्त है।
वह मार भी डाले किसी को पार्थ ! तो भी मुक्त है १७

है ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय कर्म-प्रवृत्ति के कारण सही।
कर्त्ता करण अरु कर्म साधन कर्म के हैं तीनही १८

अर्थ—हे अर्जुन! जिस विद्वान पुरुष के मन में 'मैं कर्त्ता हूं' ऐसा विचार नहीं है, जिसकी बुद्धि कामों में लिप्त नहीं है—यद्यपि वह इन प्राणियों को मारता है तथापि वह नहीं मारता, और उसे बन्धन में भी नहीं फसना होता है ॥१७॥

ज्ञान ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीन कर्म के प्रवर्त्तक हैं। करण कर्म और कर्ता ये तीन कर्म के आश्रय हैं ॥१८॥

भावार्थ—जिसका मन शास्त्र-ज्ञान से शुद्ध होगया है, जिसने गुरु से ब्रह्मविद्या की शिक्षा पाई है, उस के मनमें अहंकार नहीं रहता, यानी "मैं कर्त्ता हूं" ऐसा खयाल वह कभी नहीं करता। वह समझता है, शरीर, अन्तःकरण, इन्द्रिय पञ्च वायु और दैव ही जो मुझमें माया से कल्पना कर लिये गये हैं, सबकर्मों के कारण हैं मैं किसी कर्म का कारण नहीं हूं, मैं शरीर, अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि पांचोंके कामों का साक्षी भूत-देखने वाला-हूं। मैं क्रिया-शक्ति रखने वाला प्राण-रूप उपाधि और ज्ञान-शक्ति रखने वाले अन्तःकरण-रूप उपाधि से अलग हूं। यानी प्राण वायु आदि तथा अन्तःकरण से मेरा कुछभी सम्बन्ध नहीं है। न मेरे अन्तःकरण हैं और न मैं सांस लेता हूं। मैं शुद्ध हूं और सब विकारों से रहित हूं, मेरा जन्म मरण नहीं होता, मैं अविनाशी और नित्य हूं। जिस का अन्तःकरण (बुद्धि) जो आत्मा की उपाधि है, कर्मों में लिप्त नहीं है, वह इस तरह नहीं पछताता। "मैंने यह काम किया है" 'इस से मुझे नरक में जाना होगा'। जिसके विचार ऐसे हैं वह ज्ञानी है, वह ठीक देखता है चाहे वह इन सब प्राणियों को मारे तो भी वह मारने वाला नहीं है। उसपर इस कर्म का असर नहीं होता यानी उसे कर्म के बन्धन में अधर्म का फल भोगना नहीं पड़ता।

ज्ञान=जिससे किसी चीज़ का यथार्थ स्वरूप मालूम हो। वह 'ज्ञान' है। ज्ञेय=ज्ञान द्वारा जो चीज़ जानी जाय, उसे "ज्ञेय" कहते हैं। परिज्ञाता=जो ज्ञान से किसी चीज को जानने वाला है, वह "परिज्ञाता" है। ज्ञान ज्ञेय और परिज्ञाता इन तीनों के मिले बिना कोई काम आरम्भ नहीं

होता, यानी इन तीनों में से एक के न होने पर भी काम आरम्भ नहीं हो सकता। करण–जिस से क्रिया की सिद्धि हो उसे करण कहते हैं। जैसे आंख से देखा जाता है। करण दो भांति के होते हैं। (१) बाह्य करण, जैसे आंख कान आदि। (२) अन्तःकरण, जैसे मन बुद्धि आदि। कर्म–जो काम किया जाय। कर्त्ता–जो काम करे। मै हाथ से रोटी खाता हूं; इस में "मैं" कर्त्ता हूं। "रोटी" कर्म है। हाथ से "करण" है और खाता हूं यह "क्रिया" है। कर्त्ता, कर्म और करण इन तीनों से कर्म का संग्रह होता है।

(मू०) ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

(११)

(भा०प०) हैं ज्ञान कर्त्ता कर्म गुण-अनुसार तीन प्रकार के।
हे पार्थ ? ज्यों के त्यों सुनो मत सांख्य-शास्त्र विचार के १९

सब प्राणियों में एकही अविभक्त अव्यय भाव है।
यह ज्ञात जिस से हो वही है ज्ञान सात्विक भाव है २०

अर्थ–हे अर्जुन ? सांख्य-शास्त्र में सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के भेद से ज्ञान कर्म और कर्त्ता तीन प्रकार के कहे गये हैं। उनको भी तू ठीक ठीक सुन ॥१९॥

जिस ज्ञान से मनुष्य सब अलग-अलग प्राणियों में एकही अभिन्न अविनाशी परमात्मा को देखता है वह सात्त्विक ज्ञान है ॥२०॥

भावार्थ—जब मनुष्य को सात्विक ज्ञान होजाता है, तब वह ब्रह्मा से लेकर चींटी तक में एकही अविनाशी परमात्मा को देखने लगता है। उस समय भिन्न भाव नहीं रहता। वह ऐसा समझने लगता है। कि देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी सब में एक ही अविनाशी परमात्मा है। भिन्न-भिन्न प्रकार की देह होने से भिन्न-भिन्न मालूम होते हैं, वास्तव में सब एक हैं। अलग-अलग शरीर में अलग-अलग आत्मा नहीं हैं।

(मू०) पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

(१६)

(आ०प०) जिससे अनेक विभिन्न भाव विभिन्न भूतों में लखें।
वह ज्ञान राजस है व जिससे भाव कुम लखें लखें ॥
होकर पुरुष आसक्त एक पदार्थ में जिस ज्ञान से।
सब कुछ उसीको समझ करके मोह वश अज्ञान से २१

अर्थ—जिस ज्ञान से सब प्राणियों की देह में रहने वाला एकही आत्मा अलग-अलग दिखाई देता है। उसे राजस ज्ञान कहते हैं ॥२१।

(मू०) यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥२३॥

[१३]

(भा०प०) तत्त्वार्थ को जाने बिना रहता उसी में लीन है।
वह ज्ञान तामस ज्ञान है अति अल्प और मलीन है २२

फल-लोभ द्वेषासक्ति तज जाते किये जो कर्म हैं।
वे नियत कर्म सुकर्म समझो पार्थ? सात्विक कर्म हैं २३

अर्थ—जिस ज्ञान से शरीर आत्मा समझा जाता है अथवा एक प्रतिमा में ईश्वर समझा जाता है वह ज्ञान निर्मूल और तुच्छ है। ऐसे ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं ॥२२॥

जो कर्म नित्य नियम से किया जाता है, जिस कर्म में मनुष्य आसक्त नहीं होता, जो कर्म बिना राग द्वेष के किया जाता है, जो कर्म फल की इच्छा छोड़ कर किया जाता है वह सात्विक कर्म कहलाता है ॥२३॥

(मू०) यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते वहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अनुवन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामस मुच्यते ॥२५॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते॥२६॥

[१४]

(भा०प०) फल लोभ से अभिमान वश करता पुरुष जो कर्म है।
अतिही परिश्रम से हुआ वह कर्म राजस कर्म है ॥२४॥

परिणाम क्या होगा किसी की हानि तो होगी नहीं।
सामर्थ्य करने की इसे है पार्थ! मुझ में या नहीं॥

(१९)

इनका विचार किये बिना जो पार्थ! होता कर्म है।
वह मोह वश आरम्भकृत ही कर्म तामस कर्म है॥२५॥
आसक्तिममता-हीन जिसमें धैर्य है उत्साह है।
सात्विक वही कर्त्ता न जिसको पार्थ! कुछ परवाह है॥२६

अर्थ—जो कर्म किसी प्रकार के फल की इच्छा से अहंकार से और बड़े कष्ट से किया जाता है वह राक्षस कर्म है॥२४॥

जो काम करने से पहले यह नहीं विचारा जाता कि इसका नतीजा क्या होगा, कितना धन नाश होगा, दूसरों को कितनी तकलीफ पहुंचेगी, मेरी सामर्थ्य इसके करने की है या नहीं, इन बातों को विचार किये बिना ही जो कर्म किया जाता है वह तामस कर्म है॥२५॥

जो कर्म में आसक्त नहीं होता, अहंकार नहीं है जो धैर्यवान और उत्साही है, जो कार्य की सिद्धि और असिद्धि में एकसा रहता है; यानी काम बन जाने पर खुश नहीं होता, और बिगड़ जाने पर रंज नहीं करता, वह सात्विक कर्त्ता है॥२६॥

(मू०) रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसा हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्ष शोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

[६१]

(भा० प०) जो लालची अपवित्र हिंसक और विषयासक्त है।
पड़ कर्म फल के लोभ में रहता सदा आसक्त है॥

रहता फंसा सुख दुःख द्वन्द्वों में न द्वन्द्व-विमुक्त है।
कर्त्ता वही है पार्थ ? राजस जो विषय से युक्त है २७

अर्थ—हे अर्जुन ! जो कामों से प्रेम रखता है; जो अपने किये हुए काम के फल पाने की इच्छा रखता है, जो लोभी है, जो दूसरों को तकलीफ पहुंचाने में उत्साही रहता है, जो अपवित्र है, जो हर्ष और शोक के अधीन है, वह राजस कर्त्ता है।२७।

(मू०) अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

[१७]

(भा० प०) जो चित्त का चंचल घमण्डी सभ्यता से हीन है।
पर-हानि करने में सदा जो पार्थ ? रहता लीन है ॥
शठ दीर्घसूत्री आलसी रहता प्रसन्न न जो कभी।
कर्त्ता वही है पार्थ ? तामस सुबुध भी कहते सभी२८

अर्थ—जो कर्म करने के समय कर्म में चित्त नहीं रखता, जो बालकों की सी बुद्धि रखता है, जो किसी के सामने सिर नहीं झुकाता, जो कपट रखता है, जो दुष्टता करता है, जो अपने कर्त्तव्य कर्म नहीं करता, जो हर समय शोक में डूबा रहता है, जो समयपर काम न करके काम को टाला करता है—वह तामस कर्त्ता है।२८।

(मू०) बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ३०

[१८]

(भा०प०) धृति-बुद्धि के भी भेद होते तीन गुण-अनुसार हैं।
भारत! सुनो उनके विषय में जो सुगूढ़ विचार हैं २९

भय अभय कार्याकार्य बन्धन मोक्षको जो जानती।
वह बुद्धि सात्विक है प्रवृति निवृत्ति को जो जानती ३०

अर्थ—हे अर्जुन! गुणों के अनुसार बुद्धि और धृति (धैर्य) भी तीन-तीन तरह की होती है, उन्हें मैं अच्छी तरह से अलग-अलग कहता हूं सुन ॥२९।

जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति कार्य और अकार्य भय और अभय बन्ध तथा मोक्ष को जानती है वह सात्विकी बुद्धि है ॥३०॥

भावार्थ—जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति यानी कर्म मार्ग और सन्यास मार्ग को जानती है, जो करने योग्य और न करने योग्य कर्मों को जानती है, जो भय और निर्भयता के 'कारण' जानती है, जो वन्धन और मोक्ष के कारण जानती है वह सात्विकी बुद्धि है।

(मू०) यथाधर्ममधर्मं च कार्यंचाकार्य मेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेना व्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी ३३

[१९]

(आ०प०) जिससे न धर्माधर्म कार्य्याकार्य का ही ज्ञान हो ।
वह बुद्धि राजस है न जिससे कर्म की पहचान हो ३१
जो बुद्धि पार्थ ! अधर्म को सद्धर्म लेती मान है ।
हर बात में विपरीत मत दे उलट देती ज्ञान है ॥

[२०]

तम से हुई जो व्याप्त भ्रम उत्पन्न करती पार्थ ! है ।
वह तामसी है बुद्धि बतलाती न मार्ग यथार्थ है ॥३२॥
जिससे करें मन प्राण इन्द्रिय कर्म सुस्थिर रूप से ।
धृति है वही सात्विक रहे जो नित्य अविच्छल रूप से ३३

अर्थ—जिस बुद्धि से धर्म, अधर्म और कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता वह राजसी बुद्धि है ॥३१॥

जो बुद्धि अज्ञान रूपी अन्धकार से ढकी हुई है, जो धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझती है तथा सारी बातों को उलटी समझती है-वह तामसी बुद्धि है ॥३२॥

जो धृति योग से व्याप्त है, जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएँ रुकती हैं। हे अर्जुन ! वह सात्विकी धृति है ॥३३॥

(मू०) यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ३४
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

[२१]

(भा०प०) धृति राजसी है सिद्ध जो करती सहज पुरुषार्थ है।
धन धर्म काम फलाभिलाषी पुरुष पाता पार्थ ! है ३४

धृति तामसी वह है न जिससे पुरुष दुर्मति छोड़ता।
जिससे पुरुष भय शोक निद्रा मद विषाद न छोड़ता ३५

अर्थ—वह धृति जिससे मनुष्य, धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में लगता है और समय पर प्रत्येक का फल चाहता है, वह धृति हे पार्थ ! राजसी है ३४

और हे अर्जुन ! जिस धृति से मूर्ख लोग नींद भय शोक विषाद और मद [मस्ती] को नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी है ॥३५॥

भावार्थ—मूर्ख आदमी इन्द्रियों के विषय को खूब पसन्द करता है और कामातुरता को नहीं त्यागता है। वह समझता है नींद भय और कर्त्तव्य कर्म हैं यानी वह उठने के समय सोता रहता है। और काम के समय भय शोक और मद में डूबा रहता है।

(मू०) सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

[२२]

(भा०प०) सुख भी त्रिविध हैं भरत-श्रेष्ठ सुनो उन्हें भी ध्यान से।
दुख दूर होजाते सभी हैं पार्थ ! जिसके ज्ञान से, ३६

जो आदि में विषसा, सुधा-सा अन्त में जो हो सही।
जो आत्मबुद्धि-प्रसाद से हो प्राप्त सुख सात्त्विक वही ३७

अर्थ—हे अर्जुन? अब मैं तीन भांति के सुखों का वर्णन करता हूं। उस सुख का अभ्यास करने से आनन्द होता है और दुःखों का अन्त हो जाता है ॥३६॥

जो सुख पहले विषसा मालूम होता है लेकिन परिणाम में अमृत के समान सुखदायी होता है, वह आत्म बुद्धि की शुद्धता से पैदा हुआ सुख सात्विक सुख होता है ॥३७॥

भावार्थ—उस सुख में पहले-पहल बडा दुःख होता है, यानी उस सुख के प्राप्त करने के पहले ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि की प्राप्ति में बडी-बडी तकलीफें उठानी पडती हैं। अन्त में ज्ञान के उदय होने तथा बाह्य पदार्थों में उदासीनता होने से अमृत समान सुख होता है; क्योंकि वह बुद्धि या अन्तःकरण की शुद्धता अथवा पूर्ण आत्मज्ञान से होता है।

(मू०) विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

[२३]

(भा०प०) सुख लाभ जो विषयेन्द्रियों से हो वही राजस सही।
जो आदि में होता सुधासा अन्त में विष तुल्य ही ॥३८॥

आद्यन्त जो सुख लोभ दे रहता फंसाये मोह में।
सुख है वही तामस फंसाये जो रहे नित द्रोह में ॥३९॥

अर्थ—हे अर्जुन ? जो सुख इन्द्रियों और विषयों के मेलसे होता है, वह पहले तो अमृत के समान मालूम होता है, लेकिन अन्त में वह विष के समान [दुखदाई] होता है, ऐसे सुख को राजसी सुख कहते हैं ॥३८॥

और हे अर्जुन ? वह सुख जो पहले और अन्त में आत्मा को मोह में फंसाता है, नींद, आलस्य और प्रमाद से पैदा होताहै उसे तामसी सुख कहते हैं ॥३९॥

भावार्थ—विषय भोग से पहले तो बड़ा आनन्द आता हैं, किन्तु बल, शक्ति, रूपरङ्ग, बुद्धि, विवेक, धन और धैर्य सब का ह्रास होताहै, इस के सिवाय उस से पाप लगता है, और वह नरक में लेजाता है।

(मू०) न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

[२४]

(भा०प०) आकाश पृथ्वी बीच या सुर लोक में कोई कहीं।
हो प्रकृति के इन त्रयगुणों से मुक्त यह सम्भव नहीं ।४०।

हे पार्थ ? ब्राह्मण वैश्य क्षत्रिय शूद्र के जो कर्म हैं।
वे प्रकृतिजन्य गुणानुसार विभक्त सारे कर्म हैं ॥४१॥

अर्थ—हे अर्जुन ! पृथ्वी या स्वर्ग में कोई मनुष्य या देवता ऐसा नहीं है, जो प्रकृति से पैदा हुए सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से बचा हो ॥४०॥

हे परन्तप ! प्रकृति से पैदा हुए सत्व, रज, तम इन गुणों के कारण ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्त्तव्य कर्म अलग-अलग ठहराये गये हैं ॥४१॥

(मू०) शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जव मेव च ।
ज्ञान विज्ञान मास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्य पलायनम् ।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

[२५]

(भा०प०) शम दम सरलता क्षान्ति तप विज्ञान आस्तिकता तथा।
है ज्ञान शुचिता ब्रह्म कर्म स्वभावजन्य सुसर्वथा ४२

धृति तेज शौर्य सुदक्षता रण से न हटना धर्म है ।
करना सुशासन दान देना पार्थ ! क्षत्रिय कर्म है ४३

अर्थ—अन्तःकरण का रोकना, इन्द्रियों का वश करना, शारीरिक तपस्या अन्तःकरण की शुद्धता, क्षमा, सिधाई, शास्त्रज्ञान, अनुभव ज्ञान, और आस्तिकता, ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४२॥

शूरता, साहस, धीरज, फुरती, युद्ध से न भागना, उदारता, प्रभुता ये क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं ॥४३॥

(मू०) कृषिगौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्व कर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

[२६]

(भा०प०) वाणिज्य गोरक्षा तथा कृषि वैश्य कर्म स्वभाव से ।
करना धनञ्जय ! शुश्रूषा है शूद्र कर्म स्वभाव से ४४
रहकर स्वकर्मों में निरत नर प्राप्त करते सिद्धि को ।
भारत ! सुनो कैसे सुकर्म निरत पहुंचते सिद्धि को ४५

अर्थ—खेती करना, गोरक्षा (मवेशी पालना) और व्योपार करना ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म है। शूद्रों का स्वाभाविक कर्म ब्राह्मण-वैश्य और क्षत्रिय इन तीनों की सेवा करना है ॥४४॥

जो मनुष्य अपने कर्म में तत्पर रहता है वह सिद्धि पाता है। अपने धर्म कर्म में तत्पर रहने वाला कैसे सिद्धि पाता है सुन ॥४५॥

भावार्थ—अपने कर्म में तत्पर रहने वाले को अन्तःकरण शुद्ध होने पर मोक्ष मिलती है। केवल कर्म करने से मोक्ष मिल जायगी ऐसा कदापि न समझना चाहिये। पहला काम अन्तःकरण की शुद्धि है, वह कर्म करने से होती है। उस के बाद ज्ञाननिष्ठ होकर मनुष्य परमानन्द स्वरूप आत्मा को पाता है। असल में तो कर्म बन्धन का कारण है; पर उसी से चित्त की शुद्धि होती है। इसलिये कर्म को मोक्ष के कारणों में से एक माना है। मतलब यह है कि जबतक चित्त शुद्ध न हो जाय तबतक मनुष्यको शास्त्रानुसार अपने-अपने कर्म में तत्पर रहकर कर्म करना चाहिये।

(मू०) यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥४७॥

(२८)

(भा०२०) यदि सहज कर्म सदोष हो तो भी उसे छोड़े नहीं।
ऐसा नहीं है कर्म कोई दोष कुछ जिसमें नहीं ॥४८॥

निस्पृह जितात्मा जो नहीं रहता कहीं आसक्त है।
संन्यास द्वारा सिद्धि वह नैष्कर्म करता प्राप्त है ॥४९॥

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र ? अपने स्वाभाविक कर्म में कुछ दोष भी हो तो भी उसे न छोड़ना चाहिये, जिस तरह आगमें धुआँ है, उसी तरह सब कर्मों में दोष है ॥४८॥

जिसकी बुद्धि किसी में आसक्त नहीं है जिसने अपने अन्तःकरण को जीत लिया है, जिसकी इच्छा किनारा कर गई है, ऐसा मनुष्य संन्यास से नैष्कर्म सिद्धि को पाता है ॥४९॥

भावार्थ—संसार में कोई कर्म अच्छा या बुरा ऐसा नहीं है जिस में कुछ दोष नहो, इस लिये जन्म के साथ जो कर्म पैदा हुआ हो उसेही करना चाहिये। अर्जुन ! तू क्षत्रिय कुल में पैदा हुआ है, तेरा कर्म युद्ध करना है, तू उस में पाप समझता है, और पराये धर्म को अच्छा समझता है, लेकिन तू भली भांति समझले कि कोई धर्म भी एक दम दोष रहित नहीं है। अग्नि भी धुएँ के कारण से दोप सहित है। लेकिन उसके दोष धुएँ की ओर खयाल न करके उसके गुण तेज से सब संसार मतलब रखता है। इसीतरह तूभी अपने कर्म के दोष को छोड़कर चित्त के निर्मल होनेके गुण से मतलब रख।

यदि कोई अधर्मी अपना धर्म त्याग कर, अपना स्वाभाविक कर्म छोड़कर, पर धर्म को अङ्गीकार करले तो वह दोष रहित नहीं होसकता दूसरे का धर्म भयावह है, इसलिये दूसरे का धर्म कभी भी अङ्गीकार न

करना चाहिये। कोई भी मनुष्य बिना आत्मज्ञान हुए कर्मों को एक दम नहीं छोड़ सकता। अतः मनुष्य को कर्म नहीं छोडने चाहिये। क्योंकि कर्म योग में सिद्धि प्राप्त कर लेने बाद मोक्ष की राह मिलती है।

जिसके अन्तः करण में पुत्र, स्त्री, धन, दौलत आदि की ममता नहीं रही है, जिसने अपने अन्तः करण को सब ओर से हटा कर वशीभूत करलिया है, जिसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं रही है, यहां तक कि शरीर कायम रखने वाले खाने पीने के पदार्थों में भी जिसकी इच्छा नहीं है, जो शरीर और जीवन की भी इच्छा नहीं रखता ऐसा शुद्ध अन्तः करण वाला पुरुष आत्मा के जानलेने पर संन्यास से नैष्कर्म्य सिद्धि कर्मों से एक दम छुटकारा पाजाता है। निष्क्रिय ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने से सब कर्म मनुष्य का पीछा छोड़देते हैं। इस अवस्था को एकदम कामों से छुटकारा पाने की अवस्था कहते हैं। इसी को सिद्धि कहते हैं।

(मू०) सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

(भा०प०) वह सिद्धि प्राप्त मनुष्य कैसे ब्रह्म में मिलता सुनो।
वह परमनिष्ठा ज्ञान की संक्षेप में मुझ से सुनो ॥५०॥

कर आत्म संयम धैर्य से शुचि बुद्धि से संयुक्त हो।
शब्दादि विषयों को हटाकर रागद्वेष विमुक्त हो ॥५१॥

अर्थ—हे अर्जुन ? इस सिद्धि को पाकर मनुष्य किसतरह ब्रह्म के पास पहुंचता है, उसे ईश्वरीय ज्ञान की परा निष्ठा तू मुझ से संक्षेप से सुन ॥५०॥

जिसकी बुद्धि सात्विकी है, जिसने धीरज से अपने मन को वश में करलिया है, जिसने शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को छोड़दिया है, और जिसने राग द्वेष दूर करदिये हैं ॥५१॥

भावार्थ—सब कर्मों को अपने वर्णानुसार धर्म के अनुसार पालन करके तथा अपने कर्मों के फल की इच्छा त्याग कर मनुष्य नैष्कर्म्य सिद्धि पाता है। नैष्कर्म्य सिद्धि पाया हुआ मनुष्य ब्रह्म से कैसे साक्षात् कार करता है या मिलताहै। उसे तू मुझ से संक्षेपमें सुन। यही ज्ञान सर्व श्रेष्ठ है। इसी से इसे ईश्वरीय ज्ञान की परा निष्ठा कहा है। क्यों कि इस ज्ञानसे अपर और ज्ञान नहीं है। इस से साक्षात् मोक्ष मिलती है।

आत्म ज्ञान की निष्ठा परम सिद्ध है। आत्म ज्ञान की निष्ठा और ब्रह्म ज्ञान की निष्ठा एकही है। इन में कुछ भी भेद नहीं है। ब्रह्म ज्ञान और आत्म ज्ञान एकही बात है। इस विषय को नीचे प्रश्नोत्तर रूप में पूछकर और भी समझा देते हैं।

प्र०—किसकी निष्ठा ? उ०—ब्रह्म ज्ञान की निष्ठा। प्र०—ब्रह्म ज्ञान की निष्ठा कैसी है ? उ०—जैसा आत्मा है। प्र०—आत्मा कैसा है ? उ०—आत्मा न कभी उत्पन्न होता है, और न मरता है। उसी प्रकार ऐसा भी कभी नहीं होता कि वह पहले न हो और बाद को हो, या पहले हो और बाद कोनहो। उसका जन्म नहीं होता वह सदा रहता है।

उस में कभी नहीं हुआ करती अधिकता भी नहीं होती। शरीर काट डालने परभी वह नहीं कटता। ज्ञान निष्ठा किसतरह प्राप्त होती है सुनो (अध्याय दूसरा श्लोक २० वां)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

जिसने धीरज से अपने मनको वशमें करलिया है, राग द्वेष से पृथक है, सात्विकी बुद्धि है, अन्तःकरण शुद्ध करलिया है, सब विकारों को तृणवत् त्यागदिया है, यानी इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि छोड़ दिये है। तथा:—

(मू०) विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाकाय मानसः।
ध्यानयोगपरोनित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

[२०]

(भा०प० एकान्त सेवी हो मिताहारी विरक्त हुआ सदा।
तन मन तथा वाणी स्ववशकर ध्यान में रह सर्वदा ५२

बल दर्प कामाशक्ति क्रोध तथा अहंकृति-हीन हो।
नर शान्त ममता-रहित रहता ब्रह्म में ही लीन हो ५३

अर्थ—जो एकान्त में रहता है, जो थोड़ा भोजन करता है, जिसने वाणी काया, और मन को वश में करलिया है, जिसने ध्यान-योग के अभ्यास से चित्तको स्थिर कर लिया है, और जिसे वैराग्य-होगया है ॥५२॥

जिसने अहंकार, पराक्रम, गर्व, इच्छा शत्रुता और विषय-भोग के सामानों को छोड दिया है। जिसने "मेरा" यह खयाल छोड दिया है, जो सब चिन्ताओं से पीछा छुटाकर शान्त चित्त होगया है, वह ब्रह्म भाव को प्राप्त होने योग्य है ॥५३॥

भावार्थ—जिस की बुद्धि में सन्देह और भ्रम नहीं है। जिसने शरीर और मन सहित पांचों इन्द्रियां अपने वशमें करली हैं। जिसने एकमात्र शरीर कायम रखने लायक सामान को छोड कर सवतरह के विषय भोग के सामान त्याग दिये हैं, जिसने किसी भी चीज से प्रेम और द्वेष नहीं रक्खा है। जिसने जङ्गल और नदियों के किनारे अथवा पर्वतों की गुफाओं को अपने रहने का स्थान वना लिया है। जो नींद आलस्य आदि बुराइयों से बचने को थोडासा खाता है, जिसने अपनी वाणी अपना शरीर और मन को अपने वश करलिया है। जो इस भांति सारी इन्द्रियों को अपने आधीन करके यानी उन्हें शान्त करके हरघडी मनको आत्मा में लगा कर आत्मध्यान का अभ्यास करता रहता है जिसके मन में दीखने वाली और न दीखने वाली दोनों प्रकार की चीजों की इच्छा नहीं रही है। जिसने शरीर को आत्मा समझना छोडदिया है, जिसने दूसरों के सताने की इच्छा और रागयुक्त बल छोड दिया है। जिसने हठ, इच्छा और वैर त्याग दिया है, जिसने अपने धर्म कार्यों में झंझट पडने के खयाल से शरीर के लिये आवश्यक सामानों को त्याग दिया है, यानी जो परमहंस परिव्राजक सर्वोच्च सन्यासी होगया है, जिसने अपने शरीर की चिन्ता नहीं रक्खी है, ऐसा ज्ञानी ब्रह्म होने के योग्य है। जो इस तरह से—

(मू०) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

[३१]

(आ०प०) वह ब्रह्मभूत प्रसन्न नर करता न चिन्ता चाह है।
सम हो सभी में भक्ति करता प्राप्त वह नरनाह? है ५४

"मैं कौन कितना हूं" इसे वह जान जाता भक्ति से।
फिर प्राप्त करता है मुझे उस भक्ति रूपी शक्ति से ५५

अर्थ—जो ब्रह्म में निश्चल चित्त रहता है, जो प्रसन्न रहता है, जो न तो किसी बात का सोच करता है, और न कुछ चाहता है, जो सब प्राणियों को एक समान समझता है वह मेरी पर भक्ति-ज्ञान की परा निष्ठा को पाता है ५४

भक्ति-ज्ञान की निष्ठा से वह मेरे यथार्थ स्वरूप को जानता है, मैं क्या हूं और कौन हूं, इसके बाद वह मेरे यथार्थ स्वरूप को जानकर शीघ्र ही मुझ में मिलजाता है ।५५।

भावार्थ—जो ब्रह्म-भाव को प्राप्त होजाता है, जिस का चित्त शान्त रहता है, वह किसी काम के बिगड़ने अथवा किसी चीज के नष्ट होने या खोजाने से रञ्ज नहीं करता और न वह किसी भी चीज की चाहना रखता है। वह सब प्राणियों के दुःख सुखको अपने सुख दुःख के समान समझता है। ऐसा ज्ञान निष्ठ मुझ परमात्मा की सर्वोच्च भक्ति ज्ञान की परानिष्ठा-पाता है। (ध्यान रखना चाहिये कि यहां किसी मूर्त्ति की भक्ति करने से मतलब नहीं है।) इसके बाद—

भक्ति से, ज्ञान निष्ठा से वह जान जाता है, कि उपाधि के कारण ही मैं नाना प्रकार के रूपों में दिखाई देता हूं। वह जान जाता है कि मैं

कौन हूँ, वह जान जाता है, कि उपाधि के कारण से जो भेद होते हैं, मैं उनसे रहित हूं, मैं परम पुरुष हूं, आकाश के समान हूं। वह जान जाता है, कि मैं अद्वितीय हूं, मैं एक चैतन्य हूं, पवित्र अजन्मा, न गलने-सड़ने वाला, निर्भय और मृत्यु रहित हूं। इस भांति मेरा यथार्थ रूप जान जाने पर (ज्ञान प्राप्त करके) वह शीघ्र ही मुझ में प्रवेश कर जाता है।

ध्यान रखना चाहिये कि आत्मा को जानकर, उस में प्रवेश करना, दो अलग-अलग काम नहीं हैं—तब प्रवेश करना क्या है? वह स्वयं आत्मा को जानना है, क्योंकि आत्मा के जानने का फल आत्मा के सिवाय और नहीं है। आत्मा ही ईश्वर है। तेरहवें अध्याय के दूसरे श्लोक में भगवान ने कहा है, कि "तू मुझे क्षेत्रज्ञ भी जान" सारांश यह है कि इस ज्ञान की परा निष्ठा या परा भक्ति से ईश्वर और क्षेत्रज्ञ (ईश्वर और जीव) के दर्म्यान का भेद-भाव एक दम उड़ जाता है।

(मू०) सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

चेतसा सर्व कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धि योग मुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥५७॥

[३२]

(भा०प०) करता हुआ भी कर्म सब, ले शरण मेरी सर्वदा।
मेरी कृपा से अमर अव्यय प्राप्त करता पद सदा ५६

कर कर्म सब अर्पण मुझे, मन से समझ मुझ को सगा।
कर बुद्धि का आश्रय सदा रक्खो मुझी में चित लगा ५७

अर्थ—हे अर्जुन ! जो मेरी शरण आकर हमेशा सारे कामों को करता हुआ रहता है वह मेरी कृपा से अनादि, अविनाशी, पद को पालेता है ॥५६॥

इसलिये—हे अर्जुन ! तू मन से सारे कामों को मेरे अर्पण करके मुझे परमात्मा समझकर निश्चल बुद्धि से मनको एकाग्र करके तू सदा मुझ में चित्त लगाये रह ॥५७॥

(मू०) मच्चित्तः सर्वं दुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

[२३]

(भा०प०) मेरी कृपा से दुःख होंगे दूर सब यह मान लो ।
ऐसा करोगे यदि नहीं तो नष्ट होगे जान लो ॥५८॥

अभिमान वश यदि ठान लोगे 'मैं लडूंगा ही नहीं' ।
तो भी प्रकृति तुमको लड़ा देगी न भग सकते कहीं ५९

अर्थ—हे अर्जुन ? मुझ में अपना चित्त लगाने से, मेरी कृपा से तू संसार सागर के दुःखों से पार हो जायगा । लेकिन अगर अहंकार के मारे मेरी बात सुनेगा तो तू नष्ट हो जायगा ॥५८॥

अगर अहंकार के कारण तू यह समझता है "मैं युद्ध न करूंगा।" तेरा यह इरादा वृथा है, रजोगुणी प्रकृति तुझे लडने को मजबूर करेगी ॥५९॥

भावार्थ—तू क्षत्रिय है । क्षत्रियों में रजोगुण प्रधान होता है । अगर तू न मानेगा तो रजोगुणी-प्रकृति तुझे लडने पर आमादा करदेगी ।

(मू०) स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत् ॥६०॥

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

[३४]

(भा०प०) कौन्तेय ? कर्मस्वभाव से है बद्ध, मोहाधीन हो ।
करना न चाहोगे करोगे वह प्रकृति आधीन हो ॥६०॥

सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर सदा रहता सही ।
कर पार्थ ? यन्त्रारूढ़ माया से नचाता है वही ॥६१॥

अर्थ—हे अर्जुन ? अपने स्वभाव जन्य क्षत्रिय धर्म में बंधा हुआ है । जिस कामको अज्ञान से तू नहीं करना चाहता, वह तुझे करनाही पड़ेगा । क्योंकि—

ईश्वर सबके हृदय में वास करता है । वह संसार चक्र पर बैठा हुआ, हे अर्जुन ? अपनी माया से, सब प्राणियों को घुमाया करता है ॥६१॥

भावार्थ—जिसतरह बाजीगर पीछे बैठाहुआ कठपुतलियों कोतार खींच कर नचाया करता है । उसी तरह संसार रूपी मैशीन पर चढ़े हुए जीवों को परमात्मा अपनी माया (अविद्या) रूपी तार से घुमाया करता है । जीव प्रकृति के आधीन है और प्रकृति ईश्वर के अधीन है ।

(मू०) तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

[३५]

(भा०प०) हे पार्थ ? उसकी शरण में सब भाव से जाओ तभी ।
स्थान होगा शान्ति शाश्वत जिसकी कृपासे प्राप्त भी ६२

मैंने बताया गुप्तसे भी गुप्त ज्ञान तुम्हें सही ।
उस पर विचारो फिर करो जो पार्थ ! इच्छा हो वही ६३

अर्थ—हे अर्जुन ! सब तरह से तू उस परमात्मा की शरण में जा उसकी कृपा से तुझे परम शान्ति और अविनाशी स्थान यानी विश्राम मिलेगा ।६२।

मैंने तुझसे यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान कहा है, तू इस पर खूब विचार करले हे अर्जुन ? फिर तेरी जो इच्छा हो सो कर ॥६३॥

(मू०) सर्व गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वच ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामे वैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

[३६]

(भा०प०) फिर यह सुनो जो गुह्य सब से एक उत्तम बात है ।
प्रिय भक्त हो कहता इसी से मैं सुनो हित-बात है ६४

मुझ में लगाओ मन, यजन मेरा प्रणाम करो मुझे ।
मुझ में मिलोगे सत्य ही हो प्रिय मुझे भज लो मुझे ६५

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरे प्रिय वचन को जो सब से अधिक गुप्त है, फिर सुन, तू मेरा परम मित्र है, इसलिये तेरी भलाई को कहता हूं ॥६४॥

तू मुझ में चित्त लगा, मेरी भक्ति कर, मेरी ही उपासना कर मेरा ही सम्मान कर, ऐसा करने से तू मेरे पास पहुंच जायगा। क्योंकि तू मेरा प्यारा है इसलिये यह बात मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं ॥६५॥

भावार्थ—हे अर्जुन ! अगर तू सारी गीता को न समझ सके तो दोही श्लोकों में सारी गीता का सार-तत्व तुझ से कहता हूं, यह गुप्त विषय मैं तुझे तेरे डर या तुझ से पारतोषिक पाने के अभिप्राय से नहीं कहता, बल्कि इसलिये कहता हूं. कि तू मेरा प्यारा और सच्चा मित्र है। वह क्या है ? भगवान कहते हैं—

तू मन लगाकर मेरी भक्ति, मेरी उपासना, मेरा ही सन्मान कर तू मेरे ही पास पहुंच जायगा। इस मन्त्र में भगवान ने कर्म-निष्ठा का सार कहा है। क्योंकि कर्म-निष्ठा ज्ञान-निष्ठा का साधन है। ईश्वर की भक्ति करना और एक मात्र उसकी शरण जाना, कर्म-योग की सिद्धि का गुप्त-तम भेद है। आगे भगवान कर्म योग से पैदा होने वाले फल—शुद्ध ज्ञान को बतलाते हैं।

अथवा इसकी व्याख्या इसप्रकार समजिये कि "मुझ (पूर्ण परमात्मा) का चिन्तन कर, मेरी आराधना कर जोकुछ करे सो मेरे लिये कर, और मुझे प्रणामकर, ऐसा करने से तू अवश्य मुझे पावेगा (अर्थात् अपने अन्दर तथा बाहर सब जगह मुझ परमात्मा को ही देखने लगेगा। मैं तुझे सत्य भाव से विश्वास दिलाताहूं क्योंकि तू मुझे प्यारा है।) इस के पूर्व के श्लोक में जो इस प्रकार है 'सर्वगुह्य तमंभूयः शृणु मे परमंवच, (अर्थात मेरे बहु मूल्य उपदेश को सुन जिसके अन्दर सब से गूढ़ और पवित्र सिद्धान्त

(मू०) स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत् ॥६०॥

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

[२४]

(भा०प०) कौन्तेय ? कर्मस्वभाव से है बद्ध, मोहाधीन हो ।
करनो न चाहोगे करोगे वह प्रकृति आधीन हो ॥६०॥

सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर सदा रहता सही ।
कर पार्थ ? यन्त्रारूढ माया से नचाता है वही ॥६१॥

अर्थ—हे अर्जुन ? अपने स्वभाव जन्य क्षत्रिय धर्म में बंधा हुआ है । जिस कामको अज्ञान से तू नहीं करना चाहता, वह तुझे करनाही पड़ेगा । क्योंकि—

ईश्वर सबके हृदय में वास करता है । वह संसार चक्र पर बैठा हुआ, हे अर्जुन ? अपनी माया से, सब प्राणीयों को घुमाया करता है ॥६१॥

भावार्थ—जिसतरह बाजीगर पीछे बैठाहुआ कठपुतलियों कोतार खींच कर नचाया करता है । उसी तरह संसार रूपी मैशीन पर चढ़े हुए जीवों को परमात्मा अपनी माया (अविद्या) रूपी तार से घुमाया करता है । जीव प्रकृति के आधीन है और प्रकृति ईश्वर के अधीन है ।

(मू०) तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

अध्यात्मिक स्थिति को प्राप्तकर चुके हैं वे सर्वदा ध्यानावस्थित रहकर, उसीका चिन्तन करसकते हैं, और इस प्रकार अपने अन्दर और दूसरे सबलोगों के अन्दर उसीका अनुभवकर सकते है।

गीता के पहिले छः अध्यायों में जिस कर्मयोग(कर्मके द्वारा आत्मानुभव) का विवेचन कियागया है उस का भाव संक्षेप में "मद्याजी" शब्द के द्वारा घोषित कियागया है। इसी प्रकार अगले छः अध्यायों में निरूपित भक्ति योग (भक्ति के द्वारा परमात्मप्राप्ति) के सारे विस्तार का "मद्भक्तः" इसपद के अन्दर समावेश करदियागया है। और "मन्मनाः" इसपद के द्वाराज्ञान योग (ध्यानके द्वारा आत्म साक्षात्कार) का सङ्केत कियागया है। जिसका गीता के इन्ही अन्तिम ६ अध्यायों में विस्तार पूर्वक वर्णन है। मनुष्य शरीर के अन्दर तथा सारे ब्रह्माण्ड में परमात्माकी अभिव्यक्ति के जोतीन प्रकार हैं उन का इस श्लोक में ज्ञान, भक्ति और कर्म इस अनुलोम क्रमसे निरूपण कियागया है। इस प्रकार जिन्हें अध्यात्मिक ज्ञान होगया है, जिन का हृदय परमात्मा के अन्दर रमगया है और जो सच्चे दिल से काम करने वाले हैं।

उन तीनों को ही जीवन में शान्ति लाभ करने के लिये इस संसार रूपी 'रङ्गस्थल' में अपना अपना पार्ट करने का आदेश इस श्लोक में दिया गया है। शरणागति अथवा आत्मसमर्पण का मार्ग जो उपासना का सबसे व्यापक रूप है और जिसका सङ्केत 'मां नमस्कुरु' इस श्लोक पाद के द्वारा किया गया है सभी श्रेणी के लोगों के लिये है। "तमेव शरणं गच्छ" (उसी का आश्रय पकड़ ले) और आगे के इस श्लोक पाद में "मामेकं शरणं व्रज" (मुझ परमात्मा का ही अनुसरण कर) इन वाक्यों में भी इसी मार्ग का उपदेश किया गया है। वैसे तो गीता के प्रत्येक श्लोक मन्त्र हैं परन्तु

दिनमें जितनी बार इस प्रसिद्ध श्लोक "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" की आवृत्ति की जायगी उतनी ही बार सारी गीता का परायण होजायगा। क्योंकि इसके अन्दर गीता एवं उपनिषदों का सार गागर में सागर की तरह भर दिया गया है। इसके अतिरिक्त जिस आत्म समर्पण का महान उपदेश भगवान ने कृपा पूर्वक सब काल के लिये और हर आश्रम के लिये दिया है, उसका यह श्लोक स्मरण दिलाता है। आध्यात्मिक साधन का यह मार्ग इतना अधिक व्यापक है। कि यह सब को मान्य हो सकता है, चाहे वे स्त्री हों पुरुष हों और किसी धर्म या वर्ग के अन्तरगत हों। यह श्लोक हमें यह भी बतलाता है कि कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीनों का परमात्मा के लिये निरन्तर अभ्यास करते रहने से अर्थात् जो कुछभी हम करें, अनुभव करें और सोचें वह सब उसी के लिये करते रहने से एवं उस परमवल्लभ परमात्मा के वात्सल्य पूर्ण अङ्क में ज्ञान पूर्वक अपने को डाल देने से हमें उस गुह्यतम योग की प्राप्ति हो सकती है, जिस में जीवात्मा का ब्रह्म के साथ नित्य सम्बन्ध होजाता है।

(मू०) सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ६६

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

(भा०प०) लो शरण मेरी एक धर्मों को सभी न्यारे करो।
मैं मुक्त पापों से करूँगा शोच मत कुछ भी करो ६६

सुनना नहीं जो चाहता तप भक्ति जो करता नहीं ।
निन्दा-निरत रहता उसे यह बात बतलाना नहीं ६७

अर्थ—सब धर्मों को त्याग कर, एक मात्र मेरी शरण में आजा। मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूंगा। तू रंज मत कर ॥६६॥

यह ज्ञान जो मैंने तुझे बताया है, ऐसे आदमी से कहने योग्य नहीं है; जो तप रहित है, जो मेरा भक्त नहीं है, जो मेरी सेवा नहीं करता और जो मेरी बुराई करता है ॥६७॥

भावार्थ—शरीर, इन्द्रिय, और अन्तःकरण अथवा सत्व, रज, तम से बनी हुई प्रकृति के सब धर्मों को छोड कर (क्योंकि यह सब धर्म प्रकृति के हैं, भगवान १३ वे अध्याय के १९ वें श्लोक में कह चुके हैं कि शरीर और इन्द्रिय आदि सब विकार तथा सुख दुःख मोह आदि गुण-धर्म प्रकृति से पैदा हुए जानों) और भगवान ने तीसरे अध्याय के ३५ वें श्लोक में पराया धर्म ग्रहण कर बुरा बतलाया है। इसलिये अर्जुन से भगवान कहते हैं कि यह सब धर्म प्रकृति के हैं इन्हें छोडकर अर्थात नैष्कर्म्य होकर मेरी शरण आजा। मन में यह विश्वास रख, कि मैं स्वयं ईश्वर हूं, मन में समझ कि मुझ ईश्वर के सिवाय कुछभी नहीं है। जब तेरा यह विश्वास दृढ होजायगा तो मैं तुझे तेरे आत्मा के रूप में तमाम पापों तथा धर्म और अधर्म के बन्धन से छुडा दूंगा। ऐसी ही बात १० वें अध्याय के ११ वें श्लोक में कही है-मैं उन के आत्मा में ठहरा हुआ प्रकाशवान ज्ञान रूपी दीपक से उनके अहंकार रूपी अज्ञान से पैदा हुए अन्धकार को नाश कर देता हूं।

और जो तप रहित है मेरी भक्ति नहीं करता जो मेरी निन्दा करता है मेरा सन्मान नहीं करता ऐसे आदमी को यह मेरा गुप्त रहस्य कभी न

बताना चाहिये। परन्तु जिस में कोई दोष न हो और मेरी भक्ति में जिस का विश्वास हो सदाचारी हो ऐसे ही आदमी को प्रेम सहित उत्साह पूर्वक कहना चाहिये।

(मू०) य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

[३८]

(भा०प०) इस ज्ञान का उपदेश भक्तों को करेगा जो वही।
पा भक्ति मेरी परम मुझमें आ मिलेगा सत्यही ६८

उससे अधिक कोई मुझे है चाहता सम्भव नहीं।
उससे अधिक प्रिय विश्व में कोई मुझे होगा नहीं ६९

अर्थ—जो परम भक्ति से इस अत्यन्त गुप्त ज्ञान को मेरे भक्तों को सुनावेगा वह निस्सन्देह मेरे पास आवेगा ॥६८॥

जो गीता का उपदेश करता है उससे अधिक मेरा प्यारा काम करने वाला मनुष्यों में नहीं है, उस से अधिक प्रिय, पृथ्वी पर मेरा कोई न होगा ॥६९॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस अत्यन्त गुप्त ज्ञान को जिस से परम पद मिलता है, मेरे भक्तों को सुनावेगा, और मन में ऐसा विश्वास रखेगा, कि मैं गीता सुनाकर परमात्मा और परम गुरु की सेवा करताहुं, वह मेरे पास पहुंच जायगा यानी उसकी मोक्ष हो जायगी जो गीता का उपदेश करना अथवा स्वयं पढ़ने वाला मुझे पृथ्वी पर सब से प्यारा है।

(मू०) अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं सम्वाद मावयोः ।
ज्ञानि यज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणु यादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ७१

(३६)

(भा०प०) यह धर्म का सम्वाद जो कोई पढ़ेगा प्रेम से ।
मैं पार्थ ? समझूंगा मुझे, पूजा उसी ने नेम से ।७०॥

तज दोष बुद्धि सप्रेम जो इसको सुनेगा युक्त हो ।
शुभ लोक में पद पुण्य पावेगा परम वह मुक्त हो ७१

अर्थ—जो कोई हमारे तुम्हारे इस पवित्र कथोपकथन को पढेगा वह ज्ञान यज्ञ द्वारा मेरी पूजा करेगा, यह मेरी राय है ॥७०॥

जो मनुष्य जो द्वेष रहित होकर श्रद्धा से गीता सुनता है वह भी मुक्त होकर उन सुखदायी लोकों में जाता है जहां अग्नि होम आदि यज्ञ करने वाले जाते हैं ॥७१॥

अर्जुन से श्री कृष्ण भगवान पूछते हैं कि हे अर्जुन तेरा मोह और शोक से हुआ भ्रम दूर हुआ कि नहीं कहते हैं—

(मू०) कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जयः ॥७२॥

अर्जुनउवाच ।

नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

[४८]

भगवान ने पूछा—

(भा०प०) तुमने सुना यह ध्यान से या चित्त था भ्रमता कहीं।
तम मोह नष्ट हुआ तुम्हारा पार्थ ? या अब भी नहीं ७२

अर्जुन का उत्तर—

तेरी कृपा से स्मृति हुई तम मोह मेरा मिट गया।
जो आप कहते हैं करूंगा मैं वही भ्रम मिट गया ७३

अर्थ—हे अर्जुन ! मैंने तुझे जो उपदेश दिया है वह सुना या नहीं। उस से तेरा अज्ञान से पैदा हुआ भ्रम दूर हुआ कि नहीं ॥७२॥

तब अर्जुन कहने लगा कि हे अच्युत ? आपकी कृपा से मेरा भ्रम दूर होगया है और मुझे ज्ञान होगया है। अब मैं दृढ हूं, मेरे सन्देह नाश होगये हैं। मैं आपकी आज्ञानुसार काम करूंगा ॥७३॥

नोट—आगे संजय कृष्ण भगवान और उन के उपदेश की प्रशंसा धृतराष्ट्र के प्रति करते हैं।

संजय उवाच।

(मू०) इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

[४१]

संजय ने कहा—

(भा०प०) श्री कृष्ण-अर्जुन का सुना सम्वाद मैंने यह यथा ।
अद्‌भुत तथा रोमांचकारी है, सुखद ओ सर्वथा ७४

मैंने सुना यह, व्यास का मुझ पर अनुग्रह है महा ।
यह योग योगेश्वर स्वयं श्री कृष्ण ने मुझसे कहा ७५

अर्थ—हे धृतराष्ट्र ! मैंने भगवान वासुदेव और महात्मा अर्जुन का अद्‌भुत कथोपकथन इस भांति सुना । इसके सुनने से मेरे रोंगे खड़े होगये ॥७४॥

व्यासजी की कृपासे मैंने इस परम गुह्य योग को स्वयं योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण के मुखसे निकलते सुना है ॥७५॥

भावर्थ—व्यासजी से संजय को दिव्य चक्षु मिले थे इसी से वह धृतराष्ट्र के पास बैठा हुआ युद्ध भूमि का सारा हाल देख सका था ।

(मू०) राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्‌भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्‌भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महाराजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

[४२]

(भा०प०) करके स्मरण श्री कृष्ण अर्जुन के सुखद उपदेश का ।
होता बड़ाही हर्ष राजन् ? भय न रहता लेश का ७६

जब जब स्मरण होता मुझे हरिरूप का अद्‌भुत बड़ा ।
होता मुझे है हर्ष राजन् ? और विस्मय भी बड़ा ७७

अर्थ—हे राजन्! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पवित्र कथोपकथन के हर क्षण याद आने से मुझे बारम्बार प्रसन्नता होती है ॥७६॥

और हर क्षण हरि के परम अद्भुत विश्वरूप के याद आने से मुझे बड़ा आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूं ॥७७॥

(मू०) यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

॥ ४३ ॥

(भा०प०) श्री कृष्ण योगेश्वर, धनुर्धर पार्थ ये होंगे जहां ।
है राय मेरी विजय नीति विभूति श्री होगी वहां ॥
यह मोक्ष और संन्यास योग कहे गये दोनों यहां ।
रहता न दुःख लवलेश इसका पाठ होता है जहां ७८

अर्थ—मेरी समझ में जिधर योगेश्वर कृष्ण हैं, और जिधर गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन हैं, उधर ही राज्य लक्ष्मी, उधर ही विजय उधर ही वैभव और उधर ही न्याय है ॥७८॥

भावार्थ—हे राजन ! जिस सेना में योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण हैं उसी सेना की जीत होगी। मेरी समझ में आपके पुत्र दुर्योधन की जीत कदापि न होगी आप जय की आशा छोड दीजिये।

क्योंकि यह एक परम रहस्य का विषय है इसको परम कृपालु श्री कृष्ण भगवान ने अर्जुन को निमित्त करके सभी प्राणियों के हित के लिये कहा है। परन्तु इसके प्रभाव को वेही लोग जान सकते हैं। कि जो भगवान की शरण होकर, श्रद्धा भक्ति सहित इस का अभ्यास करते हैं, इस-

लिये अपना कल्याण चाहने वालों को उचित है कि अज्ञान निद्रा से चेत कर एवं अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ कर श्रद्धा भक्ति सहित सदा इस का श्रवण, मनन और पठन पाठन द्वारा अभ्यास करते हुए भगवान की आज्ञा नुसार साधन में लग जाय ।

क्योंकि जो मनुष्य श्रद्धा से तथा भक्ति सहित इस का मर्म जानने के लिये इस के अन्तर प्रवेश करके सदा इसका मनन करते रहेंगे एवं भगवान की आज्ञानुसार साधन करने में तत्पर रहेंगे उनके अन्तःकरण में नित नये नये सद्भाव उत्पन्न होंगे और वह शुद्धान्तःकरण हुए शीघ्रही परमात्मा को प्राप्त होंगे । ॥ इति शुभम ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर ॥

ॐ तत्सदिति श्री मद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे मोक्ष
सन्यास योगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ।
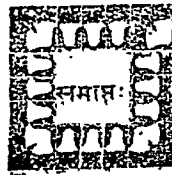
गीता विनय ।

श्री भगवद्गीते ! मोहन मन्त्र सिखादे,
अर्जुन-हृदय शान्ति-कारक आ ! अनुपम प्रभा दिखादे ।
'मृण्मय' जगत जान लें जा विधि, सोई मार्ग दरसादे ॥
श्री भगवद्गीते ! मोहन मन्त्र सिखादे ॥१॥

हृत्तन्त्री के तार हिलाकर, जीवन शंख बजादे ।
विज्ञान-कला-संगीत बनाकर, साहस-साज सजादे ॥
श्री भगवद्गीते ! मोहन मन्त्र सिखादे ॥२॥

मस्त बनाकर सब हठी को बूटी शुद्ध खिलादे ।
द्वेष छुडाकर मोह भगादे अमृत हमें पिलादे ॥
श्री भगवद्गीते ! मोहन मन्त्र सिखादे ॥३॥

वेद विहित शुभ कर्म बताकर बाधा विघ्न भगादे ।
सोई हुई हृदय-कलियें को कौशल मयी ! जगादे ॥
श्री भगवद्गीते ! मोहन मन्त्र सिखादे ॥४॥

त्रिगुण-तिमिर में फिरें भटकते ज्ञान-दीप चमकादे ।
"सत्यदेव" सहसा विद्युत-सम निस्त्रैगुण्य बनादे ॥
श्री भगवद्गीते ! मोहन मन्त्र सिखादे ॥५॥
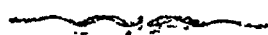
आरती श्री मद्भगवतगीता की ।

आरति श्री भगवद्गीता की ॥ टेक ॥

वासुदेव श्री मुख की बानी, अध्यात्मिक कृतियन की रानी ।
विजय विभूति मुक्ति की दानी, मुद मंगल मय सु-पुनीता की ॥
आरति श्री भगवद्गीता की ॥१॥

महाभारते व्यास विगुम्फित, समराङ्गन में पार्थ प्रबोधित ।
सुर-नर-मुनि सबही सों वन्दित, पाप-पुञ्ज-कुञ्जर चीता की ॥
आरति श्री भगवद्गीता की ॥२॥

मर्म-त्याग को सत्य सुझावनि, दुरित द्वैत दुःख दूरि नसावनि ।
अद्वैतामृतधार बहावनि, भव दशकन्ध सती सीता की ॥
आरति श्री भगवद्गीता की ॥३॥

उपनिषदन को सार सुहावनि, अनासक्त शुभ काज करावनि ।
मन-वच-कर्म सन्त मनभावनि, भगति ज्ञान जुग जग जीता की ॥
आरति श्री भगवद्गीता की ॥४॥

शंकिकर भ्रम-तम-तोम निवारिनि, विमल-विवेक विश्व विस्तारिनि ।
सुमति-सुधर्म-सुराज प्रचारिनि, "सत्यदेव" अनुपम गीता की ॥
आरति श्री भगवद्गीता की ॥५॥

गीता-ज्ञान ।

मोह को मिटाती प्रकटाती आत्मबोध शुद्ध,
भीरुता भगाती युद्ध-वीरता जगाती है ।
त्रास से छुड़ाती अकर्मण्यता से निष्क्रयी को,
कौन तू है, विश्व क्या है ! तथ्य समझाती है ॥
जीवन में विश्व विजयी का है पढ़ाती पाठ,
मरणोपरान्त मोक्ष द्वार दिखलाती है ।
प्यारी योगियों की औ वियोगियों की भोगियों की,
शान्ति-सुख-दात्री एक गीता कहलाती है ॥